

Sheha Devacanda Lalabhai Jaina Pustakoddhara



GAUTAMIYA-KAVYAM

BY

PĀTHAKA RŪPACANDRA GĀNI

WITH

GAUTAMIYA-PRAKĀŚA,

a commentary by Kṣamikalyāṇa Gāṇi

(composed in V. S. 1527-1532)



EDITED BY

MUNI KANAKAVIJAYA

Vikram Era 1996]

[Christian Era 1940

Price 1-8-0

आदिवचन

गौतमीयकाव्य ग्रन्थः

गौतमीयकाव्य नामनो काव्यग्रन्थ विद्वान् जनसमाजनी समक्ष रजू थाय छे. श्रीजैनशासनना चार प्रकारना अनुयोगोमां, धर्म-कथानुयोगना विपयनी साथे द्रव्यानुयोगना विपयनुं प्रतिपादन करवाना कारणे आ काव्यग्रन्थ, श्रीजैनकथित सम्यक् श्रुतज्ञाननी प्राप्तिनुं परम साधन गणी शकाय तेम छे.

सांमान्य रीतिये (१) द्रव्यानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) चरणकरणानुयोग अने (४) धर्मकथानुयोग—आ मुजबना चारे अनुयोगोमां श्रीजैनकथित अंग, उपांग अने प्रकीर्ण श्रुतज्ञान संकल्पयेलुं छे. जो के द्रव्यानुयोग आदि अनुयोगो अमुक हाइये परस्परनी तरतमता अवश्य धरावे छे, छतां ते सधंकाय परस्पर एकमेकनी साथे एक सांकलमां सळंग संकट्टाई रहेला अंकोडाओनी जेम एकांगीभावे जोडाईने रहेला छे. आ अपेक्षाये द्रव्यानुयोग आदि चारे य अनुयोगो, जैनशासनमां मोक्षप्राप्तिना सम्यग् आलंबन तरिके एक सरखी रीतिये उपास्य छे.

श्रीजैनकथित प्रवचनना सारमूल द्वादशांगीरूपं गणिपिटकना अंगसमा द्रव्यानुयोग तेम ज धर्मकथानुयोगना विपयोनुं सुन्दरतर प्रतिपादन आ ग्रन्थमां करवामां आव्युं छे. आ कारणे श्रीजैनकथित-

प्रवचनरसना रसिक, श्रद्धासंपन्न भव्य आत्माओने सारु आ काव्य-
ग्रन्थनुं महत्त्व खूब वधे छे. ग्रन्थरचयिता महापुरुषे काव्यमय
शैलीयी पद्धतिपूर्वक बजे अनुयोगेना विषयोनुं प्रतिपादन आ ग्रन्थमां
कर्युं छे. आथी काव्य के महाकाव्य तरिके प्रस्तुत गौतमीयकाव्य
अनेरी भात पाडे छे.

काव्य के महाकाव्यना सामान्य अभ्यासी या तेमां रस लेनार
सौ कोई सहदयजनने आ ग्रन्थ सुंदरमां सुंदर आलंबनरूप बने
तेबो छे.

आटली बात स्पष्ट छे: काव्य ए शब्दशास्त्रनी व्युत्तिचिन्तुं साधनभूत
चंग छे. च्याकरण, कौश, लिंगानुशासननी जेम काव्य पण शब्द-
शास्त्ररूप गंभीरसागरने पार पामवा माटेनुं सहकारी आलंबन छे.
साहित्यनी साथे पण काव्यने गाढ संबन्ध होवो आवश्यक छे.
आ आवश्यकतानी दृष्टिये, प्रस्तुत काव्यग्रन्थ साहित्यना अलंकार,
रस, गुण वगेरे अंग-प्रत्यंगोनी साथे संविशेष विकासने पामी
शक्यो छे, एम कहेवुं ए यथार्थ छे. माटे ज श्रीगौतमीयकाव्य,
काव्यग्रन्थोमां पोतानुं विशिष्ट स्थान मेळवी शके तेम छे.

भागीरथीना सच्छ जलप्रवाहनी जेम वहेतो प्रतिभाप्रकर्ष;
नैसर्गिक कवित्वशक्ति; अने मनोहर विषयप्रतिपादनशैली;—ग्रन्थ-
कारना आ श्रेणे य विशिष्टगुणोना संगमरूप प्रस्तुत गौतमीय-
काव्य साचे ज साहित्य के काव्यरसना पिपासु वर्गने तोष आपी
शकवाने समर्थ छे. विविध दृन्दो, अलंकारप्रौढ भाषा, अर्धगंभीर-
शब्दो—काव्य के साहित्यना ग्रन्थोनी साथे सहज संकल्पयेली
आ वस्तुओ प्रस्तुत काव्यग्रन्थमांथी आपणने मळी रहे छे.

एकंदरे : प्रस्तुत काव्यग्रन्थ, एक सामान्य काव्य नहि, पण महाकाव्य तरिके, विद्धान वर्गनी समक्ष ओळखावी शक्य तेम छे. आने अंगे अन्थ प्रलक्ष होवाई विशेष विवेचननो अत्र अवकाश जोतो नयी. अन्थना अवलोकनथी आ वस्तु समझी शक्य छे.

‘चरमतीर्थपति थमण भगवान श्रीमहावीर परमात्माए, अपापानगरीना महसेनवनमां इन्द्रभूति आदि अगियार ब्राह्मणोना जीवादि संशयोनुं निराकरण कर्यु’—ए वस्तु प्रस्तुत काव्यग्रन्थनो प्रतिपाद विषय छे. विविध प्रकारना वर्णनोथी; प्रासंगिक अलंकारोथी; अने अनेक रसोना समन्वययी; ए वस्तुने आ अन्थमां वर्णवामां आवी छे. शास्त्रीय परिभाषामां गणधरवाद तरिके ओळखातो विषय अत्र द्वंकमां काव्यकार तरिके विशिष्ट शैली मुजब अन्थकारे आपणां समक्ष मूक्यो छे.

आ वस्तु, विशेषावश्यक भाष्य, छृहतटीका, आवश्यकटीका वगेरेमां खूब विशद् रीतिये स्पष्ट करवामां आवेल छे. प्रस्तुत अन्थमां केवळ दिशासूचन तरिके ज गणधरवादनीं वस्तु रजू थई छे. काव्यना अन्थ तरिके अन्य काव्यअन्थोनी जेम आ मुजब चनवुं ए संभाव्य छे.

अन्थकार पाठकथी रूपचन्द्रगणि :

गौतमीयकाव्यना रचयिता पाठक श्रीरूपचन्द्रगणिवर छे. अन्यकार महापुरुषने अंगेनी विशेष माहिती प्रस्तुत काव्यग्रन्थना प्रशस्तिगत अन्तिम ल्लोको परथी आपणने मळी रहे छे. अन्थकारनो सचाकाल, गच्छ, अन्यरचनाकाल वगेरे विगतो द्वंकमां आ मुजब छे:

‘विद्याचारवर खरतर-गच्छमां, श्रीमत् श्रीजिनलाभस्त्रिना शासन-

काळमां, श्रीदयासिंह गुरु महाराजना शिष्य, अभयसिंह राजवी द्वाराये जेणे प्रतिष्ठा मेल्वी छे अने अहंतशाखना तत्त्वरसिक; बळी साधुसमुदायमां रामविजयना नामयी प्रसिद्ध श्रीरूपचन्द्र गणिए, वि० सं० १८०७ ना मागदारमहिनाना शुद्धपक्षमां त्रीजने दिवसे जोधपुरनगरमां आ काव्यग्रन्थनी रचना करी छे'.

आधी प्रस्तुत ग्रन्थकारनो सचाकाल, विकमना १८मा शत-कनी अन्त्यनो अने १९मा शतकनी शरूआतनो होवो संभवित छे. ग्रन्थकार तरिके श्रीरूपचन्द्रगणिवरनां प्रौढ ग्रथनशक्ति; नैसर्गिक कवित्वगुण; वगेरेना कारणे कल्पी शकाय छे के 'प्रस्तुत ग्रन्थ-कारनी अन्य ग्रन्थकृतिओ होवी जोईए'; आने अगेना विशिष्ट के निश्चयात्मक प्रमाणो आपणने मळी शकतां नयी, जो के प्रस्तुत काव्यना प्रशस्तिना भोको परथी ग्रन्थकार श्रीरूपचन्द्रगणिवरना गच्छ, सचाकाल, ग्रन्थरचनानी देश-कालपरिस्थिति विगेरे सामान्य-रीतिये जाणी शकाय छे. ते सिवाय विशेष ऐतिहासिक वृत्तान्त हजू अनुपलब्ध न रहे छे.

प्रस्तुत ग्रन्थकारना कालनी साहित्य-परिस्थितिने अंगे आधी विशेष कार्डिक जाणवा जेबुं मळे छे, ते 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामना ग्रन्थना संपादक श्रीमोहनलाल दलीचंद देसाईना शब्दोमां आ मुजब छे:

"१९मी सदीमां संस्कृत साहित्यमां चहु ग्रन्थो रचाया नयी,
"जे कार्डि रचाया छे तेनी नोंप लईशुं. सं० १८०४मां ओ० उदय-
"सागरखुरिए यात्रपंचाशिका. सं० १८०५मां खरतरगच्छीय

“क्षेमकीर्तिशाखाना शांतिहर्ष—जिनहर्ष सुखवर्धन अने श्रीदया-
 “सिंह—अंभयसिंहना शिष्य श्रीरूपचंद्र अपरनाम श्रीरामविजये,
 “श्रीजिनलाभसूरिना राज्ये जोधपुरमां रामसिंहना राज्यमां गौतमीय-
 “महाकाव्य ११ सर्गमां (रचेल हे). * * * सं० १८१४ मां
 “उक्त सं० श्रीरामविजयगणिए, श्रीजिनलाभसूरिनी आज्ञाथी
 “गुणमाला-प्रकरण(नी रचना करी)”.

पृ० ६७५—६, पा० ९९३.

व्याख्याकार श्रीक्षमांकल्याणः

मूलकारना गंभीर आशयोने स्वमजावनारी प्रस्तुत काव्यअन्धनी

१ श्रीअभयसिंहना शिष्य तरिकेनो आ निर्देश असंगत हे. गौतमीयकाव्यनी प्रशस्तिमां आ मुजब उल्लेख हे.

‘तच्छिष्याः सुखवर्द्धना अपि दयासिंहास्तर्वीयास्तथा
 ‘तच्छिष्योऽभयसिंहनामनृपतेर्लघप्रतिष्ठो महा-
 ‘गंभीराऽऽहंतशास्त्रतत्त्वरत्निकोऽहं रूपचंद्राद्ययः
 ‘प्रख्यातापरनाभरामविजयो गच्छे स दत्ताख्यया ।’

वढ़ी गुणमाला प्रकरणमां पण आ मुजब स्पष्ट उल्लेख हे:

‘तच्छिष्यविदितदया दयादिरिहास्त्रवाचका विवृधाः
 ‘तच्छरणेणुरजितमौलिर्यं रामविजयाख्यः ।’

आ घडे उल्लेखोद्दी आ वस्तु स्पष्ट याय हे, के श्रीरूपचंद्रपाठक अपरनाम श्रीरामविजयपाठकना गुरुनुं नाम श्रीदयासिंह हे. ज्यारे अभयसिंह, ए राजानुं नाम हे. अने ते राजा द्वाराये प्रस्तुत प्रन्थकारे प्रतिष्ठाने प्राप्त करी हे. आ करणे अत्र प्रस्तुत प्रन्थनी प्रशस्तिमां ते राजाना नामनो निर्देश प्रन्थकारे कर्यो हे.

२ आ गुणमाला प्रस्तुत प्रन्थकार पाठक श्रीरूपचंद्रगणि अपरनाम पाठकप्री रामविजयगणिये जैसलमेरमां आगो गुरुद दशमीना दिवसे रच्युं हे. श्रीपंचपर-भेदीना वेम ज आपक्कनगुणोनुं वर्णन आमा कर्त्यामां आव्युं हे. वि० शं० १९८०० मा भा प्रन्थनुं प्रताक्करे प्रक्षयन थयुं हे, प्रन्थनुं श्वोक्षयमाण आरारे ३०००नुं हे.

व्याख्या, के जे 'गौतमीयप्रकाश'ना नामयी रचायेली छे, ते प्रकाश व्याख्याना रचयिता पाठकश्री क्षमाकल्याणजी गणिवर छे. प्रस्तुत व्याख्यामां व्याख्याकार महापुरुषे अति परिश्रम लईने मूलकारना अर्धगंभीर शब्दोने तेम गूढ भावोने खूब ज सरळ अने मनोरम पद्धतिपूर्वक स्पष्ट करेल छे. साचे ज 'गौतमीय-काव्य'नी व्युत्पत्तिना भार्गमां, आ व्याख्या सुन्दरतर प्रकाशने पाथरे छे. आ कारणे प्रस्तुत व्याख्यानुं 'प्रकाश' ए अभिधान वास्तविक छे.

व्याख्याकारे, मूळ काव्यअन्यना अभ्यासक वर्गना उपकारनी दृष्टिये प्रस्तुत व्याख्यामां, मूलकारना आशयने स्पष्ट करवानी खूब काळजी लीधी छे. साथे मूलश्लोकोना शब्दोने स्फूर्तजाववा माटे, व्याकरणना सूत्रो टामठाम मूकया छे. तेम श्रीअभिधान-चिन्ता-मणि आदि कोशोनी साक्षी पण अवसरे अवसरे टांकी छे. आ प्रकारनी विशिष्टताना योगे प्रस्तुत प्रकाश व्याख्या, काव्यना विषयनुं ज्ञान मेल्यवा इच्छनार अभ्यासक वर्गना; व्याकरण तेम ज कोश बगेरेना ज्ञाननो विकास करे छे. आ रीतिये दरेक दृष्टिये प्रस्तुत व्याख्या, अभ्यासी के विद्वान सौ कोईनुं आकर्षण करी शके तेवी छे, अने व्याख्याकारनी समर्थ विद्वचा; प्रौढ अनुभव-शीलता; तथा अनुपम विवेचनाशक्ति; बगेरे सूचित करे छे.

व्याख्याकार पाठकश्री क्षमाकल्याणजीना सचाकाल बगेरे जीवनवृत्तने अंगे, प्रस्तुत प्रकाश व्याख्यानी प्रशस्तिमां व्याख्याकारे स्वयं करेल उल्लेख पर्याय केटलुंक जाणवा जेवुं आपणने मळी रहे छे. आविषेना विशेष ऐतिहासिक नोंघ, 'जैन साहित्यना संक्षिप्त इतिहास'मां आ मुजव छे:

“आ (१०मा) शतकमां खरतरगच्छना श्रीक्षमाकल्याण उपा-
 “ध्याय थया के जे खरतरगच्छीय श्रीजिनलाभसूरिना शिष्य अमृत-
 “धर्मनां शिष्य हता. तेमणे सं० १८२९थी १८६९ना गाळामां
 “अनेक अन्योना दोहनरूपे सादी मायामां विवरण करेल छे. तेमना
 “अन्थो आ छे: श्रीगौतमीयकाल्य व्याख्या, सं० १८३०मां
 “खरतरगच्छ पट्टावली, सं० १८३५मां चातुर्मासिक—दौलिका आदि

१ जिनलाभसूरिना शिष्य नहि, पण जिनलाभसूरिना युह श्रीजिनभक्ति-
 सूरिना शिष्य प्रीतिसागरना शिष्य अमृतधर्म हता. जुओ उपाध्याय
 क्षमाकल्याणजीनी—‘खहृत खरतरगच्छपट्टावलीप्रशस्ति’—

श्रीजिनभक्तिसूरि

जिनलाभसूरि

प्रीतिसागर

श्रीअमृतधर्म

उपा० क्षमाकल्याण

“श्रीजिनभक्तिसूरीन्द्र-[सु]शिष्या शुद्धिवार्द्धयः ।

प्रीतिसागरनामानस्तच्छिष्या वाच्कोत्तमाः” ॥ २ ॥

“श्रीमन्तोऽमृतधर्माख्यास्तेपां शिष्येण धीमता ।

क्षमाकल्याणमुनिना, शुद्धिसम्पत्तिसिखये” ॥ ३ ॥

“संयत्सरे व्योमकुद्धौ नुसिद्धि-क्षोणीमिते फाल्हुनमासि रम्ये ।
 विशुद्धपक्षे लिखिता नवम्यां, गुरुस्तुतिर्जीर्णगढे नवाऽसौ” ॥ ४ ॥

[१८३०]

खरतरगच्छ-पट्टावली-संप्रह, बाबू पूरणचंद्रजी

नाहरवाली, सने १९३२ नी छारेली पारुं ३९.

“दशपवेकथा, सं० १८३९मां जेसलमेरमां यशोधरचरित,
“१८४७मां मकसुदाचादमां सूक्तमुक्तावलीवृत्ति, सं० १८५०मां
“बीकानेरमां जीवविचार पर वृत्ति”.

“सं० १८५१ प्रक्षोचर सार्धशतक, सं० १८५४मां तर्कसंग्रह
“फक्तिका, सं० १८५०मां जेसलमेरमां अक्षयतृतीया अने पर्युपण
“अष्टाहिंक व्याख्यान, अने ते ज वर्षमां बीकानेरमां मेरुत्रयोदशी
“व्याख्या अने सं० १८६९मां (श्री)श्रीपालचरित्रव्याख्या योजेल
“छे. ते अरसामां योजायेला तेमना अन्य ग्रन्थो नामे परमसमयसार-
“विचारसंग्रह, विचारशतकबीजक, समरादित्यचरित, सूक्तरता-
“वलीवृत्ति आंदि छे”. × × × ×

“भाषासाहित्यमां तेमणे जूनी गूजरातीमां गद्यखण्डे श्रावकविधि-
“प्रकाश नामनो अन्य गुंध्यो छे. ख० श्रीक्षमाकल्याणे सं० १८३८-
“मां पाक्षिकादि पटिकमणविधि गद्यमां संग्रहित करी तथा प्रक्षोचर-
“सार्धशतक मापामां रच्युं”.

पृ० ६७६-८०; पा० ९९४-९९९;

प्रस्तुत संपादन अने प्रकाशनः

आ गौतमीयमहाकाव्य व्याख्यासहित, आजे प्रथम वार ज प्रसिद्ध
आय छे. अत्यार अगाऊ काशीनी पुस्तक प्रकाशन संस्था द्वारा आ
काव्यग्रन्थ केवळ मूलमात्रखण्डे प्रकाशनने पाम्यो हतो, ज्यारे थ्रेष्ठी
देवचंद लालमाई जैन पुस्तकोद्धार फंड संस्था मारफते आ
रीतिये प्रस्तुत काव्यग्रन्थ व्याख्यासहित प्रसिद्धिने पामे छे.

१ नदुपरींत चतुर्पिंशतिजिनचैत्यबंदनो तेमणे सहस्रत भाषामां रच्यां छे, जै
हाँड प्रचलित छे.

कोईपण पुस्तकप्रकाशकसंस्था के व्यक्तिना प्रकाशनकार्यनी साथे, ते ते पुस्तकोना संपादकना संपादनकार्यनो पण संबन्ध संकल्पयेलो रहे छे. प्रस्तुत पुस्तकना प्रकाशनकार्यनी साथे संपादकतरिके संपादनकार्यमां मारो संबन्ध आ मुजब संकल्पयोः—

‘गतसाल (वि० सं० १९९५)नुं अपाढ चातुर्भास, पू० परमगुरुदेवोनी आज्ञा मुजब मुंबई लालबाग—गूलेश्वर साते थयुं, ते अवसरे पूज्यपाद परममाननीय आचार्यदेव श्रीमद् विजयक्षमामद्रस्त्रि महाराजनी हितद सूचनाथी आ पुस्तकना संपादनकार्यमां में मेहनत लीधी’.

आ प्रसंगे एक स्पष्टता करी दडं. संपादनकार्यने अंगेनो मने तेवा प्रकारनो खास अनुभव नयी. आ कारण, आवा अन्धनुं संपादनकार्य मारे माटे आ विषयनी नवी शख्तआत गणी शकाय.

हुं जाणु छुं; कोईपण अन्धनुं संपादन के संशोधन वगेरेलुं कार्य, ए अगत्यनी जुवाबदारी मरेलुं गणाय छे. अति सावधानी; अमुक महेनर्त; अने सर्वतोमुखी बहुशुत्रता वगेरेना झुन्दर सहकारना योगे अन्धनुं संपादनकार्य सफळ अने संतोषपद बनी शके छे. जो के प्रस्तुत काव्यअन्धनुं संपादनकार्य, आ उच्चतर स्थितिए न पहोची शक्युं होय ए संमाव्य छे.

उतां य प्रस्तुत संपादनकार्य, जे विद्वान जनसमाजने संतोषी शके ते रीतिये थयुं छे, तेना आदिकारण तरिके पूजनीय शान्तमूर्ति समर्थ विद्वान आचार्यदेव श्रीमद् विजयक्षमामद्रस्त्रीशरजी महाराज छे. तेओश्रीनो विद्वान अनुभव, ग्रैट प्रतिमा अने

सास तकेदारी आ त्रणेयना सुमेले मारा हाथे आ रीतिनुं संपादन-
कार्य थई शक्युं छे.

• मुख्यतयाए आ ग्रन्थना संपादनने अंगे, हस्तलिखित प्रेसकॉपी-
योनो आश्रय लेवायो छे. जे प्रेसकॉपीयो संस्थाना अवैतनीक मंत्री
जीवणचंद्र साकरचंद्र झवेरी द्वाराये मने प्राप्त थई हती ते, तेम
अत्यार अगाड काशीथी प्रकाशित थयेल मूळप्रन्थ पण आना
संशोधननी वेळाये नजर समझ राखवामां आव्यो हतो. आ त्रणे य
प्रतिजो सामान्य रीतिये अर्थ शुद्ध जेवी हती, आ कारणे महेनत
रई, वस्तुतंकलनाने लक्ष्यगत करी यथामति परिमार्जन करवामां
आव्युं छे. आमां ज्यां ज्यां संशय जेवुं लाग्युं, त्यां त्यां कौंस
वगेरे मूकीने अमुक सूचन कयुं छे. काशीना मुद्रित पुस्तकमानी
केटलीक स्वल्पनाओ, संदिग्धताओ वगेरेनो निर्देश अत्र करवामां
आव्यो छे. अवसरे आवश्यक टीप्पणी पण करवामां आवी छे.
केटलीक टीप्पणीओ मूळ प्रतिमां हती ते पण अत्र मूकवामां
आवी छे.

• आ प्रकारना संपादन पछी, श्रेष्ठी देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तको-
द्वार फंड संस्थाद्वारा प्रस्तुत गौतमीय-काव्यप्रन्थ व्याख्यासहित
प्रकाशनने पामे छे. आ प्रकाशननी पाठ्य; श्रेष्ठी दे० ला०
जैन पु० फं० संस्थाना प्राणमूर्त व्यवस्थापक मंत्री झवेरी जीवणचंद्र
साकरचंद्रनी मंगी व्यवस्थाशक्ति, यथाशक्ति आपभोग, अने संस्थाना
प्रकाशनकार्यने आगळ वधारवानी काळजी; आ त्रणे य वस्तुओनो
मेळ कारणमूर्त छे. आ कारणे आ प्रकाशन आ रीतिये विद्वान
उन्नप्रभाव समझ रजू थाय छे.

मारा पूजनीय परमोपकारी परमशासनप्रभावक परमगुरुदेवोना अपेय उपकारने हुं आ अवसरे याद करुं छुं, के जेओनी असीम कृपाद्विना योगे हुं रक्तत्रयीनी आराधना यथाशक्ति करी शकुं छुं. प्रस्तुत संपादनकार्यमां मने पूर्ण हितभावयी मार्गदर्शन आपनार पूजनीय शासनप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजयक्षमाभद्रसूरी-श्वरजी महाराजजीना ए वात्सल्यभावने हुं केम भूली शकुं !

प्रान्ते: प्रेसदोष, प्रुफ्सुधारणानो दोष के अन्य अज्ञानताजन्य स्खलना आ ग्रन्थमाँ रहेवा पासी होय तेनुं परिमार्जन करवापूर्वक विद्वान अने अभ्यासी वर्ग आ काव्यग्रन्थनुं अध्ययन-अध्यापन करी, श्रीजिनकथित श्रुतधर्मनी आराधनामां पोतानुं वीर्य फोरवो अने आत्मकल्याणने साधो ए अभिलापा.

वि० सं० १९९६, श्रावण शुक्ला पूर्णिमा. जैनशाळा-टेकरी, स्थंभनतीर्थ.[खंसात]	पू० परमशासनप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजयरामचन्द्रसूरि—विनेयाणु मुनि कनकविजय
---	--

शेठ देवचंद लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फँडना कार्यकरो

द्रस्टीमंडल

- (१) मंछुभाई साकरचंद झवेरी
- (२) नेमचंद अमेचंद जे. पी.
- (३) नेमचंद गुलाबचंद देवचंद
- (४) हीरामाई मंछुभाई झवेरी
- (५) साकरचंद सुशालचंद झवेरी

अवैतनिक मंत्री

जीवणचंद साकरचंद झवेरी.

—ः प्र स्ता व ना :-

मन्याम्भोरहवीघने दिनकरस्तिशत्समा भूतले
 मोहाज्ञानतमोभरं विषट्यन् यो धर्मराज्यं व्यग्रात् ॥
 यथाहाय निनाय जनुनिकरं सर्गापर्वर्गालयं
 स श्रीवीरजिनेश्वरो भवतु वै सहस्र हि व्रेयसे ॥

—मारतीय-साहित्यम्—

प्रकृतकाव्यविपये प्राचाविकं किञ्चिद्यावनिवेदयामि ततः पूर्वं
 मारतीयसाहित्यस्य सरूपाऽनिवेदने न किल प्रकृतसंदर्भयुद्धिर्भवेदिति
 साहित्यसास्त्र सरूपमन्यतो निवेदयामि —

भारतीय किल साहित्यं विश्वसाहित्यम् । असाद्वि साहित्यात्म-
 द्वारद्वर्वतिष्वपि देशेषु — अन्यान्यभाषामयानि साहित्यानि कुत्रचि-
 जननमवापुः, कुत्रचिचात्मनः संस्कारमकार्पुः । दृष्टान्तल्लेण
 गृह्णताम् — आर्यावर्त एवाविर्भूताद् वौदसंप्रदायात् कास्मिंश्चन समये
 ते ते ग्रन्थाः प्रादुर्भूताः, यैर्हि न केवलं भारतवर्ये एव अपि तु
 समुद्रपरपारवर्तिष्वपि देशेषु लोकानां हृदये स्त्रीयः प्रमावः प्रतिष्ठा-
 पितः । येषां प्रमावेणानुप्राणिताः सिंहल-ब्रह्म-चीन-जयप्राणदेवीया
 वौद्वाः प्रत्यक्षमेव नः प्रमाणम् ।

न केवलमेतावदेव, मारतीयसारखतभाषणारसालौकिकरत्व-
 च्छट्या प्रलोभितहृदया निर्निमिपीकृतनेत्रद्वयाद्य अन्यान्यदेशीया
 विद्वांसः सुमहता परिश्रमेण भारतवर्ये समागत्य तांस्त्रान् अन्यान्
 लिलिखुः । अत्रत्येभ्यः पण्डितेभ्यश्च पठित्वा स्वस्वभाषायां तान् अन्या-

नन्ववादिषुः । सुप्रसिद्धं किल चीनदेशीययात्रिणां ह्युएन्त्सांग-^१इत्सांग-
प्रभृतीनां भारतयात्रावर्णनम्, यत्र हि ते समागत्य भारतीयं साहित्यं
महता गैरवेण स्वभाषायां निन्युः । एतदर्थं कियान् परिश्रमः
सोढस्तैः, कियती दूरयात्रा चाऽनुभूता, कियन्तः पण्डिताश्च
स्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थसुपासितास्तैः, इत्याद्यध्यवसायक्तेपां यात्रावर्णने
सुस्पष्ट एवैतिहासिकानाम् । फलमिदं तस्य संपन्नम् — आर्यवर्ताद्
बौद्धसाहित्ये विलयं गतेऽपि तत्संबन्धिनो बहवो अन्याश्चीनभाष-
याऽनुदिताः सांप्रतं चीनदेशो समुपलभ्यन्ते । नैतत् किल भारतीयानां
स्वसाहित्यकीर्तिं कीर्तनं स्वमुखजल्पितम्, अपि तु इदं युगस्य सुप्र-
थिताः प्रामाणिकाः साहित्यानुरागिणः पाश्चात्यदेशीया एव तचेषु
साहित्यविवरणपुस्तकेषु इदं सडिण्डिमघोपमुद्घोपयन्ति । एवं
सति भारतीयसाहित्येन चीनसाहित्यस्य कस्यचिदंशस्य जननं संपादि-
तमिति न किं वकुं शक्यते ? सत्येवं च भारतीयं साहित्यं
विश्वसाहित्यमिति न किं साधयितुं प्रभवेम ?

पाश्चात्यदेशीयैरसत्साहित्यादर्शनशास्त्राणां न्याय(तर्क)शास्त्रस्य
ज्यौतिषादिविषयाणां च स्वभाषायां वर्तमानसमय एव समावेशः
हृतो यं हि सांप्रतिका उभयमायाविद्वांसः प्रत्यक्षं परिजानते ।
चत्वारिंशद्व्याप्तेभ्यः पूर्वं तर्कादिविषयपाठनाय नासन् समुचिताः
समपेक्षिताश्च अन्या इंग्लिशभाषायाम्, परं सांप्रतं ‘लॉजिक्’
(Logic) विषयस्य पाठ्यक्रमः (Course) सत्यद्व्याप्तेण नियमित-

1 Cf. "Yuan Chwang's Travels in India" by Hsuan Tsang. and also the Records of Buddhist Practices in India by I-tsang.

चैरात्मभाषायाम् । किं नेदं भारतीयसाहित्यादपरसाहित्यस्य संस्करणं नाम? अपि च—समुद्रपरपारवर्तिषु देशोपु अलत्ता-हित्योपजीवनेऽपि किं भारतीयं साहित्यं विश्वसाहित्यगिति नाला-भिर्विषु इत्यथे?

—जैनसंप्रदायः, तत्साहित्यं च—

कारणमसेदमेव—यदत्र साहित्यप्रचारका महापुरुषस्तथा प्रभावशालिनः समभूतन् येषामनुभावात् साहित्यमेव किम्, समग्रो देश एव सर्वतः प्रभावाकान्तः समभवत् । सकलजगति श्रेयःप्रचाराय परितो धोपितिडिण्डिमो हि वैनसंप्रदाय एव गृह्यताम् । अत्र हि तचाद्या महापुरुषाः प्रादुरासन् येषामुपदेशाश्वरितानि च जनताया हृदये मद्रसेव प्रभावसुत्पादयामातुः । येन किल गन्तीयिणा पञ्चपात्र-इत्यन्य तेषामुपदेशः अद्वयाऽशद्वया चा परिगृहीतस्ते वलादिव द्विनुगामिनो वभूतुः, अद्वानेन च वान् नियमाद् सीचकुः । प्रार्थावर्तस्य कोणकोणे आर्हतसंप्रदायस्य विजयदुन्दुभिः कर्सिश्वन विले यत्समन्वान्मुखरितो वभूत तस्य किं नायं स्पष्टो हेतुर्यत्यस्य गर्मस्य साहित्ये गाद्यशी शक्तिरासीत्, यत् मार्मिकत्रनवाया हृदये ग्रन्थुण्णं प्रभावं प्रस्फुटसुत्पादयामास? अवद्यं श्रोतुर्हृदयवशीकारे उपदेशकस्य आध्यात्मिकं वलम्, चारित्यसंपत्, सत्यं अद्वानं वेत्यादिकं कारणम्, किंतु एवंविधैर्महापुरुषैः प्रचारितं साहित्यमपि गाद्यमेव प्रभावशालि भवति यस्य हि हृदयतो मनते कृते मनन-कर्तुरन्तःकरणे अवद्यं स्तु अद्वानसोदयो मवेत् ।

जैनघर्मेण अद्वानानां शिवप्राप्तये ते ते ग्रन्थास्ते ते उपदेशाद्यानि गानि साधनानि च संपादितानि येषां प्रमात्रो न केवलं भारते एव,

अपि तु भारतदूरवर्तिदेशोप्वपि कदाचित्सैरं प्राचरत् । देश-काल-
शासकादिमहिन्ना सांप्रतं यद्यपि विपरीता परिस्थितिस्थापि
मारतेऽस्मिन् अन्यान्यधर्मापेक्षया जैनधर्मस्य कियान् प्रसारः, कियदृ
गौरवम्, तदनुयायिषु च कियत् श्रद्धानभिति न वर्णनविस्तरमर्हति ।
स्थूलरूपेणैव गृह्णताम् — यद् व्यावहारिककार्यक्षेत्रेष्वेव जैनधर्मानु-
यायिनां कियान् भागः कीदृशश्च प्रभावो नाम ।

अस्तु, कारणमेतस्य प्रभावशालिनः साहित्यस्य प्रचारणमेव
सर्वोपरिगम् । यस्य हि धर्मस्य सिद्धान्तो निर्दुष्टो वरीवर्ति, साहित्यं
सुदृढं प्रभावसंपन्नं च भवति, स एव धर्मः प्रसरति, लोकेषु श्रद्धानं
च लमते, चिरकालं च लोकालये विहरति । जैनसाहित्ये त इमे
गुणाः सुस्पष्टं प्रभाणिता भवन्ति । एतदर्थं न प्रभाणान्वेषणस्य
परिश्रमः सोढव्यो भवेत् । प्रत्यक्षमिदमेव प्रभाणमस्ति यदसङ्गेषु
वर्षेषु व्यतीतेषु, तत्प्रचारकेषु शासकेषु नष्टेषु, प्रख्युत विपरीत-
धर्मानुयायिषु शासकेषु वर्तमानेषु, किं देशो किं काले पात्रे सर्वत्रैव
विपरीतपरिस्थितावुपस्थितायामपि सांप्रतं जैनधर्मः सैरं विहरति,
मोदते अन्यान्यधर्मापेक्षया बहुलं बलशाली च । किं नास्य कारण-
मिदम्, यदेतस्य साहित्यं प्रचुरं प्रभावशालीति? शासन-
सचायां दुष्टायामपि यत्कस्यचिन्मतस्य परितः प्रचारो दृश्यते तत्र
तदीयं साहित्यमेव कारणमूलम् । साहित्यं हि व्यतीतेष्वव्यनन्तवर्षेषु
अक्षुण्णबलमिव सर्वतः सप्रभावं प्रसारयति ।

— जैन का व्यानि —

साहित्यपदेन 'लिटरेचर' (Literature) पदवाच्यं तदीयं वाच्य-
म् (लेखसंहारः, अन्यसमूहो वा) गृह्णते । साहित्ये च यथा

नियमग्रन्थाः पुराणानि सूत्रग्रन्थसङ्घातो न्यायव्याकरणादिप्रमाण-
ग्रन्थाश्च परिगृह्यन्ते तथा काव्यान्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति । मर्मविचारे
तु — प्रधानं स्थानमधिकुर्वन्ति । लोकानुरज्जको रमणीयोऽर्थः, तदनु-
कूलाः कर्णसुखदाः शब्दाश्चेत्येतसङ्घातात्मकं हि काव्यं प्रल्यायते ।
काव्यं हि स्थानाधुर्येण विद्रोहिणमपि जनमात्मवशे करोति । स्थित-
मपि हृदयं प्रसादयति, प्रतिकूलमप्यनुकूलमापादयति । धर्मस्य
तत्सिद्धान्तानां च प्रचारे कठिनकठिनाः प्रमाणग्रन्था वादग्रन्थाश्च
केदाचिन्न प्रभवन्ति । तेषां हि शक्तिसङ्घात्मकं शालिषु विद्व-
त्सेव परिजूम्भते । विद्वांसश्च सखमते द्वांग्रहशालिनो भवन्ति ।
अत एव तेषां पुरतः सधर्मविवादस्योपस्थापनेन न तावत्
फलमीक्ष्यते ।

ये तु सामान्यबोधशालिनो भवन्ति, येषां च हृदयं जिज्ञासा-
परवशं भवति, ज्ञानपिपासा च येषां हृदये जागर्ति, कसिन्नपि
विषये येषां तंशयो ह्युदेति, कमपि विषयं ज्ञातुं कौतुकं वा येषां
भवति ते हि मार्मिकरूपेण बोधिताः सत्यः प्रभावशाली च भवति तर्हि
सर्वदाऽर्थं ते तदनुयायिनोऽपि भवन्ति । एवंविधानामधिंकारिणा
बोधाय ‘काव्यम्’ एव सर्वतो लब्धसाफल्यम् । क्लिष्टम् अमनोनीत-
मपि गुडजिन्हिकारूपेण ग्रहीतुमेव काव्यस्य जन्म । काव्यं हि
ओरुहृदयम् अनुरज्जनपूर्वकं सवशे कृत्वा ततस्तदनन्तरं सौपदेशः
तस्मिन् संचारयति । एतदेव प्रमेयानामभिमुखीकरणं नाम ।
अस्तु नाम नायं विषयो विस्तरमहंति ।

जैनसंप्रदायस्य साहित्यांशः, तत्रापि च काव्यविभागो न कस्य-

चिदपि संप्रदायस्य साहित्याङ्गूलतां सृष्टति, जैनविद्वद्विरनेकानि
गद्य-पद्यकाव्यानि प्रकटितान्यद्यावधि येषां हि प्रभावच्छङ्गा न
केवलं जैनधर्मानुयायिन एव, अपि तु अन्यान्यधर्मग्राहिला अपि
काव्यमाधुर्यमुख्यास्तेषु सप्रशंसं प्रवर्तमाना दृश्यन्ते । प्रत्यक्षं प्रमाणमि-
दमेव यत् शैव-वैष्णवधर्मग्रहिभिरपि विद्वद्विरात्मपुस्तकमालासु जैन-
काव्यानि परमादरेण संगृहीतानि, यद्यपि जैनपुस्तकमालासु शैवादीनां
काव्यानि न कदाचित्स्पृष्टानि । मुंबद्यां निर्णयसागरयद्वालयेन
बहोः कालात्पूर्वं या ‘काव्यमाला’ नामी अन्यमाला (Series)
प्रकाशिता यस्या हि प्रारंभको महामहोपाध्यायः पं. श्रीदुर्गाप्रसाद-
शर्माऽभूत् । एतस्याश्च पुस्तकमालायाः संस्कृतसाहित्योपरि अनपाकर-
णीयमृणम् । यतो हि काव्यमालायां तचाद्यानि पुस्तकानि प्रकाशि-
तानि यैर्विना संस्कृतसाहित्यमन्दिरस्य भूयानंशः शून्य एवासीत् ।
काव्यमालाप्रकाशनात् पूर्वं प्रायः पञ्च महाकाव्यान्येव विद्वांसो
जानन्ति स्म । किन्त्वनया पुस्तकमालया अलङ्कार-नाड्य-नाटक-
काव्यादीनां ते ते अन्थाः प्रकाशिता यान् दृष्ट्वा समग्रं साहित्यजगत्
चमत्कृतमभूत्, यैश्च संस्कृतसाहित्यमिदं वास्तव एव शोभाशालि
संवृत्तम् ।

एतस्याः काव्यमालाया भूयानंशो जैनविदुषां लेखनीप्रसूतः ।
श्रीतीर्थद्वरचरितानि चन्द्रप्रभचरित—नेमिदूत—नेमिनिर्वाणादिका-
न्यनेकानि यथा प्रकटितानि तथा धर्मशर्माभ्युदयादीन्यपि प्रकाशं
नीतानि । साक्षात्स्तोत्रग्रन्थानां श्रीभक्तामरस्तोत्रादीनां तु मालैव
पृथगेका प्रकाशिता येषां कृते तस्या एको ‘गुच्छकः’ एव पृथग्
निगुण्यनीयोऽभवत् । एवमेव गद्यकाव्यानि यशस्विलक्चम्पू—तिलक-

मङ्गरीप्रगृतीन्यपि काव्यमालायां प्रकाशितानि जैनपण्डितानां सारस्तवैभवसूचकानि । एमिः काव्यैर्लोकानुरज्जनपूर्वकं धर्मश्रद्धानप्रचारस्य जैनसिद्धान्तप्रकाशनस्य च कार्यं किमार्यावर्ते न कृतम् ? ग्रन्थं प्रमाणमिदमेव — यत् काव्यमाला विना जैनकाव्यैरपूर्णैवामविष्यत् । अद्यापि च तत्रेषां काव्यानां प्रशंसका अन्यान्यपर्मनिष्ठा अपि काव्यमालावाचका विद्वांसो यहुशः श्रूयन्ते । इदमेव हि काव्यनिर्माणस्य मन्ये साफल्यं नाम ।

— श्री गौतमी य काव्य म् —

प्रकृतमिदं काव्यमनेनैवोद्देश्येन जैनसारस्तभाण्डागारे रक्षमिव चमत्कुरुते । जैनसंप्रदायं प्रति प्रमेयानुमुखीकर्तुम्, अहिंसा-दयान्तानुगमिनां श्रद्धानं दृढीकर्तुमेव च कविगगनचन्द्रेण श्रीमता पाठकेन रूपचन्द्रेण तदिदं काव्यमुपनिवद्दम् । नामतस्तदिदं काव्यम्, किंतु जैनसंप्रदायरहस्यबोधने प्रमाणग्रन्था वादग्रन्था वा यावत्प्रमवन्ति ततोऽप्यधिकमिदं तनुशरीरं महाकाव्यं सिद्धान्तबोधने सम्यक् प्रभवति । अत एवैतदर्थं कृते अमोघं साधनम्, वाचकलोकानाममिमुखीकरणाय सफलमुपकरणम्, आहृतमतप्रचारणाय च सर्वतः प्रमावशालि शक्तं नाम ।

एतस्मिन्, हि श्रोतृणां मनोरज्जनाय पूर्वमुपवनशोभावण्णनम्, पद्मतुवर्णनम्, समवसरणमुपमावर्णनम्, एतदादिका विषयाः प्रगुण्डिताः कविना । तदनन्तरं तु साक्षादुद्देश्यमेव (अर्थात् जैनसिद्धान्तवर्णनम्) उपकान्तं भवति । काव्यगगनरवेः श्रीसूपनन्दकवेः कवितानिगुण्डनपाटवं तथा विद्यते येन हि

क्षिणोऽपि विपयो नीरसोऽपि च वर्णो लोकानां हृदयार्बजनक्षमो
भवति । कस्यचन संप्रदायस्य प्रमेयवर्णेन सिद्धान्तपरिस्थापनं वा न
किल मनोरञ्जककथेव लोकानां हृदयहरणे प्रभवेदिति जानन्ति
सर्वेऽपि । किंतु श्रीमतो रूपचन्द्रगणेः कवितानैपुण्येन शुष्कापि
सेयं सिद्धान्तवर्णेनाऽरमटी तथा संबृत्ता यथा मनोयोगेन वाचयि-
तुरन्तःकरणमवश्यं तदनुगमि भवति । अयमेव कवेः कवितायाश्च
प्रमादो नाम । एतेनैव हि काव्यस्य साफल्यं परीक्षितं भवति ।
प्रमेयानामुपदेशायैव हि काव्यानामुत्पतिः । यत उक्तम् — “काव्यं
यशसेऽर्थकृते व्यवहारं विदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये
कान्तासंमिततयोपदेशयुजे” इति । ततश्च श्रोतारो मनोरञ्जनपूर्वकं
वक्तव्यविपयानुगमिनश्चेत् संपद्यन्ते तर्हि सुस्पष्टमिदं सफलं
काव्यं नाम ।

- काव्यस्य वर्णनाशैली -

ऋतु-उपवनादिवर्णने तु कवेर्मधुरा रचनाऽस्त्येव, परं सिद्धान्त-
तत्त्वबोधनेऽपि सैव कवेः शैली एकान्तभावेन प्रचलतीति महदेव
गौरवं कवयितुः । दृश्यताम् — गौतमस्य (इन्द्रभूतेः) संशयनिवा-
रणपूर्वकं चारित्रपवेशाय यदिदं भगवतः प्रकथनमुपनिवद्धं तस्य
प्रारम्भे, —

“यददृं संशयच्छेदी सर्वज्ञं मां प्रतीहि तत् ।”

इत्यारम्य (पृ० १४०, श्ल० १४) सप्तमसर्गस्यान्तपर्यन्तमति-
गहनो विपयो वर्णितोऽस्ति । अत्र हि आत्मपदस्य साधनं कृतम् ।
पाश्चात्या वैज्ञानिका आत्मपदार्थं नाऽधुनापि मन्यन्ते । बहवः
किञ्चित् किञ्चिन्मत्यापि न मन्यन्ते एव । बहवस्तु — बुद्धा न योद्दुं

शक्यत इति निरसा भवन्ति । एवंविदगहनस्याप्यात्मविपयस्य
काव्येऽस्मिस्तथा वर्णनम्, आत्मनस्तथा सिद्धिः कृता दरीद्रश्यते यथा
काव्यबोधशक्तिशाली जनो निःसंशयं तचत्त्वबोधने क्षमेत । वीरेण
भागवता गौतमस्य हृदयगतः संशयः स्वमहिन्ना परिज्ञातः । आसीद्
गौतमस्य हृदये वेदवाक्यतत्त्वानवबोधात् संदेहः । तस्म हि स्वगात्मा-
द्वुसारमात्मनः साधनं निःसन्देहतया हृदि स्थिरभवति स ।
यतो हि आत्मज्ञाने न प्रत्यक्षं प्रमाणं भवितुमर्हति । ग्राह कविः —

“प्रत्यक्षेण प्रमाणेन भ्रमीतुं नैव शक्यते ।

इन्द्रियप्राण्यताभावाचसाक्षात्कि खपुण्यवत् ॥ १८”

एवमनुमानमपि तत्र न प्रमाणं प्रभवति । यथा —

“कृशानोर्धूमवलिङ्गं किमप्यस्य न लभ्यते ।

यत्संबन्धेन जीयोऽयमद्देष्टोऽप्यनुमीयते ॥ १९”

अनुमानं हि लिङ्गेन (हेतुना) लिङ्गिनः (साध्यस्य) संबन्धे
सति (यथा धूमस्य यद्दिना सह कार्यकारणभावसंबन्धे सति)
सिद्धति । यथा आत्मनः किञ्चिलिङ्गं न दृश्यते येनाऽनुमानं भवेत् ।

ननु चेतना आत्मनो लिङ्गम् । न हि आत्मानं विना चैतन्यमव-
तिष्ठते । अत एव चैतन्येन लिङ्गेन आत्मनोऽनुमानं स्यादिति
पूर्वपक्षमपि निरस्यति कविः —

“अस्तु वा चेतना लिङ्गं संबन्धस्त्वनयाऽस्य च ।

प्रत्यक्षो नेत्रितः कापि प्राक्, ततः कानुमेयता ? ॥ २०”

एवंप्रकारेण — अनुमानमुपमानं शब्दादिकं सर्वमपि प्रमाणजात-
भात्मनः साक्षात्कारार्थं निरस्यति श्रीमद्भावीरो मगदान् । किं वहुनाम

शब्दरूपं वेदाख्यं प्रमाणमपि यद् गौतमस्य हृदये जागर्ति स
तदपि भगवता निरस्ते । यथा —

“परस्परविरोधिन्यागमानामपि भारती ।

ब्रह्मस्पतिहिं भूतातिरिक्तं जीवं न मन्यते ॥ २६ ”

(पृ० १४८)

एवं किल आत्मनः साधनाय ये ये उपायाः प्रसिद्धा आसंस्ते
सर्वेऽपि निरस्ता तत्रभगवता वीरभगवता । समाधानाय अप्रभवन्
महाविद्वानपि गौतमश्चित्रीयते स, —

“श्रुत्वेति भगवद्वाक्यं गौतमोऽन्तश्चमल्लतः ।

अहो ! सर्वज्ञ एषोऽस्तु दध्याविति विशुद्धीः ॥ ३६ ”

(पृ० १५३)

एवं प्रमाणवले गर्वितस्यापि गौतमस्य सर्वमपि ज्ञानबलं निरस्त्वा
स्त्वयुक्तिभिरात्मपदार्थस्य साधनं शिक्षयति श्रीवीरो भगवान् —

“मुखदुःखे स्वसंवेदे प्रत्यक्षे भवतो यदि ।

शृणु गौतम ! संदेहविज्ञानं किं तथा न हि ॥ ४१

विज्ञानमय एवं हि प्रत्यक्षो जीव इत्यते ।

प्रमाणान्तरसाध्यत्वमसत्यसिन् विचार्यते ॥ ४२ ”

(पृ० १५५)

अर्थात् तव मुखदुःखे स्वैरैव संवेदे, ततश्च प्रत्यक्षज्ञानविषये ।
एवं तव हृदये संशयोऽपि जागत्येव, यतो हि संशयवशादेव त्वं
च्यामुद्यसि । एवं च मुखदुःखानुभवस्य सीकारे, संशयज्ञानस्य
चाम्रीकारे सिद्ध एवात्मा । यतो द्वात्मानं द्विना नानुभवः, न

चाज्ञानम् । अत एव विज्ञानमय आत्मा स्पर्शं सिद्धत्वेत्याश्रयः ।
एवमेव —

“ अहंप्रत्यय एकोऽपि क्रियां त्रैकालिकीं सृष्टन् ।

प्रत्यज्ञो दृश्यते, जीवं विनाऽहंप्रत्ययः कुतः ? ॥ ४३

शरीर एव चेदेष प्रत्ययो गृष्णते तदा ।

तद्रूपसे शरीरेऽपि मृतस्य न भवेत्कथम् ॥ ४४ ”

(पृ० १५७)

इत्यादिभिरन्याभिरपि युक्तिभिः आत्मपदार्थस्य साधनं बोधयति
भगवान् श्रीमहावीरः । किं वहुना, ये ये विषया वेदादितोऽपि
गौतमस्य हृदये सम्यग्रूपेण प्रमाणिता नासन् तेऽपि सर्वे गृहनविषया
श्रीवीरेण भगवता तथा बोधिता यथा न केवलं गौतमश्वकित एव,
अपि तु, —

“ इत्थं संशययात्कानि वचनान्यापीय वीरप्रभोः

सर्वज्ञत्वमिहाधिगत्य जगतामीश्वत्वमालोक्य च ।

बाणैश्छात्रवृत्तैरसौ परिवृतो मिथ्यात्वमोहोऽन्तर-

शारिं ग्रविवेद्य सर्वविरर्ति तीर्थप्रणीर्गांत्रमः ॥ ८१ ”

(पृ० १७९)

एवमेव गौतमस्य (इन्द्रमूतेः) आत्मुः अमिमूतेरपि मनोगतं
संशयादिकं ज्ञात्वा तं तयोपदिद्यति यथा सोऽपि एतत्वमावाच्छन्नो
मवति । अस्मिन् प्रकरणे कर्मण एव सर्वेतः प्रमुखं समर्थितम् ।
तदपि तथा युक्तिभिर्यथा ताः समधिगत्या मवेतुः —

“ साधनेऽप्यहं समेषु विशेषो यः फलेऽस्ति स च कारणयोगात् ।
गौरवन्युपु समेषु य एकः इयामलः स विषयमाश्रयनहेतोः ॥ १५ ”

(पृ० १८७)

अयमपि तथोपदिष्टो मवति यथाऽन्ते —

“खण्डकैः सह शिवोचितमार्गे सोऽग्निभूतिरपि दीक्षित आसीद् ॥”

एवमनयोर्प्रात्रोर्लघुवन्धुर्वायुभूतिरपि देह-जीवयोर्भेदं रोचकयुक्ति-
भिरुपदिष्टः । यथा हि —

“ यस्मुराङ्गसमवायंसमुत्था

क्षीवता न परतोऽश्वति किञ्चित् ॥

चेतना शिति-जला-ऽनलवायु-

व्यूहजेयमिति चेतसि वेत्सि ॥ ३४” (पृ० १९८) .

इति शङ्कायाम्, —

“या च शक्तिरसती प्रतिवस्तु सा कुतः समुदये समुदेति ।

चेदिदं न, सिकतासमवाये किं न तैलजननं जगतीष्टम् ॥ ३६”

(पृ० १९९)

इत्युचरमाह । अर्थात् यदेकस्मिन् वस्तुनि असती अपि चेतना
चस्तुसमुदये स्वतः समुदेति तर्हि सिकताया एकैककणे असदपि
तैलं सिकतासमुदये कुतो नोत्यधेत् । अतो देहे भूतसमुदयजा
चेतना नास्तीत्याशयः ।

एतदनन्तरं व्यक्ताचार्य-सुधर्मोपाध्यायमण्डितस्वामि-मौर्यपुत्र-अक-
म्पितोपाध्याय-अचलश्रातृ-मैतार्यादयो विभिन्नसंपदाये लब्धप्रतिष्ठाः
सुमहान्तो विद्वांसोऽपि तथोपदिष्टा यथा ते भक्तिपूर्वकं जैनागम-
दीक्षां जगृहुः, ये भगवदनुमहेण गणनाथाः सन्तश्चतुर्विधसङ्कु प्रति-
मोपयन्तो सुक्तिपदं प्रापयामासुः । एतेपासुपदेशमसङ्गेन देवाना-
मस्तित्वं, नारकादिसत्ता, धर्माऽधर्मव्यवस्थादिकं च तथा स्कीतामि-

रूपपचिभिः प्रतिपादितं यथा साधारणव्युत्पचिशाल्यपि जनो गूढानपि
विषयानिमानज्ञसाऽवबुद्ध्येत् ।

कविसुकुटमाणिक्यचन्द्रेण श्रीरूपचन्द्रेण इतिहासोऽर्थं तथा
महत्त्वशालिन्या पद्धत्या प्रगुम्फितो यथा विरुद्धविचारशालिनोऽपि
जनस्य जैनागमं प्रति महत्त्ववुद्धिरुद्धयेत् । यतो हि गौतमो महा-
विद्वान् वेद-वेदाङ्ग-द्वासप्तिकलादिसमग्रज्ञातव्यानां पारंगम आसीत्,
यथ शिशुत्वे क्रीडाऽऽसक्तोऽपि शब्दशाखवेदिनां मूर्द्धमणिरमूर्त् ।
उक्तं हि —

“पुरःसरोऽसौ पदवांक्यवेदिना-

मभूच्छिशुत्वेऽपि ललन् स्वलीलया ॥

ततो द्वयोर्गीर्णपतिसर्पराजयो-

रयं तृतीयो मुवि पूज्यतापदे ॥ १५ ”

(पृ० ८०)

यो वेदोक्तकर्मकलापे जन्मतः शब्दशाली सुनिषुणश्चासीत् ,
यस्य द्वैतादृश्यलौकिकी शक्तिरासीत् सोऽपि महाप्रभावो गौतमो
वीरजिनेश्वरस्य वचनामृतेन आज्ञमाऽभ्यर्थं मार्गं परित्यज्य
जैनागमे दीक्षितो बमूल । ततः सांपत्तिकविद्वन्मानिनां तु जैनमत-
खण्डनाय को वा दम्भः स्यात् ?

एवं किल जैनागमविजयडिप्पिंडमं सर्वेनुः प्रचारयन् महाकाव्य-
मिदं यथा धर्मतत्त्वबोधनायाऽलम् , तथा श्रद्धानदीकरणायापि
पर्याप्तम् । विचार्यतामिदानीमस्य काव्यस्य साफल्यं गार्भिकैः ।
काव्यं हि शिद्वाणीयान् स्वाभिमुखीकृत्य स्वाभिप्रेतमुपदेशविषयं तेषु

प्रचारयत्येव काव्यनिर्माणस्य मुख्यमुद्देश्यम् । तदिदमुद्देश्यं सुस्फुट-
मेव पूरितम्, यतो हि जैनागमस्य तात्त्विकमुपदेशं शुल्का वैदिका-
दिमागेषु सुद्धाः, सर्वतः प्रसिद्धपाण्डित्या अपि महाविद्वांसोऽन्न
श्रद्धाशालिनः संपद्यन्ते । एवंविध एव प्रभावस्तीर्थक्लरमहिन्ना
प्रचारितः, अयमेवातिशयो महावीरादिवाणीनामिति सुदृष्टमुपदेशः
काव्येनानेन वाचयतां हृदये हृदीक्रियते । अनेनोपदेशेनाभिमुखी-
मृतेषु प्रमेयेषु किं न साफल्यं महाकाव्यस्याऽस्य ?

तदिदम् पाठकश्रीक्षमाकल्याणगणिकृत ‘गौतमीयप्रकाशस्य’-
व्याख्यासहितं श्रावकानां ज्ञानदीकरणाय संप्रति महता परिश्रमेण
प्रकाश्यते । टीकेयमतिविशदा, अतिसरलपद्धत्या सान्वयं व्याख्यान-
मुपस्थापयति । लोकप्रसिद्धस्य पाणिनीयव्याकरणस्यानुसारेण च सर्वत्र
शब्दसाधुत्वं वोधयति । सांप्रदायिकमावश्यकं तत्त्वमपि स्थाने स्थाने
सेर्यं सुरुचिरया सरण्योपदिशति । स्थले स्थले श्रीहेमचन्द्रसूरीणां
विशेषावश्यकवृत्त्यादीनां चोद्धरणान्यपि टीकायामस्यां दचानि ।

काव्यमिदं कस्मिन् स्थाने कदा निर्मितम्, कथायं कविरवी
रूपचन्द्रकविरित्यादिकं विवरणं नाहमत्रोऽलिखामि । अन्ये एव

“संवच्छैल-वियद्धजोमुप(१८०७)मिते मासे सहस्याऽऽदिमे
पश्च दक्षमुताधिनाथदिवसे शुद्धे तृतीयातिथौ ।

श्रीमघोषपुरे कमध्वजरवौ श्रीरामसिंहे नृपे

श्रीमच्छ्रीजिनलाभसूरिगणभृदाज्ये पुनर्द्वार्मिके ॥ १

विद्याचारवे गणे स्वरतरे श्रीक्षेमकीर्त्यऽन्वये

सज्जाता भुवि शान्तिहर्षगणयः श्रीवाचकाश्याभृतः ।

तच्छिष्या जिनहर्पनाममुनयो वैरङ्गिकाग्रेसरा-

सुच्छिष्याः सुखवर्द्धना अपि दयासिंहास्तदीयास्तथा ॥ २

तच्छिष्योऽभयसिंहनामनृपतेर्लब्धप्रतिष्ठो महा-

गम्भीराऽहंतशास्तत्त्वरसिकोऽहं रूपचन्द्राह्वयः ।

प्रस्थाताऽपरनामरामविजयो गच्छे स दत्ताह्वया

काव्येऽकार्पमिमं कवित्वकलया श्रीगौतमीये अपम् ॥ ३”

(पृ० २८८) इत्यादिभिः स्पष्टरूपेण दत्तम् । एतद्ग्रन्थस्य तत्त्वानु-
शीलनेन मार्मिकजनाः स्वयमेतस्य गुणान् महत्त्वं च परिजानीयुरिति
किं वा वृथाक्षरक्षरणेन ?

सर्वथा जैनागमदीक्षापालकानां शिक्षोपयोगि महाकाव्यमिदं
अद्वाल्जां निश्चितं अद्वावर्धनाय भवेदिति भगवतः संप्राथर्थाहं
विरमामि—

निर्णयसागरसुदण्डाक्षयम्

सुंवद्दे नं. २

१-१-४१

सुधीविधेयः

नारायण राम आचार्यः

“काव्यतीर्थः”

}

श्रीमद्भगवान्धितपार्थनेमिजिनाभ्यां नमः

किञ्चिद्वृत्तव्य

—००५००—

विद्वद्वृन्दमनोज्ञकाव्यतिभिर्यः स्तूयते सर्वेदा,
भूपालप्रतिवोधको गुरुमतिः सिद्धान्तपारम्भी ।
व्याख्यादानविचक्षणः शुभगुणैर्विद्यातकीर्तिः सुधीः,
आनन्दादिघमुनीश्वरं गणपतिं बन्दे महाकानिनम् ॥

शेठ देवचंद लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फंडनो “ अह १० ”
‘यौतमीयमहाकाव्य’ यन्य प्रसिद्ध कववा ‘सिद्धिदलानीकृष्ण’ बडे प्रयत्नवान् थयो हुं.
अन्यकार, टीकाकार तथा कव्यादि संबंधे संशोधक श्रीकनकविजयजीना
आदिवचनमां अने शास्त्रीजी नारायण राम आचार्य “काव्यतीर्थ” नी
प्रस्तावनामां कहेवामां आवेलुं होवाथी विशेष काईं कहेलुं रहेलुं नथी. शास्त्रीजी
काव्यतीर्थ नारायण आचार्य संस्कृतमां विद्वत्ता अने विचारपूर्णे प्रस्तावना लखी
अन्यने समझावामां सुगमता करी आपी होवाथी ए महाशयनो उपकार मानुं हुं.

तपगच्छनी विजयशास्त्रामां सुप्रसिद्ध पंजाब-उद्धारक श्रीविजयानन्द
(आत्मारामजी) सूरीश्वरनी पहेली विजयकमलमूरीय शास्त्रामां श्रीमद्द
दानसूरिना शिष्य विद्यमान आचार्य म० श्रीविजयप्रेमसूरिजीना पट्ठधर श्रीमद्द
विजयरामचन्द्रसूरिना शिष्य बालग्रहन्नचारी श्रीकनकविजयजीवे श्रीमद्द
विजयशमामदसूरिनी प्रेरणाथी आनुं संशोधन करी आयुं हे, वे बदल
एओथीनो अंतःकरणपूर्वक आमार मानुं हुं.

आ पछी प्रसिद्ध यनारा प्रन्थोमां (१) वैराग्यशतक, वैराग्यरसायन, पञ्चनन्दशत
उल्लासिकस्तोत्र, धर्मविश्वाप्रकरणं आदि वैराग्यादि शतको (२) अभिधानज्ञेप,
निषंदृशेप, लिङातुशामन, शब्दमेदप्रकाश, एकाक्षर नाममाला, शिलोऽथ आदि
अने (३) जैनुमारसंभवस्तीक वगेरे प्रेसमां चालु द्ये. तेमज (१) प्रमाण-
नयतस्वलोकालंकर न्यायावतारिका टीका, टिप्पण, पंजिक्य सहित तथा
(२) आवश्यकनिर्युक्ति उपाययनो विचार दृस्तीयो करी रहा द्ये.

सुवैद ता. १३-१-४१ } जीवणचंद साकरचंद जवेरी
सं. १९९७ पाँप शुक्र पूर्णिमा. } अवैतनिक मंशी.

॥ विश्वहितयोधिदायकश्रीगौतमीविजयगुरुभ्यो नमः ॥

अष्टि—देवचन्द्रलालभाई—जैनपुस्तकोदारे—

पाठकश्रीरूपचन्द्रगणिविरचितं

श्रीगौतमीयकाव्यम् ।

श्रीगौतमाकल्पाणगणिकृतगौतमीयप्रकाशाख्यटीक्या सहितम् ।

॥ छौं ह्रीं नमः ॥

॥ धौगवदीपार्थ्वनाथाय नमः ॥

अनन्तविशानमयं विशुद्धं निरुद्धरागादिपरप्रचारम् ॥

जिनैत्तमं धीरमउच्चिन्त्यशर्किं निधाय भरत्या हृदयाब्जकोरो ॥१॥

निराधवोद्दामगुणैकव्यामसमुद्धसद्विद्विधातदस्तम् ॥

गणेश्वराणां गणमुक्तियुक्त्या विद्याय सद्यःस्तुतिगोचरं च ॥ २ ॥

प्रणस्य रस्यं गुरुपादपद्मं सरस्वतीं चाभिनिवेश्य चित्ते ॥

श्रीगौतमीयोत्तमकाव्यवन्धे वितन्यतेऽसौ प्रवरः श्रकाशः ॥ ३ ॥ ६
त्रिभिः संटङ्गः ।

अथ तत्रमवन्तः श्रीमन्तः कवयः पाठकरूपचन्द्रगणयः सत्का-
व्यस्याऽनेकश्रेयःसाधनतां पश्यन्तो निर्दुष्टसकलजनमनश्चमत्कार-
कारि चारु गौतमीयास्त्र्यं महाकाव्यं चिकीर्षवश्चिकीर्षितस्यार्थस्यावि-
क्षपरिसमाप्त्यर्थम्, ‘आशीर्नमस्त्विया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्’
इत्युक्त्वाहन्यादावादीराधन्यतमं मङ्गलमवश्यं कर्तव्यमिति मन्वानाः ॥१२

१ अनेन ज्ञानाविशयः सूचितः । २ अनेनापायापगमाविशयः सूचितः ।

३ अनेन पूजाविशयः । ४ अनेन दत्तनाविशयः ।

श्रीवीरप्रभोरपापापुरीं प्रति या प्रस्तानेच्छा तद्रूपं वस्तु निर्दिशन्तः
प्रबन्धमुपनिवधन्ति ॥

३ तत्रादिमं काव्यमाह—

श्रीविरासीदिव दिव्यदीप्तिर्यसात्मनि ज्ञानमयी समग्रा ।
तीर्थप्रवृत्त्यै स च वीरनाथः प्रस्थातुमैच्छन्नगरीमपापाम् ॥ १ ॥

६ स वीरनाथो वीरप्रभुस्तीर्थस्य चतुर्विधसङ्क्षेप्य प्रवृत्त्यै प्रवृत्तिं करुं,
तीर्थं प्रवर्त्तयितुमिति यावत् । अपापाम् । अपापासंज्ञिकां नगरीं प्रस्थातुं
गन्तुमैच्छत्—वाच्छति स । यचदोर्नित्याभिसम्बन्धात् स क इत्यत

९ आह—यसेत्यादि । यस वीरप्रभोरात्मनि चेतने समग्राऽखण्डिता
ज्ञानमयी निखिलधनघातिकर्ममण्डलविपक्षपक्षयसमुद्भूतकेवलज्ञान-
स्वरूपा श्रीर्लङ्घीरविरासीत्—प्रादुरमृत् । श्रीः केव १ दिव्यदीप्तिरिव

१२ अद्भुतं ज्योतिरिव, यथा भगवत् एव अन्यस्य वा कस्यापि उत्तम-
सात्मनि दिव्यदीप्तिः प्रादुर्भवति तथेयमपीति भावः । केवलश्रियो हि
लोकालोकप्रकाशकत्वादिव्यदीप्यौपम्यम् ॥ आविरासीदिति ।

१५ आविरिति निपातः प्राकट्यार्थस्तपूर्वात् ‘अस् भुवि’ इत्यसाद्वातोः
कर्त्तरि लङ् । दिव्यदीप्तिरिति । दिव्या चासौ दीप्तिश्चेति कर्मधारयः,
दिव्येत्यत्र ‘द्युषागपाङ्’ (४।२।१०१) इति यत् ‘दिव्यं वस्तु-लवन्नयोः,

१८ द्युभवेऽपीति हैमानेकार्थः । ज्ञानमयीति । ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्व-
नेनेति ज्ञानं तत्सरूपमस्या इति स्वरूपेऽप्येऽमयद्, ततः “टिह्नाणन्”
(४।१।१५) इति वीप् । तीर्थप्रवृत्त्यै इति । तीर्थते संसारवारिधिरने-

२१ नेति तीर्थम्, ‘तृ द्युवनतरणयोः’ इत्यसादौणादिकस्कृपत्ययः,
प्रवर्तनं प्रवृत्तिस्तः पष्ठीवस्तुरूपः “क्रियार्थोपपदस्य” (२।३।१४) इति

२३ चतुर्थी, तादृश्ये चतुर्थी वा । वीरनाथ इति । वीरश्चासौ नाथश्चेति

कर्मधारयः । ‘वीरो जिने भटे श्रेष्ठे’ इति हैमः । प्रस्थातुमिति । प्रपूर्वात् ‘धा गतिनिवृचौ’ इत्यसात् “समानकर्तृकेषु” (३।३।१५८) इति तु मुन्प्रत्ययः, यतोऽत्र प्रस्थानविपयिणीच्छा प्रतीयते, न तु ३ प्रस्थानार्थेच्छा इत्यतः “तु मुन्ष्टुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्” (३।३।१०) इति पूर्वसूत्रेणाप्राप्तिरिति भावः । ऐच्छदिति । ‘इतु इच्छायाम्’ इत्यसात्कर्त्तरि लङ् । ननु भगवतो वीक्षणात् सर्वथा ६ निःस्पृहेन इच्छाया अभावात् कथमैच्छदित्युक्तम्? उच्यते । उपचारात् । इत्यमेव च श्रीभगवतीरुत्रवृत्त्योः प्रारंभेऽप्युक्तमस्ति । तथाहि ‘संपा-विकुक्तामिचि,’ प्राप्तुकाम इति च यदुच्यते तदुपचारात्, अन्यथा हि ९ निरभिलाप्ता एव भगवन्तः केवलिनो भवन्ति । ‘मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तम्’ इति वचनादिति । अपापामिति । प्रायः सकल-सुहृत्तिजनाधिष्ठितलात् नास्ति पापं यस्यां सा, तामित्यन्वर्थसंज्ञेयम् । १२ स चेत्यत्र चकारस्तु पादपूरणे वाक्यालङ्घारे वा, अव्ययानाभनेकार्थ-त्वादिति भावः । इह प्रबन्धे आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिदोषो-त्परिनीत्रातीवोपयोगभाग् भवति । तथोक्तम्—‘देवतावाचकाः शब्दा १५ ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिंपितो गणतोऽपि च’ इति ॥ १ ॥ सर्गेऽस्मिन्निन्द्रवज्ञोपेन्द्रवज्ञोपजातयो वृत्तानि । तत्प्रक्षणानि यथा—“स्यादिन्द्रवज्ञा यदि तौ जगौ गः १, उपेन्द्रवज्ञा १० जतजात्ततो गौ २, अनन्तरोदीरितलक्ष्ममाजौ पादौ यदीयावुपजात-यस्ताः ॥ ३ ॥” इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ १ ॥

तदानीं किं संजातमित्याह—

२१

तावद्विदित्यागममसं धात्रीपतेरिव व्यन्तरदेवसङ्खः ।

इव क्रियावान्वनपालवर्गस्सर्वं रस्यं महसेन्यण्डय् ॥ २ ॥ ३३

तावत् प्रथमं क्रियावान् स्तोचितकार्यकरणोद्यतो व्यन्तरदेवसङ्घो
 व्यन्तरजातीयमुरसमूहोऽस्य वीरप्रभोरागममागमनं विदित्वा ज्ञात्वाऽव-
 इधिज्ञानेनेति शेषः । महसेनपण्डं । अपापापुर्युपकण्ठवर्ति महसेनना-
 मकं वनं रम्यं रमणीयं सप्तर्ज रचयामास व्यन्तरदेवसङ्घः । क इव ।
 वनपालवर्गे इव, वनपालकसमूहे इव अस्य । कस्येव । धात्रीपतेरिव
 ए मूष्पतेरिव, यथा क्रियावान् वनपालवर्गो धात्रीपतेरागमनं विदित्वा
 काननं रम्यं सूजति तथेत्यर्थः । विदित्वेति । “विदक्ष ज्ञाने” इत्य-
 आत्मवृक्काले क्त्वाप्रत्ययः । “रुदविद-” (१।२।८) इति तस्य
 ५ कित्वान्न गुणः । आगममिति । आगमनमागमः, “अहवृदनिश्चि-
 गमश्च” (३।३।५८) इति गमेभवेऽप् । अस्येति । “कर्तृकर्मणोः
 कृति” (२।३।६५) इति कर्त्तरि पष्टी । धात्रीपतेरिति । दधाति
 १० भूतानीति धात्री मूमित्सस्याः पतिनाथस्तस्य । व्यन्तरेत्यादि । चक्र-
 वर्त्यादिसेवाकारित्वाद्विगतमन्तरं विशेषो नरेभ्यो येषां ते व्यन्तरास्ते
 च ते देवाश्च व्यन्तरदेवास्तेषां सङ्घः । क्रियावानिति । करणं क्रिया;
 १५ सा विद्यतेऽस्येति अस्त्यर्थं मतुप् । ‘क्रियावान् कर्मसूचतः’ इत्यभिवान-
 चिन्तामणिः । वनपालेत्यादि । वनं पालयन्तीति वनपालस्तेषां वर्गः ।
 ‘वर्गस्तु सदशाम्’ इति हैमः । सदशानां वृन्दं वर्गे उच्यते इति
 २० तदर्थः । सप्तर्जेति । ‘सज विसर्गे’ इत्यसात्कर्त्तरि लिह । रम्यमिति ।
 रन्दुं योग्यमित्यर्थे रमेर्यत् । महसेनेति । महसेनयक्षाधिष्ठितत्वादे-
 तद्वनं महसेनास्ययैव प्रसिद्धिं गतम् । ‘स्यात् पण्डं काननं
 २५ वनम्’ इति हैमः ।

ऋतुस्तदान्यानपि वर्तमानः समाजुहावैकपदे वसन्तः ।
 १ जगत्पतिं दर्शयितुं जनः को न धत्सहेतेश्वरदर्शनाय ॥ ३ ॥

तदा रसिन् काले वैशाखमासे वर्तमानः साक्षाद्विधमानो वसन्तो
च सन्तास्य ऋतुः । जगत्पौर्णे विश्वनायं धीरं दर्शयितुं दृग्विपयं
कारयितुमन्यानपि सव्यतिरिक्तान् श्रीमद्यर्पणद्विमण्डिगिराख्यानपि ३
ऋतून् एकपदेऽकल्पात्माजुहाव आहृतवान् । युक्तोऽयमर्थः—हि
यतः कारणात् ईश्वरदर्शनाय त्रिमुखनेत्रं द्रष्टुं को जनो लोको न
उत्सहेत नोत्साहं कुर्यात् ॥ अपि तु सर्वोऽप्युत्सहेत एवेत्यर्थः । इ
वर्तमान इति । वर्तते इति विग्रहे ‘वृतुं प्रपत्ने’ इत्यसात् कर्चरि लटः
शानच् । समाजुहावेति । सम् आद्यपूर्वात् हु दानादावित्यलाक्षर्चरि
लिह । एकपदे इति । एतद्व्ययम् अकल्पादित्यर्थः । ‘सहसैकपदे’
सधोऽकल्पात् सपदि तत्क्षणे’ इति हेमचन्द्रोक्तेः । दर्शयितुमिति
हेतुमण्णजन्तात् दशेस्तुमुन् । उत्सहेतेति । उत्पूर्वात् सहेः कर्चरि
लिह । ईश्वरेत्यादि । ईषे इतीश्वरः । ईश्वरद्यन्नं, ईश्वरस्य दर्शनमीश्वरः ३२
दर्शनं तस्मै ‘क्रियार्थोपपदस्य—’ (२।३।१४) इति चतुर्थी ॥ ३ ॥
स्वराज्यदेशानिय राजवर्या विभज्य वृक्षान्तवोऽध्यवात्सुः ।
स्वसारसम्भारमथाभिरामं विकासयामासुरिनार्चनाय ॥ ४ ॥ ३५

ऋतवो वसन्ताद्या वृक्षान् सहकारादितत्वन् विभज्य यथासं
यिमां विधाय । अव्यवास्तुराथयामासुः, वृक्षेषु निवसन्ति स्तेत्यर्थः ।
के कानिवः राजवर्या नृपमुख्याः स्वराज्यदेशान् निजराज्यजनपदा- १६
निव, यथा प्रयाना राजानः स्वराज्यदेशान् विभज्य तेषु निवसन्ति
तथेत्यर्थः । अथाधिवासानन्तरे(८) क्रतवः इनार्चनाय इनं परमेश्वरमचं-
यितुं पूजयितुं अभिरामं मनोहरं स्वसारसम्भारं निजसारनूतपुञ्जफल- ३१
पत्रपकरं विकासयामासुर्विक्तरं चक्रः यद्वा प्रकटं चक्रः, तदानीं
सर्वेऽपि तरवः पुण्यादिगन्त्र आसंचित्यर्थः । स्वराज्येत्यादि । राज्ञः ३५

कर्म राज्यं स्वस्य राज्यं स्वराज्यं, तस्य देशास्तान् । ‘देशो जनपदो
नीवृत्’ इति हैमः । राजेत्यादि । राजसु वर्याः । ‘मुख्यं प्रकृष्टं प्रमुखं
३ प्रबहुं वर्यम्’ इति हैमः । विभज्येति । विपूर्वाद्वजेः पूर्वकाले क्त्वा
तस्य स्यवादेशः । वृक्षानिति । “उपान्वव्याङ्वसः” (११।४८)
इत्यधिकरणस्य कर्मत्वाद्वितीया । अध्यवात्सुरिति । अधिपूर्वाद्वसः
६ कर्चरि लुइ । स्वसारेत्यादि । स्वसात्मनः सारं पुण्यादिद्रव्यं तस्य
सम्मारस्तं यथासारं प्रधानीभूतं वस्तित्वत्यर्थः । ‘सारो मज्जस्थिरांशयोः,
बले श्रेष्ठे च सारं तु द्रविणन्यायवारिषु’ इत्यनेकार्थः ॥ विकास-
९ यामासुरिति । णिजन्तात् “कस गतौ” इत्यसात् ‘कासंपत्ययात्’
(३।१।३५) इत्याम् । तरोऽखेरनुप्रयोगः । “विकासः स्फुटने
व्यक्तौ” इति दन्त्यान्तो धरणिः । इनार्चनायेति । इनस्यार्चनमि-
१२ नार्चनं तस्मै, चतुर्थी प्राग्वत्, ‘ईशितेनो नायकश्च’ इति हैमः ॥ ४ ॥

ग्राग् ये स्थिताः श्रीवियुतास्तदानीं

सश्रीकर्तां ग्रापुरगात्त एव ।

१५ श्रियस्तु लभ्याः समयेऽसुमद्दिः

सर्वत्र सत्यो हि दशाविवर्तः ॥ ५ ॥

येऽग्ना वृक्षाः प्राक् पूर्वं श्रीवियुताः शोभारहिताः स्थिता अति-
१८ष्टन् ते एव तेऽपि वृक्षास्तदानीं तस्मिन्काले प्रमोरागमनसमये सश्री-
कर्तां शोभायुक्त्वं प्रापुः प्राप्नुवन्ति स । युक्तोऽयमर्थः—असुमद्दिः
प्राणिगिः श्रियो लक्ष्यस्तु समयेऽवसरे लभ्याः काष्यवसरे एव
२१ लभ्यन्ते, नतु यदा तदापीति भावः । कथमित्याह—सर्वत्रेत्यादि ।
हि यतो दशायाः अवस्यायाः विवर्तः परावर्तः सर्वत्रास्मिन् लोके
२४ सत्योऽवित्ययोऽस्तीति शेषः । प्राणिनां हि यदा सदृशाऽम्युदेति तदैव

सौख्यादिलाभो भवतीत्यर्थः । स्थिता इति । स्याधातोरकर्मकल्पात्कर्चरि
क्तः । श्रीत्यादि । श्रिया लक्ष्म्या वियुताः इति तृतीयातत्पुरुषः ।
तदानीमिति । अखण्डमव्ययमिदं सश्रीकतामिति सह श्रिया वर्तन्ते ३
इति सश्रीकास्तेषां भावसंचा तां प्रापुरिति । प्रपूर्वादाभोतेर्लिङ्ग । अगा
इति । न गच्छन्तीत्यगाः । ‘नगोऽप्राणिषु’ (६।३।७७) इति
वैकल्पिकल्पात्पक्षे नज्ञो न लोपः । त एवेति । अत्र एवकारोऽपि-६
शब्दार्थे । लभ्या इति । “पोरदुपघात” (३।१।९८) इति
कर्मणि यत् । असुमद्दिग्दिरिति । असवः प्राणाः सन्त्येषामित्यसुम-
न्तसैः कर्चरि तृतीया, “पुंसि भूख्यसवः प्राणा” इत्यमरः । ९
दयेत्यादि । “अवस्था तु दशा स्थितिः” इति हैमः । “विषर्णो
नर्चने सद्देऽपावृत्तौ” इत्यनेकार्थः ॥ ५ ॥

रागाक्तलोकेरिवद्दिपातादिवास्तुरागैः प्रचिताः प्रवालैः । १२
द्वुमा न पुंसां न मनांसि जहुर्मनोहरं किं न मवेत्समृद्धम् ॥६॥

रागेण खेहेनाक्ता युक्ता ये लोकास्तैरीरिताः प्रेरिता या दृष्टयो
नेत्राणि तासां पातः पतनं तत्त्वादिव आसुः प्राप्तो रागो रक्षिमा १५
यैसैः प्रवालैः किसल्लयैः प्रचिताः पुष्टाः द्वुमाशूतादिवृक्षाः पुंसां
मनुप्याणां मनांसि चेतांसि कर्मतामापन्नानि न न जहुः न न हरन्ति
स, दरन्ति सैवेत्यर्थः । ‘द्वौ नज्ञो प्रकृतमर्थं सूचयंत’ इत्युक्तत्वादिह १०
नञ्जद्वयेन दृश्यते, न तु निषेधार्थः । उक्तमर्थमर्थ-
न्वरन्यासेन द्रव्यति । समृद्धं समृद्धियुक्तं सत् किं वस्तु मनोहरं
मनोहारकं न मवेत् । सर्वमपि स्यादेवेति भावः । अक्तेति । ‘अद्यु २१
गतौ’ असात्कर्चरि क्तः । ‘यस्य विभाषा’ (७।२।१५) इति ‘नहौ’
ईरितेति । ‘ईरु गतिकम्पनयोः’ असात्कर्मणि क्तः । एवमासेत्यत्रापि । २३

रागैरिति “रागः स्याल्लोहितादिषु । गन्धारादौ क्लेशादिकेऽनुरागे मत्सरे
नृपे” इति हैमः । प्रचिता इति । प्रपूर्वाचिनोते: कर्चरि क्तः । जहु-
रिति । हजः कर्चरि लिह । समृद्धमिति संपूर्वात् ‘कङ्खु वृद्धौ’ इत्यसा-
त्कर्चरि क्तः, “यस विभाषा” (७।२।१५) इति नेह ॥ ६ ॥
सुखिग्धसान्द्राणि हरिच्छदानि प्रपश्यतां भूमिरुहोऽनिमेषम् ।
अत्यन्तमेदेऽपि तदा नराणामकारयन्देवगणैरमेदम् ॥ ७ ॥

तदा तसिन् काले भूमिरुहो वृक्षाः सुखिग्धसान्द्राणि सुतरामति-
शयेन खिग्धानि चिक्कणानि सान्द्राणि निविडानि हरिच्छदानि हरि-
द्व्यर्णपत्राणि अनिमेषमक्षिस्पन्दरहितं यथा स्याचया प्रपश्यतां प्रकर्पेण
विलोकयतां नराणां देवगणैः सुरसमूहैः सहात्यन्तमेदेऽत्यन्त-
मिन्नत्वे सत्यपि अमेदं तैः सहाऽभिन्नत्वमकारयन् कारयामासुः ।
अयमर्थः—यद्यपि नराणां सुरैः सहैश्वर्यादिकृतो महान् विशेषोऽस्मि
त्यापि तदानीमनिमेषपत्राऽवलोकनेन तैः सहाऽभिन्नत्वं जातमिति ।
पृतेन वृक्षाणामतिरमणीयत्वमुक्तम् । ननु देवानामनिमेषत्वे किं प्रमा-
णम्? । न तावस्त्वक्षादित्रयं, प्रकृते तरच्छक्षणानामसंभवादिति चेत्,
आगमप्रमाणमत्राऽवेहि । तदुकं—“अणिमिसनयणा मणकञ्जसाहणा
पुष्कदाम अमलाणा । चउरंगुलेण भूमिं न छिवंति सुरा जिणा चिंति-
ति” ॥ १ ॥ हरिदित्यादि । हरिति च तानि छदानि चेति विग्रहः ।
‘हरिदित्य तृणान्तरे, वर्णमेदेऽश्वमेदे च’ इत्यनेकार्थः ‘वर्हं पर्णं छदं
दलम्’ इति हैमः । प्रपश्यतामिति । प्रपूर्वादृशेर्लेटः शत्रूवातोः पश्या-
देशः । भूमीत्यादि । भूमौ रोहन्तीति रुहेः किप् । अनिमेषमिति ।
न विद्यते निमेषो यत्र कर्मणि तद् क्रियाविशेषणमिदम् । अत्यन्ते-
त्यादि । अन्तं विराममतिकान्तोऽत्यन्तः, स चासौ मेदश तसिन् ।
अक्षास्यग्निति । हेतुमण्णजन्नात् कृजो लद्द ॥ ७ ॥

वातोन्नलत्पहुः वहस्तवाले रोलम्बशङ्कारमुगीतनादैः ।

कारस्करास्तीर्थकरागमोत्थं निदर्शयामासुरिव प्रमोदम् ॥ ८ ॥

कारस्करा वृक्षाः कर्चारः वातेन वायुना उच्छ्वलन्त उत्पत्त्वो ये^१
पहुयाः प्रवालास्त एव हस्तवाला प्रसारिताद्गुलिपाणयस्तथा रोल-
म्बानां अमराणां ये शङ्कारशब्दास्त एव सुमु शोभना गीतनादा गान-
ध्वनयस्तैः करणमूर्तैः तीर्थकरागमोत्थं वीरजिनागमनसमुद्भवं प्रमोदं^२
हृपं निदर्शयामासुरिव ज्ञापयामासुरिवेत्यप्रेक्षा । उच्छ्वलदिति ।
उत्सूर्वात् 'शल गतौ' इत्यसाहृष्टः शत् । हस्तवालैरिति । यद्यपि 'प्रसा-
रिताद्गुलै पाणी चपेटः प्रतलस्तलः, प्रहस्तालिकावाल' इत्युक्त्वादत्र^३
तालपदेनैव प्रस्तुतार्थावगतौ हस्तपदं व्यर्थमिव प्रतिमाति । तथापि
अस्य करिकलमादिव्यदुक्पोपकत्वात्त्र दोपः । रोलम्बेत्यादि । "इन्दि-
न्दिरोडली रोलम्बो द्विरेफ" इति हैमः । गीतेत्यत्र मावे चकः । 'गीतं^४
गानं गेयं गीतिः' इति हैमः । कारस्करा इति । पारस्करादित्यात्साधुः
'जर्णो दुर्विटपी कुठः, क्षितिरुहः कारस्करो विष्टर' इति हैमः ।
तीर्थकरेत्यादि । तीर्थं चतुर्विषः सहृः प्रयमगणमृद्वा तत्करोतीति^५
'कृनो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (३।२।२०) इति टपत्ययः, तीर्थ-
करस्य आगमेन उचिष्टतीति तीर्थकरागमोत्थसं उत्सूर्वात् साधातोर्ड-
प्रत्यये 'टदः स्यास्तम्भोः-' (८।४।६।१) इति पूर्वसवर्णः । निदर्श-^६
यामासुरित्यादि । हेतुमण्णजन्ताद्गृहोर्लिंदू कास् प्रत्ययादित्याम् ।
इह जनमिति शेषः । तस्य चांडणिकर्तुः 'हशेश' (५।४० वा.)
इत्यनेन णी कर्मत्वात् द्वितीया ॥ ८ ॥

१ "विशिष्टवाचद्यानां पदानां यति पुरुषै विशेषवाचकपदसमवधाने
पिशेष्यमानपरतम्" इति न्यायोऽप्य राहच्छरे, 'करिकलमादिवद्' इति दीदा-
शृणुमापानप्रभ्योऽप्येतप्याशगमितः इति प्रविभावति.

इति सामान्यतः पद् क्रितवो वर्णिताः । अथ विशेषतस्तान्वर्ण-
यितुकामः कविस्तावद्वशभिः काव्यैर्वेसन्तं वर्णयति—

३ सूनुप्रसूताविव मोदमास्ताः सूनोद्भूमे चूततरोद्दिरेफाः ।

एषामतो मङ्गलगायनानामिव ध्वनिर्झङ्गलिको जजृम्भे ॥ ९ ॥

द्विरेफा अमराः चूततरोः सहकारवृक्षस्य सूनोद्भूमने पुण्योद्भूमने
६ जाते सति मोदं हर्षं आस्ताः प्राप्नुवन्ति स । कस्यामिव, सूनुप्रसूताविव
पुत्रोत्पत्ताविव, यथा पुत्रोत्पत्तौ सत्यां जना मोदमाप्नुवन्ति तथेत्यर्थः ।

अतोऽस्त्राक्तारणादेव एषां अमराणां माङ्गलिको मङ्गलसूचक इव
९ ध्वनिर्झङ्गारशब्दो जजृम्भे उङ्गलास, विसृतवानित्यर्थः । केषामिव ।

मङ्गलगायनानामिव, यथा कापि हर्षकारणे मङ्गलगानकर्तृणां माङ्गलिको
ध्वनिर्गीतनादो जृम्भते तथेत्यर्थः । सून्नित्यादि । सूनोः प्रसूतिः

१२ सूनुप्रसूतिखस्यां, प्रपूर्वात् शूलो भावे किञ् । ‘प्रसूतिः स्यादपत्ये
प्रसवेऽपि च’ इति हैमः । सूनेत्यादि । सूनानामुद्भूमः सूनोद्भूमस्तसिन्

‘पुण्यं सूनं सुमनस’ इति हैमः । द्विरेफा इति । द्वौ रेष्टौ ‘येषां
१५ ग्रमरखरूपे नान्नि ते द्विरेफाः । मङ्गलेत्यादि । मङ्गलं गायन्तीति मङ्ग-
लगायना गान्धर्वादयसेषां । माङ्गलिक इति । मङ्गलं प्रयोजनमसेति

‘प्रयोजनम्’ (५।१।१०९) इति ठक् । यद्वा मङ्गलमर्हतीति ‘तदर्हति’
१८ (५।१।६३) इति ठक् । अथवा मङ्गले नियुक्त इति ‘तत्र नियुक्त’

(४।४।६९) इति ठक् । जजृम्भे इति । ‘जृमी ग्राविनामे’
अस्त्राक्तर्चरि लिद् । धातूनामनेकार्थत्वादस्य विस्तारार्थता ॥ ९ ॥

२१ ये सुन्दरीणां मुखशीधुलाभा-

दामोदमचा चकुला चभूवुः ।

ते पदपदान् उन्मदयिष्यवः किं

नासन् यतः कारणकार्यसाम्यम् ॥ १० ॥

ये वकुला वृक्षविशेषाः सुन्दरीणां खीणां^१ मुखशीघुलामात् । आमोदेन परिमलेन मत्ता मदयुक्ता वभूत्से वकुलाः पदपदान् अमरान् उन्मदयिष्णवो मदोत्पादकाः किं न आसन् न वभूतुः, वभू-३ वुरेत्यर्थः । अत्र किं कारणमित्यत आह—यत इत्यादि । यतो यसात्कारणात् कारणकार्ययोहेतुहेतुमतोः साम्यं साहश्यमस्तीति श्रेष्ठः । अथमर्थः—कारणं हि प्रायः स्वानुरूपमेव कार्यं जनयति, न तु ए सतो विरुद्धस्वमावम्, प्रायेण पित्रा तुल्यः पुत्र इत्यादमिधानात् । ततश्चात्र वकुलानां खीमुखमधस्तीकारजनितमर्चत्वेन तन्मकरन्दपा-यिनां अमराणां भरत्वं युक्तमेवेति । एतावता वकुलमचताकारणं^२ अमरमर्चता च कार्यमिति स्थितम् । निःशेषामरणभूषिता भामिनी समीपमुपेत्य यदा वकुले समुखान्मध्युकुलकं निक्षिपति तदैव तस्य पुर्वादिसम्पर्चिरूपजायते इति तस्यमावः । मुखेत्यादि । मुखस्य यः १२ शीघुस्तस्य लामस्तसात् ‘मैरेये शीघुरासव’ इति हेमः । लभेद्य-नि वृद्धौ लागेति । न च ‘बलमेश्वे’त्यनेन नुमानामः कुतो न स्यादिति चेदुच्यते, ‘उपसर्गात्त्वलघ्पनोः’ (६।१।६७) इति नियमान्न नुम् । १५ सलूपन्नोः परयोरुपसर्गादेव लभेन्तुम् न तु केवलस्येति तदर्थः । आमोदेति । ‘आमोदो गन्धहर्षयोः’ इति हेमः । मत्ता इति । ‘मदी हर्षे’ ‘कर्चरि निष्ठानव्याख्यापूर्मूर्छिमदां’ इति निषेधात् निष्ठा (?) तस्य १६ न नत्वं । चकुला इति । ‘वकुलः केसर’ इति हेमः । पडित्यादि । पद पदा येपां ते तान् ‘नलोकाव्यय—’ (२।३।६९) इति पष्टी-निषेधः । उन्मदयिष्णव इति । उत्पूर्वाण्जिजन्तात् ‘मदी हर्षे’ इत्य-२१ सात् ‘पेष्टन्दसि’ (३।२।१३७) इति सूत्रेण इप्पुच् । अयामन्तेति । पेषर्य् ‘मदी हर्षम्लेपनयो’रिति मित्रात् ‘मित्रां—’ (६।४।९२) इति २३

द्वसः । ननु छान्दसोऽयं प्रयोगः कथमत्रोपात् इति चेदुच्यते ।
 लोकेऽपि कविभिरादत्त्वात् दोषः । यथा छान्दसमपि प्रभविष्णु-
 ३ शब्दं माधः प्रायुद्ध ‘जगत्प्रभोरप्रभविष्णुवैप्यावं’ इति वृहसिद्धान्त-
 कौमुद्यां वहुपु माधपुस्तकेषु तु असहिष्णु इति पाठो दृश्यते । किं
 नासन्निति काकूक्तिरियं अस्तेः कर्चरि लङ् । कारणेत्यादि । कारणं
 ६ च कार्यं च कारणकार्ये, समयोर्भावः साम्यं, कारणकार्ययोः साम्यमिति
 विग्रहः । ‘अस्पाचूतरं’ (२१२।३४) इत्यनेन कार्यशब्दस्य प्रामिपाते
 प्राप्तेऽपि कारणस्य प्राधान्यादभ्यर्हतं चेति तत्पूर्वनिपातः ॥ १० ॥

९ पश्यन्तु भो भो प्रमदाकटाक्षान्मधुव्रतालीं मधु पाययन्तु ।
 इत्यागमोक्तीरिव सौगतानां सत्यापयन्तस्तिलका विरेजुः ॥ ११ ॥

१२ तिलकास्तिलकनामानो वृक्षा विरेजुः शोभन्ते स । किं कुर्वन्त
 १२ इव इति । इत्थं सौगतानां चौद्धानां आगमोक्तीः शाखवचनानि सुगत-
 प्रणीततत्त्ववाक्यानीति यावत्, सत्यापयन्त इव सत्याः कुर्वन्त इव ।
 इतीति किमित्याह—पश्यन्त्वत्यादि । भो भो लोकाः भवन्तः प्रम-
 १५ दानां खीणां कटाक्षान् कटाक्षविक्षेपान् पश्यन्तु तथा मधुव्रतालीं
 मध्यपजनश्रेणि मधु मर्य पाययन्तु पानं कारयन्तु इति ॥ अयमत्र
 तात्पर्यार्थः—यत्सचत् क्षणिकमिति व्याप्तिवादिनः सौगता एव-
 १८ मुपदिशन्ति, ‘यदहो लोकाः परमरमणीयरमणीखपनिरीक्षणमनोऽ-
 भिलपितभोज्यमक्षणमधुपानमृदुशयनीयशयनादिभिरेव मोक्षावासिः, न
 तु तपोनुष्ठानादिभिस्तेषां हि क्लेशरूपत्वेन लोके दुःखस्तैव साधनत्वात् ।
 २१ तस्मान्मोक्षार्थिमिः सुखेन खीमोगादि भोक्तव्यम्’, तथा ये सुरा-
 पानकर्चारस्तेषां तत्पानं कारयितव्यमेतदेव तत्त्वमस्तीति तिलकानां
 २४ पुनरयं समावः । यदा नवयौवना कामिनी अभ्युपेत्य कटाक्षान्

विक्षिपति तदैव ते पुष्पादिभाजो भवन्ति । तथा विकसिताः सन्तो
मधुव्रतालीं ऋमरथेणि॑ मधु मकरन्दं पाययन्तीति । तत्रेदं कविनो-
त्प्रेक्षितम्—पद्यन्त्वति । एतत्क्रियाभिसम्बन्धादिहनुकोऽपि भवन्ते ३
इत्येव कर्ता अध्याहायों न तु यूयमिति तद्व्याहारे तु पद्यतेति
क्रियापदस्य प्रसक्तिः स्यात् । तथा च सति छन्दोभज्ञ इति । मधु-
श्रतेत्यादि । ‘मधुक्रतो मधुकर’ इत्यमरः । मधु व्रतं भद्रं यस्येति ५
तद्वृचिः । एवं च मधु मध्यं व्रतं यस्येति योगमात्रेण मधुव्रताः मध्य-
पायिन उच्यन्ते, योगलब्ध्यां तु मधुशब्दस्य मकरन्दार्थतामपेक्ष्य
मधुव्रता अमरा उच्यन्ते । मधुव्रतानां या आली श्रेणिस्थां ‘माला-६
स्यावलिपद्मय’ इति हेमः । इह ‘गतिवुद्धि-’ (११४।५२) इत्या-
दिना कर्मत्वाद्वितीया । यदपि पा-धातोः पानमर्थः, नतु भक्षणम्,
तथापि भक्षणमपि विशेषणामूय भासते इत्येतावन्मात्रेण प्राप्तिवोध्या । १२
मध्विति । ‘मधु क्षीरे जले मध्ये क्षीद्रे पुष्परसेऽपि च’ इत्यनेकार्थः ।
पाययन्त्वति । हेतुमण्णजन्तात्प्रत्येलोऽद् । आगमेत्यादि । आग-
मस्य उक्तयः आगमोक्तयस्ताः । सौगतानामिति । सुगतस्येमे १३
सौगताद्येषां ‘तस्येदम्’ (३।३।१२०) इत्यण् । सत्येत्यादि ।
सत्यशब्दाचत्करोतीत्यर्थे ‘सत्यापपाशा-’ (३।१।२५) इत्यादिना
णिष् । सत्रे सत्यापग्रहणादापुगागमः, ततो लटः शत्रू । विरेजुरिति १४
विपूर्वात् ‘राजृ दीक्षौ’ इत्यस्मात्कर्त्तरि लिद् ॥ ११ ॥

निवम्बनीनां परिरम्भलामाः

पादयहारोऽपि सुखाय येपाम् ।

तेऽशोकसाला विलसत्प्रवालाः

सेराः सखायो न कर्यं सरस्य ॥ १२ ॥

परिरम्भ आलिङ्गनं तस्य लाभः प्रासिर्यसिन् स तथाभूतो नित-
 मिनीनां कामिनीनां पादस्य चरणस्य प्रहारस्ताडनं, लचाप्रहार इति
 ३ यथृत् । येषामशोकवृक्षाणां सुखाय सम्पदते सुखकारको भवती-
 त्वर्थः । ते सेरां विकसिता अत एव विलसन्तः शोभमानाः प्रवाला
 येषां ते तथाभूता अशोकसाला अशोकवृक्षाः सरस्य कामस्य कथं
 ६ केन प्रकारेण न सखायो न सहायाः, अपि तु सखायस्ते इत्यर्थः ।
 अशोकानां किलाऽयं स्वभावो यदा सकलालङ्घारशोभिता सुन्दरी
 ९ प्रवरनूपुररणत्कारकारिचरणेन मूले प्रहारं विघते तदैव ते पुष्पादि-
 प्रसवन्तीति तेनैतेषां कामोदीपकत्वं युक्तमेवेति भावः । नितम्बिनीना-
 मिति । खीकव्याः पश्चाद्द्वागो नितम्बः सोऽस्त्यासामिति मत्वर्थं इनिः,
 ततो दीप् । परिरम्भेति । परिरम्भणं परिरम्भः, 'रम राभस्य' भावे
 १२ पन्न 'रमेरदाव्लिटोः' (७।१।६३) इति नुम् । 'आलिङ्गनं परिष्वङ्गः
 संक्षेप उपगृहनम् । अङ्गपाली परीरम्भ' इति हैमः । सुखायेति ।
 कृत्यर्थक्रियाया गम्यमानत्वात् 'कृपि संपदमाने च' (५८० चा.)
 १५ इति चतुर्थी, साला इति दन्त्यादिरयं, 'सालः मात्रप्राकारयोरपि' इति
 हैमः । सेरा इति । 'सेरं विनिद्रमुक्तिद्रे' इति हैमः । सरेति ।
 'मधुदीपमारी मधुसारधिसरौ' इत्यमिधानचिन्तामणिः ॥ १२ ॥

१६ यथृत् सुरुप्ये किल यत्सुगन्धः

पुष्पोदयेष्वैक्ष्यत चाम्पकेषु ।

तचार्किकाः संशयिताः श्रुतौ किं

याद्वमायमेवन् गुणा गुणेषु ॥ १३ ॥

२१ किलेत्युत्प्रेक्षायाम्, यत् यस्तत्कारणात् चाम्पकेषु चम्पकसम्ब-
 निषेषु पुष्पोदयेषु पुष्पसमृद्धेषु सुमु शोभनं यद्रूपं तसिन् सुरुप्ये शश-
 २० शिरन्तरं सुगन्धः शोभनगन्धः ऐद्यत दृष्टः, सर्वरपि लोकेरिति

शेषः । तंचसाचार्किंकार्खक्षयाखवेचारो विद्वांसः श्रुतौ शास्ते किं संशयिता: कथं संशयमापन्नाः, प्रत्यक्षनिर्णति वस्तुनि संशयविधानम्-युक्तमित्यर्थः । एवं तर्हि 'गुणेषु गुणा न भवन्ति' इति तर्कवाक्यस्त का ३ गतिरित्याशङ्क्याह—वाडित्यादि । गुणेषु तृष्णादिषु गुणा गन्धादयो न तिष्ठन्तीत्येतद्वाक्यं वाइमात्रं वचनमात्रमेवात्मि नतु तात्त्विक-मित्यर्थः । इह 'मुख्यपतायां च मुग्नवता यत्' इति पाठान्तरम्, तत्र ६ प्रयोगद्वयेऽपि भावे तल्प्रत्ययस्तु न संमवति । प्रस्तुतार्थाऽसङ्गतेः, ततः मुख्यमेव मुख्यपतेत्यादि विगृह्य कथंचित्सार्थं तल्प्रत्ययं विधाय समाधेयम् । पुष्पोच्चवेन्विति । पुष्पाणामुच्चवाः पुष्पोच्चयाद्देषु ऐक्यतेति ९ ईक्षपातोः कर्मणि लङ्घ । चाम्यकेन्विति । चम्पकानामिमे चाम्पकाद्देषु 'तस्मेदम्' (४।३।१२०) इत्यए । तार्किका इति । तर्कं विदन्त्य-धीयतेति 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) इति ठक् । संशयिता इति । १२ संशयो ऋमाल्मकं ज्ञानम्, स जात एषामिति, तारकादित्यादित्यभ् । वाघ्नामिति । वागेव वाज्ञात्रं 'मात्रं कात्म्येऽवधारणे' इत्यमरः ॥१३॥

दूरोज्जिता चा नवमालिकाली
सा चैव सेव्या अमरैर्वभूव ।
अहो अहो स्वार्थपरो हि लोकः

१५

स्वार्थं विना कोऽपि सुहृन् कस्य ॥ १४ ॥

१६

अमरैर्या नवमालिकाली सप्तलाल्यलताश्रेणिर्दूरोज्जिता पूर्वं दूरे मुक्ता आसीत् सैव वनमालिकाश्रेणी सांप्रतं अमरैः सेव्या सेवनीया वभूव, यतः पूर्वनिःश्रीकत्वेन स्तक्ता सांप्रतं पुंसः श्रीकत्वेन पुनराद्वता २१ इत्यर्थः । एतदेव द्रदयति—अहो इत्यादि । हि यतः अहो अहो लोकः सर्वोऽर्थपरः सक्तीयकार्यसाधनतत्परो विद्यते इति शेषः । स्वार्थं २२

विना कोऽपि जनः कस्य जनस्य न सुहृत् न मित्रम्, अखीति शेषः । एताचता प्राणिनां यावत् स्वार्थसिद्धिः सुखेनोपजायते तावदेव परस्परं प्रचुर-इतरा प्रीतिरीतिरीवर्चि संदभाव (प्रीत्यमाव ?) एवेत्यन्वयं व्यतिरेकाभ्यां स्वार्थं एव सौहार्दकारणमिति भावः । उज्जितेति । 'उज्ज्ञ त्यागे' कर्मणि क्तः । नवेत्यादि । 'सप्तला नवमालिका' इति हैमः । नवमालिकानां इआलीति विग्रहः । सेव्येति । सेवितुं योग्याः 'पेतृ सेवायां' अस्मात् 'ऋग्लोप्यत' (३।१।१२४) । अहो अहो इति । 'ओत्' (१।१।१५) इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञा, ततः 'मुत्रप्रगृह्या' (६।१।१२५) ९ इति प्रकृतिभावः । स्वार्थेत्यादि । स्वस्यार्थः कृत्यं तत्र परः स्वार्थं एव परः प्रधानं यस्य स इति वा । 'अर्थः कृत्यं प्रयोजनं' मिति हैमः । स्वार्थमिति । 'पृथग्विनानानाभिः' (२।३।३२) इति विनायोगे १२ द्वितीया । सुहृदिति । शोभनं हृदयं यस्य स 'सुहृद्दैर्दौ मित्रा-मित्रयोः' (५।४।१५०) इति हृदयस्य हृदादेशः ॥ १४ ॥ : सेवन्तिकानां मधुपानलोभात्कण्टाटनं नक्तमकारि जड़े । १५ मधुवतानां मधुपा जना यद्यूपातदुःखेऽपि सुखं लमन्ते ॥ १५ ॥

मधुवतानां अमराणां मधुपानलोभात् मकरन्दपानलिप्सया सेवन्तिकानां लताविशेषाणां यत् कण्टेषु कण्टकेषु अटनं अमणं तत् १६ कृमकारि अमोत्पादकं न जड़े न जातं, लुब्धो जनो हि समविपम-प्रदेशसंचारसमुद्धवं किमपि अमादिकं नापेक्षते इति भावः । युक्तो-ज्यमर्थः । यत् यस्मात्कारणात् मधुपा मधुपानकर्त्तरो जना मूपात-२१ दुःखेऽपि भूमिपतनादिदुःखे सत्यपि सुखं लमन्ते सौख्यमनुभवन्ति,

१ 'तदभावे तदभावः'-इति 'स्वार्थभावे-क्लेहाभाव' इत्यर्थः पाठोऽपि यश्च तिमामूर्यादिति प्रतिभाति । २ 'क्षरणसर्वे क्षर्येष्वत्ता, क्षरणभावे क्षार्य-भावः' इति तयोर्लक्षणम् ।

अतिलुभृत्वात् ते हि मद्यपानं सुखकारकं मन्वाना बहुलमपि भूमि-
पातादिदुःखं न गणयन्तीत्यर्थः । मध्यित्यादि । मधुनः पानं
मधुपानं तस्य लोभस्तस्मात् ‘लोभः तृष्णा लिप्सा वशः सृहा’ इति ३
हेमः । कृमेत्यादि । कृमं करोतीति ‘सुप्यजातौ’ (३।२।७८) इति
गिनिः, ‘कृमः खेशः परिश्रमः’ इति हेमः । जडे इति । ‘जनी
प्रादुर्भावे’ कर्त्तरि लिद् । मधुपा इति । मधु पिवन्तीति । ६
मधुपूर्वात्पापातोः किम् ॥ भूषातेति । पतनं पातः, मुवि पातो
नृपातस्तस्य दुःखं सलिन् ॥ १५ ॥

पुष्पथिया किंशुकपादपाना-

माच्छादिता पञ्चदरिद्रताऽपि ।

नरः सुरूपः खलु दुर्गतोऽपि

स्यादेव लोकस्य विलोकनीयः ॥ १६ ॥

५

१२

किंशुकानां पलाशास्त्यवृक्षविशेषणां पुष्पथिया पुष्पलक्ष्या पत्र-
दरिद्रतादि आच्छादिता, पैत्रैर्यद्वि दारियं तदपि आच्छादयते सोत्यर्थः ।
एतादता अपग्रा अपि किंशुकः केवलं पुष्पैरेव दर्शनीया वस्तुरिति १५
भावः । युक्तोऽयमर्थः—खलु निश्चयेन दुर्गतोऽपि दरिद्रोऽपि नरो
मनुष्यः सुरूपः शोभनाकृतियुक्तः सन् लोकस्य विलोकनीयो दर्श-
नीयः स्यादेव भवत्येवेत्यर्थः । किंशुकानां किलाऽयं समावो यतः पुष्प- १६
काले पत्राणि न भवन्ति पत्रसमये पुष्पाणि नेति । किंशुकेत्यादि ।
पादैः पिभन्तीति पादपाः किंशुकाश्च ते पादपाश्च तेषां । ‘त्रिपञ्चकः
पलाशः स्यात्किंशुको ब्रह्मपादपः’ इति हेमः । आच्छादितेति । २१
आदपूर्वाशुरादिणिजन्तात् ‘छद अपमारणे’ इत्यसाकर्मणि कः ।
पत्रेत्यादि । दरिद्राणां मावो दरिद्रता, पैत्रैः दरिद्रतेति विग्रहः । २३

३ पा०

सुख्लप इति सुषु रूपं यस्य सः । दुर्गत इति । 'दरिद्रो दुर्विघो दुःसो
दुर्गत' इति हेमः ॥ १६ ॥

१७ निमब्रिता यन्न समृद्धिकाले वयं तदेभिर्नहि सौहृदं नः ।
इतीव पुण्यैर्हृदये स्खकीये कृतो मधूकेषु तु पर्णपातः ॥ १७ ॥

मधूकवृक्षाणामपि किंशुकवत् पत्रसमये पुण्याणि न, पुण्यसमये
१८ च पत्रपातः स्यादिति स्यभावतस्तत्र कविरुत्प्रेक्षते—यद् यस्यात्कार-
णात् एभिः पैतैः समृद्धिकाले निजसंपत्तिसमये वयं न निमब्रिता न
आहृताः, तत् तस्माद्देतोर्नैऽसाकमेभिः सह सौहृदम्, मैत्र्यं नहि-न
१९ विद्यते इत्यर्थः । इत्येवमूलविचारेणेव मधूकेषु वृक्षविशेषेषु पुण्यैः
कुमुमैः स्खकीये उदये सति आत्मीयप्रादुर्भावे सति पर्णपातः पत्र-
विनाशः कृतो विहितः । इह तु शब्दो वितर्कद्योतकः । निमब्रिता
२० इति । निष्पूर्वाङ्गुरादिणिजन्त्वात् 'मत्रि गुप्तभापणे' इत्यस्यात्कर्मणि चकः ।
समृद्धीत्यादि । समृद्धेः कालः समृद्धिकालस्तसिन्, 'स्यात्कालः समयो-
दिष्टे' ति हेमः । सौहृदमिति । सुहृदो भाव इत्यर्थे युवादित्वादण् ।
२१ चाहुलकादुचरपदुस्य न वृद्धिः, 'सर्वं तु सौहृदम्' इति हेमः । न
इति 'वहुवचनस्य वक्षसौ' (८।१।११) इति आमन्तस्यात्मदो न
सादेशः । स्वेत्यादि । सकस्यायं स्खकीयस्तसिन् स्वार्थिककवन्तात्त्व-
२२ शब्दात्, 'गहादिम्यश्च' (४।२।१३८) इति छपत्यस्तस्येयादेशः ।
कृत इति कृवः कर्मणि चकः । मधूकेष्विति । 'मधूकस्तु मधुष्ठीलो
२३ शुद्धपुण्यो मधुदुम्' इति हेमः । पर्णपात इति । पातनं पातः, पर्णनां
२४ पातः इति विमहः, पतेणिजन्ताद् घन् ॥ १७ ॥

निरन्तरधेतसुमोश्चयान्तर्चंपुर्विकाशा चरणा विरेञ्जुः ।
२५ सद्यसुक्ताप्तलजालयुता हरिन्मणीनां निवहा इवोच्चैः ॥ १८ ॥

निर्गतमन्तरं व्यवधानं येभ्यस्तानि निरन्तराणि संमिलितानि
श्वेतानि उज्ज्वलानि यानि सुमानि पुष्पाणि तेषामुच्चयः समूहस्त-
स्यान्तरमध्ये वपुपः स्वशरीरस्य विकाशः प्रकाशो येषां ते तथाविधा ३
वरणास्तरुविशेषा विरेजुः शोणन्ते ए । के इव, सुषु सम्यक् प्रकारेण
कृतं रचितं यन्मुखाफलनां मौक्षिकानां जालं जालिका तेन गुषा
आच्छादिग्रस्था उच्चैरुन्नताः हरिन्मणीनां भरक्तमणीनां निवहा: ६
समूहा इव यथाऽमी शोभां विग्रति तथा तेऽपीत्यर्थः । इह पुष्पाणां
श्वेतत्वान्मौक्षिकैरौपर्य वरणानां च हरिद्वर्णत्वात् हरिन्मणिभिरौप-
म्यमद्दीति । सुमेत्यादि । ‘प्रसूनं कुमुमं सुम’मिति हैमः । ‘वपुः ९
पुद्गलवर्षणी’ इति च । वरणा इति । ‘वरणो वरुणदुमे’ ‘प्राकारे वरण-
वृत्या’ इति हैमानेकार्थः । विरेजुरिति । विपूर्वाद्राजतेः लिहृ ।
हरिदित्यादि । ‘पीतनीलः पुनर्हरिदि’ति हैमः । हरितश्च ते मण्यश्च १२
तेषाम् । ‘मरकतं त्वश्मगम्भं गारुत्मतं हरिन्मणि’रिति हैमः । निवहा
इति । ‘जालं’निवहसंचयौ’ इति च ॥ १८ ॥

इति वसन्तवर्णनम् ॥ १ ॥

१५

सांप्रतं पङ्गिः पवैर्गीर्वं वर्णयितुमुपक्रमते—

रात्र्यर्दभागाद्विसार्दभागं यावदियः सौरममुद्दमन्त्यः ।
शिरीपपुष्पस्तृशि वाति वायावाहादयामासुरशेषलोकम् ॥ १९ ॥ १०

शिरीपस्य षृङ्खविशेषस्य पुष्पाणि स्पृशतीति शिरीपपुष्पस्तृक्
तस्मिन्, एवंविधे वायो पवने वाति सति सौरमं सौगन्ध्यमुद्दमन्त्यः
प्रादुःकुर्वाणाः दियः पूर्वाद्याः ककुमो रात्र्यर्दभागात् अर्द्धरात्रादारम्य २१
दिवसार्दभागं यावत्, अशेषलोकं समस्तजनमाहादयामासुरानन्दितं
चकुः । अयमर्थः—अपीप्मर्चैँ हि एतदेव प्रहरचतुष्टयं शीतादिगुणोपपलः २२

पंवनयुक्तत्वात्सुखदं, शेषं तु अतिवापकारित्वात् तादृशमिति, यथा
तदैव शिरीपूर्वकोऽपि पुष्पितो भवतीति । रात्रीत्यादि । अद्दंशासौ
३ भागश्चार्द्धभागः, रात्रेरद्धभागस्तसात् समांशवाच्यर्द्धदाव्द्विवक्षायां तु
अर्द्धशासौ भागश्चेति विग्रहः, ‘अर्द्धः सण्डेऽर्द्धं समांशो’ इति हैमः ।
एवमग्रेऽपि । उद्धमन्त्य इति । उत्पूर्वात् ‘दुवम् उद्धिरणे’ इत्यसाल्टटः
६ शरू, तत्र ‘उगितश्च’ (६।३।४५) इति ढीप्, ‘शपृश्यनोः’ (७।१।
८।१) इति नुम् । वातीति । ‘वा गतिगन्धनयोः’ असाल्टटः शरू,
तंतः सप्तम्येकवचनं डिः । आहादयामासुरिति । ‘हादी सुखे’
९ आङ्गपूर्वः असाहिणजन्तादाम् । अशेषेत्यादि । अशेषश्चासौ
लोकश्चेति विग्रहः, ‘विश्वाशेषाखण्डकृत्स्ने’ इति हैमः ॥ १९ ॥

अमद्घटीयच्छजलप्रपातोच्छलत्किरच्छीकरशीतलासु ।

१२ भूमिष्वधःपुष्पितपाटलानां सुखं निदद्रौ वनचारिलोकः ॥ २० ॥

वनचारिलोकः काननसञ्चारिजनः अमतो अमर्ण कुर्वतो घटी-
यद्वस्य यत् जलं पानीयं तस्य प्रयातेन प्रपतनेन उच्छलन्त उत्प-
१५ तन्तोऽत एव किरन्तो निजावयवान् विक्षिपन्तो ये शीकरा जलक-
णासैः शीतलाः शिशिरासासु एवंमूतासु पुष्पितपाटलानां कुमुमित-
पाटलीवृक्षाणामधोभूमिषु अघोषचिपृष्ठवीप्रदेशोपु सुखं यथा स्यादथा
१८ निदद्रौ निद्रां चकार । अमदित्यादि । ‘असु चलने’ असाल्टटः शरू,
‘उद्धाटकं घटीयम्’ इति हैमः । किरदिति । ‘कृ विक्षेपे’ तुदादि-
रसाल्टटः शरू, ‘कृत इत्’ (७।१।१००) इतीत्वेरपरत्वम् ।
२१ शीकरेति । ‘अथ शीकरः वातास्तजलेऽम्युकणे’ इत्यनेकार्थः । अघ
श्वि । पृथकपद्मेवत्, अव्ययत्वाद्विमक्तेलुर्कृ । पुष्पितेत्यादि ।
२३ पुण्याणि जातान्यासामिति तारकादित्यादितप् । पुष्पिताध्य ताः

पाटलाश्च पुष्पितपाटलस्तासाम्, ‘पाटलिः पाटले’ति हैमः ।
निदद्राविति । ‘द्रा कुत्सायां गतौ’ असाक्षिपूर्वोक्तर्चरि लिट् ।
वनेत्यादि । वने चरति तच्छीलो बनचारी, शीले णिनिः, स चासौ ३
लोकश्चेति विग्रहः, ‘सात् पण्डं काननं वनं’ इति हैमः ॥ २० ॥
रसं निपीयार्जुनमञ्जरीणां मत्तालिभित्तव्र तथा जुगुज्जे ।

यथा प्रमोदोद्धुरमानवानामुद्घायतां गानसहायताऽभूत् ॥ २१ ॥ ६

अर्जुनः ककुमवृक्षस्तस्य या मञ्जर्यस्तासां रसं मकरन्दं निपीय
पीत्वा मत्तालिभिर्मिदयुक्तैर्मैरस्तत्रार्जुनतरौ तथा जुगुज्जे गुज्जारवो
विहितो यथा उद्घायतामुच्चैः स्वरेण गानं कुर्वतां प्रमोदोद्धुरमान-९
वानामानन्दममनुप्याणां गानसहायता गीतेषु साहाय्यकारित्वमभूत्
जाताः । एतावताऽर्जुनतरुतलसित्वानां खेच्छया गायतां नराणां गाने
गुज्जाद्विर्भूमैः साहाय्यं कृतमिति भावः । यद्वा सहायतेत्यत्र सामू-१२
हिकमत्ययं सीकुत्सायमर्थो विदेयः, अमैरस्तथा जुगुज्जे यथा उद्घायतां
मानवानां गाने सहायता साहाय्यकर्तृणां समझोऽभूदिति । निपीयति ।
‘पीह् पाने’दिवादिः, निपूर्वादस्तात्पूर्वकाले कत्वा तस्य ल्यवादेशः । १५
अर्जुनेति । ‘ककुमोऽर्जुन’ इति हैमः । मत्तेत्यादि । मत्ताश्च तेऽल-
यथ तैः । जुगुज्जे इति । ‘गुजि अव्यक्ते शब्दे’ असाक्षकर्मणि लिट् ।
प्रमोदेत्यादि । प्रमोदेनोद्धुरा उन्मदास्ते च ते मानवाश्च तेषां ‘आहादः १६
प्रमोदः प्रमदः’ इति हैमः । ‘मनुजो मानवः पुमान्’ इति च ।
उद्घायतामिति । उत ऊँ गायन्तीति उद्गायनतस्तेषाम् ।
गानेत्यादि । सहायानां भावः सहायता, भावे तल्, यद्वा सहायानां २१
समूह इति विग्रहे सामूहिकस्तद्य, उतः सप्तमीतसुरूपः ॥ २१ ॥
समालिलिङ्गुर्गुरुभारनग्रा आग्रा भुवं लोललुलष्टवाभिः ।
छापाग्रदानेन वनाभ्युपेत्ताश्यमञ्जर्यन्दृनिव् सत्फलैव ॥ २२ ॥ २४

गुरुर्महान् योऽसौ भारस्तेन नम्रा नमनशीला आम्राः सहकारतरवो
 लोलाश्चला अत एव छुलन्त्यो नम्रीभवन्त्यो या लताः शाखास्ता-
 ३ भिर्मुवं पृथ्वीं समालिलिहुरालिङ्गयामासुः । उत्प्रेक्ष्यते—वनाभ्युपेतान्
 वनं प्राप्तान् नृन् मनुष्यान् छायायाः प्रदानेन वितरणेन च
 पुनः सत्फलैर्न्यमञ्जयन्निव निमञ्जयामासुरिव, यथाऽन्योऽपि सत्पुरुषः
 ६ स्वस्थाने समागतं जनं वसतिप्रदानेन सद्गोजनादिभिंश्च निमञ्जयतीति
 छायार्थः । समालिलिङ्गुरिति । सम्—आइपूर्वात् ‘लिंगि गतौ’
 असालिंद् । लोलेति । ‘चुलं चपलं लोलं’ इति हैमः । लुलदिति ।
 ९ ‘छुल विलसने’ तुदादिरस्मालंडः शबृ, यदपि धातुपाठेऽयं धातुर्न
 दृश्यते तथापि हैमकोशबृहद्वृचौ लोलशब्दाधिकारे लिखितोऽस्ति,
 यदपि तत्र भौवादिकस्य प्रयोगः कृतोऽस्ति परं महाकविप्रयोगाचौ-
 १२ दादिकोऽपि ज्ञायते, तथाच श्रीहेमान्नार्यकृतपरिशिष्टपर्वणि दृतीयसर्गे
 नागश्रीदृष्टान्ते छुलंदिति तौदादिकस्य प्रयोगः । एवं ‘छुलकर्ण
 नगत्पुच्छं’ इत्यादियशोधरचरित्रादाचपि ज्ञेयम् । अग्रवृचौ तु लोल-
 १५ शब्दाधिकारे ‘छुड विलोडने’ धातुः प्रोक्तोऽस्ति, डलयोरैक्यमाश्रित्य
 शब्दसिद्धिः कृतास्ति । धातुपाठे तु अयमपि धातुर्न दृश्यते इति
 सुधीभिर्विभाव्यम् । लतेति । ‘शिखा शाखा लताः समाः’ इति हैमः ।
 १८ चनेत्यादि । वनभ्युपेता वनाभ्युपेतास्तान् अभिउपपूर्वात् ‘इण् गतौ’
 इत्यसार्कर्चरि चः । न्यमन्त्रयन्निति । निपूर्वान्यमन्त्रयतेर्लेङ् ।
 सत्फलैरिति । सन्ति समीचीनानि च तानि फलानि च तैः ॥ २२ ॥
 नीलाङ्गलुम्ब्याचित्वहारहूरोचैर्मण्डयेष्वास्तृतचारुपत्राः ।
 २२ द्राक्षासवाघूर्णितवताम्रनेत्राः कृतार्थयन्ति स वयो युवानः ॥ २३ ॥

१ एचेरम्—“.....गृहीबी च लुलहृवीकरा तस्मां शये क्षयम् ॥ २०३ ॥”

नीलानि नीलवर्णानि यान्याग्राणि सहकारफलानि तेषां छन्दिः
भिराचिगानि पूरिवानि यानि हारहूराणां द्राक्षालंतानामुच्चैरुदत्तानि
मण्डपानि तेषु आस्तृतानि चारूणि सुन्दराणि पञ्चाणि कदल्यादि- ३
दलानि यैस्ते तथा द्राक्षासवेन द्राक्षामुरापानेन आसमन्ताद् धूर्णि-
तानि धूर्णेनयुक्तानि अत एव तांत्राणि रक्तानि नेत्राणि यैषां ते
तंथाविद्या युवानस्तरुणपुरुषा वयस्तारुण्याभिधानं कृतार्थयन्ति सा ५
कृतकृत्यं चकुः, सफलमकार्पुरित्यर्थः । आचितेति । आहंपूर्वात्
'चिन् चयने' असात्कर्चरि क्तः, 'पूर्णे त्वाचितं उत्तपूरिते अरितं
निचितं व्याप्तं' इति हैमः ॥ हारहूरेति । 'द्राक्षा हु गोक्तनी । मृद्वी- ६
का हारहूरा चे'ति च हैमः । मण्डपशब्दोऽर्द्धर्चादित्वासुङ्गीवलिङ्गः ।
आस्तृतेति । आहंपूर्वात् स्तृतः कर्मणि क्तः । आसवेति । 'मध-
सन्धानमालुतिः । आसवोऽभिपवः' इति हैमः । आधूर्णितेति । 'धूर्णे १२
अमणे' असात्कर्चरि क्तः, कृतार्थयन्तीति कृतार्थं कुर्वन्तीति १३
विग्रहे कृतार्थशब्दात् 'तत्करोति' (ग०) इत्यर्थं णिच्, 'लद्दूसे'
(३२।११८) इति सयोगे लिटोऽपवादो लद् ॥ २३ ॥ १५

प्रलम्बजम्बूसहकाररम्माणायातिशीतोदकपुष्करिण्यः ।

द्यर्णावपश्रान्त्यपनोददक्षा वनेऽन्र नासन् किमु सेवनीयाः ॥२४॥

अत्रासिन्वने कानने सूर्यस्य आतपेन प्रतापेन उत्पन्ना यी १६
आन्तिः अमस्तस्य अपनोदे विनाशो दक्षाश्वतुराल्यथा प्रलम्बानां
प्रचण्डानां जम्बूसहकाररम्माणां जम्बवाप्रकदलीवृक्षाणां द्वायं प्रलम्ब-
जम्बूसहकाररम्माणायं तेन अतिशीतमुदकं पानीयं यामु तास्थान् १७
विधाः पुष्करिण्यो वाप्यः किमु सेवनीयो आश्रेयणीया नासन्
चमद्वः, अपि हु चमद्वरेवेत्यर्थः । जनानामिति शैषः । रम्भाः इह

छायेति । ‘रमा मोचा कदल्यपि’ इति हैमः । ‘छाया बाहुस्ये’ (२।४।२२) इति क्षीवत्वं । पुष्करिण्य इति । पुष्करं जलं पद्मं वा अस्ति आस्ति । ‘पुष्करादिभ्यो देशो’ (५।२।१३५) इतीन्, ‘क्रुद्गेभ्यः’ (४।१।५) इति ढीप् । ‘पुष्करिण्यां तु खातकं’ इति हैमः । ‘समचतुरस्ता वापी पुष्करिणी’ इति मिथ्राः । आन्तीति । ‘अमु इतपसि खेदे च’ इत्यसाद्वावे क्लिन्, ‘तितुत्रतथ—’ (७।२।९) इति नेट् । ‘अनुनासिकस्य—’ (६।४।१५) इति दीर्घः, सूर्यातपे-नोत्पन्ना आन्तिः सूर्यातपश्चान्तिः शाकपार्थिवादित्यान्मध्यपद्मोपः । ९ आसन्निति । अस्तेः कर्चरि लङ् ॥ २४ ॥

इति श्रीपञ्चर्णनम् ॥ २ ॥

अथ चतुर्भिर्वर्णा वर्णयति—

१२ दिव्युच्छलहुन्दुभिनादमेघध्वनिर्मयूरान् मदयाश्चकार ।
तत्कूजनोत्कण्टकितैः कदम्बैरिहैव लेभे सुमनोवनश्रीः ॥ २५ ॥

दिवि आकाशे उच्छलहुत्पत्तन् योऽसौ दुन्दुभिनादो दिव्यपटह-

१५ निधोःपः स पूर्व मेघध्वनिर्धनगर्जारवः स कर्तृतामापद्मो मयूरान्वर्हिणो
मदयाश्चकार मदयति स, आनन्दितान्विदधे इत्यर्थः । अथ इहैव
अस्मिन्नेवावसरे तेषां मयूराणां कूजनेन जल्पनेन उत्कण्टकिता उच्छ-

१८ सितासुखूजनोत्कण्टकितास्तैः कदम्बैर्नीपबृक्षैः सुमनोवनश्रीः पुष्परूपा
वनरक्ष्मीलेभे, प्राप्यते सेत्यर्थः । एतावता त्रैलोक्यनाथागमन-

समुद्रवं दुन्दुभिनादमेव मेघध्वनिमाशङ्क्य प्रमुदितानां मयूराणां

२१ कूजनेन समुद्भसिताः कदम्बाः प्रज्ञुतरपुष्पसम्पत्तिमाज्ञो वभूत्वारिति
मावः । दुन्दुभीति । ‘मेरी दुन्दुभिरानकः पटह’ इति हैमः । मद-

२४ यामित्यादि । णिजन्तान्मदेराम्, ‘मर्दी हर्षगङ्गपनस्योः’ इति मित्तान्

‘मितां द्वतः’ (६४१२) । कदम्बैरिति । ‘अथ हलिप्रियः, नीपः कदम्ब’ इति हैमः । लेभे इति । लभेः कर्मणि लिट् । सुमन इत्यादि । वनसम्बन्धिनी श्रीर्वनश्रीः, सुमनसः पुण्याण्येव वनश्रीरिति विग्रहः, ३ सुमनसशब्दो नित्यं वहुवचनान्तः खीलिङ्गश्च ‘पुण्यं सूनं सुमनस’ इति हैमचन्द्रोक्तेः, ‘भूमि खियां सुमनसः’ इति रहकोपकारोक्तेश्च । किञ्च ‘पुण्यं सुमनाः कुसुमं’ इति नाममालादिदर्शनेनास्तैकवचनान्तत्वमपि ६ प्रतीयते । तथा च प्रयोगः—‘विश्या इग्नानसुमना इव वर्जनीया’ इत्यादि ॥ २५ ॥

आच्छादितो यद्यपि यज्ञवृत्त्या
यः केतकैः स्वप्रसवस्तथापि ।
स्वसौरभेणाथ स विश्रुतोऽभू-

११

न्महानुभावः क निलीयते यत् ॥ २६ ॥

११ केतकैर्वृक्षविशेषैर्थः स्वप्रसवो निजपुण्यं यद्यपि यज्ञवृत्त्याऽच्छादितो यज्ञपूर्वकमाच्छाद्य रक्षितोऽभूदित्यर्थः । तथापि अथ स प्रसवः स्वसौरभेण निजसौगन्ध्येन विश्रुतोऽभूत् प्रकटीवभूत् । युक्तोऽय-१५ मर्थः—यत् यसात्कारणात् महान् अनुभावः प्रभावो यस्य स महानुभावः पदार्थः क निलीयते कुत्र प्रच्छन्नभावं भजते, अपि तु न क्वापीत्यर्थः । आच्छादित इति । आइपूर्वाच्छादयतेः कर्मणि चः । यज्ञेत्यादि । १६ यतनं यज्ञस्तेन वृत्तिर्वर्तनं तथा ‘वृत्तिस्तु वर्तने, कैश्चिक्षादौ विवरणे’ इत्यनेकार्थः । केतकैरिति । ‘केतकः ककच्छ्वद्’ इति हैमः । प्रसव इति । ‘पुण्यं सूनं सुमनसः प्रसवश्च मणीवकं’ इति च हैमः । विश्रुत २१ इति । ‘अथ विश्रुतं ज्ञाते हृष्टे प्रतीते च’ इत्यनेकार्थः । अनुभावः इति । ‘अनुभावो प्रभावे स्यान्निश्चये भावसंकुन्ते’ इति अनेकार्थः २३

च । निलीयते इति 'लीङ् शेषणे'दिवादिरात्मनेपदी च । निपूर्वाद-
साकर्त्तरि लट् ॥ २६ ॥

३ सदर्थ्यमर्हन्ति सदार्हणार्हा इतीव बुद्धा कुटजैर्विदग्धैः ।

श्रीतीर्थनाथार्चनचाहुहेतुं वितत्य पुष्पश्रियमाशु तस्ये ॥ २७ ॥

अर्हणां पूजामर्हन्तीति अर्हणार्हाः पूजायोग्याः पुमांसः सदा
६ निरन्तरं सत्समीचीनमर्थं पूजाविधियोग्यपुष्पादिद्रव्यमर्हन्ति । तदु-
पादानाय योग्या भवन्तीत्यर्थं इति एतत्माशुक्तं बुद्धा इव ज्ञात्वा इव
विदग्धैः विचक्षणैः कुटजैस्तरुविशेषैः श्रिया लक्ष्म्या निरुपमोत्तम-
९ केवलज्ञानादिलक्षणया युक्तस्य तीर्थनाथस्य वीरप्रभोरच्चने पूजने
चारुः शोभनो हेतुः कारणं तथाभूतं पुष्पश्रियं कुमुमलक्ष्मीमाशु शीघ्रं
वितत्य विस्तार्य तस्ये स्त्रीयते स । अर्थमिति । 'भूल्ये पूजाविधौ
१२ चार्थं' इत्यमरः । अर्धाय पूजाविधये इदमर्थं 'पादार्धाभ्यां च'
(५०४।२५) इति यत् । अर्हन्तीति । 'अर्ह पूजायां' कर्त्तरि लट् ।

अर्हणेति । 'पूजार्हण सपर्याऽर्चा' इति हैमः । कुटजैरिति ।
१५ 'कुट्जो गिरिमण्डिका' इति च । श्रीतीर्थेत्यादि । उत्तरयद्गोपी
समासः । अत्र हेतुशब्दो नित्यपुण्डिङ्गः । वितत्येति । विपूर्वाचनोते:
पूर्वकाले का तस्य व्यवादेशो 'वाऽस्यपि' (६।४।३८) इत्यनुना-
१० सिक्कलोपः । तस्ये इति । स्याधातोर्भावे लिट् ॥ २७ ॥

घनच्छटाच्छोटनगो घनोद्यदर्पासु हर्षेण यथोऽजृम्भे ।

श्रीवीरनाथागमजातर्हीस्तथा पुष्पुष्पे तरुमिः शिलीन्द्रैः ॥ २८ ॥

११ घनेन घनशृष्ट्या उचत्य उद्गच्छन्त्यः प्रादुर्भवन्त्यो या वर्षासासु
घना निविडा याश्छट्यात्तासामाच्छोटनत आच्छोटनात् शिलीन्द्रैः
१२ सिल्पाभिधानैस्त्रुरभिर्वृक्षेदर्हेण ममोदेन यथा उज्जनृमे विकसितं तथा

तेनैव प्रकारेण श्रीबीरनाथस्यागमेन आगमनेन जात उत्पन्नो हर्षो येषां
तैस्तथाविधैः सद्गुः, शिलीन्द्रिक्षैः पुष्पे पुष्पितम् । इदमत्र तात्पर्यभू—
यथा किल वर्षाकाले सान्द्रजीमूतच्छटासंस्पर्शादुत्पन्नप्रमोदाः शिलीन्द्रा ६
विकसरा वगूलूलैवेदानीमपि श्रीबीरश्वरागमनसमुद्भूतहर्षाद्ये चारु-
तरपुष्पसम्मारमाजो जाता इति । घनेति । ‘निविडं तु निरन्तरं,
निविरीसं घनं ‘सान्द्रं’ इति हैमः । घनोधदित्यादि । अयं घन-६
शब्दो मेघपर्यायः । ‘इण् गतौ’ अदादिरुत्पूर्वादसाङ्कटः ‘उगीतश्च’
(४।१।६) इति छीप्, ‘पुंकत्कर्मधारय—’ (६।३।४२) इति
पुंकद्वावादू छीपो निवृचिः, ‘वर्षास्तपात्ययः प्रायृहृ’ इति हैमः । कठु-९
विशेषवचनोऽयं वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः खीलिङ्गश्च बोध्यः ।
यत्तु वृष्टिवाचको वर्ष(र्प)शब्दस्स त्वत्र न आव्याः, तस्य पुंकीय-
लिङ्गल्वाद्युवचनान्तत्वानियगाच्च । जगृम्भे इति । जृम्भतेर्गावे लिद् । १२
पुष्पुष्पे इति । ‘पुष्प विकासने’ असाङ्कावे लिद् ॥ २८ ॥

इति वर्षाक्तुवर्णनम् ॥ ३ ॥

संप्रति चतुर्भिः शरद्वतुं वर्णयति—

१५

कुत्रापि सान्द्रद्रुमजालगमें सरो विरेजे विमलाम्बुगर्भम् ।

वृतान्वकारेण सुखैकभूमिः समुचिता शारदकौमुदीव ॥ २९ ॥

कुत्रापि सान्द्रा घना ये द्रुमा वृक्षाद्येषां जालं समूहस्सस्य गर्भो १८
मध्यमदेशाद्यसिन्, निविडतरवृन्दमध्यदेशो इत्यर्थः, विमलं वर्षा-
पगमेन फर्दमामावाक्षिर्मलं यदम्बु पानीयं तद्गमें मध्ये यस्य तत्त्वां-
विषं सरस्तडागो विरेजे शुश्रुते सरः । केनः अन्वकारेण पार्थवर्चिः २१
कुव्यादितमसावृता वेष्टिता तथा मुखसैकाऽद्वितीया गूमिः सुखैक-
भूमिस्तथा पुनः समुचिता एकीमूला ईदृशी शारदकौमुदी इव द्वर- २२

द्वचन्द्रज्योत्सा इव यथैवंविधा शारदकौमुदी विराजते तथा तदि-
त्यर्थः । जालेत्यादि । ‘जालं निवहसंचयौ’ इति हैमः । ‘गर्भः
३ कुक्षौ शिशौ सन्धौ अूणे पनसकण्टके । मध्येऽप्नावपवरके’ इत्यने-
कार्थः । विरेजे इति । विपूर्वाद्राजते: कर्त्तरि लिद् । वृतेति । वृत्रः
कर्मणि चक्षः, ‘श्रुकः किति’ (७।२।११) इति नेह । शारदकौमु-
दीति । शरदि धनात्यये भवा शारदी ‘तत्र भवः’ (४।३।६३)
इत्यण्, ‘टिहू—’ (४।१।१५) इति ढीप्, सा चासौ कौमुदी चेति
विग्रहः । ‘शरदधनात्यये’ इति हैमः । ‘चन्द्रातपः कौमुदी च ज्योत्सा’
९ इति च हैमः । ‘नन्वत्र भिन्नलिङ्गयोः कौमुदीसरसोरुपमानोपमे-
यत्वेनोपादानमयुक्तमिति चेत्’, मैव, उपमानोपमेययोर्भिन्नलिङ्गत्वं न
दोषाय बहुर्मिर्महाकविभिरादतत्वात् उक्तं च—‘लिङ्गसंस्ख्याविमेदेऽपि
१२ विशेषणविशेषप्यताविभक्तिः पुनरेकैव विशेषणविशेषप्ययोरिति’ ।
यथा विशेषणविशेषप्ययोस्त्योपमानोपमेययोरपि बोध्यम् ॥ २९ ॥

चन्द्रातपे मूर्च्छितचन्द्रपादैर्दोप्रोदविन्दूनलिनीदलेषु ।
१५ इह प्रमत्ता जगलुः सलीलं मुक्ताफलभ्रान्तिमिता मरालाः ॥३०॥

इहासिन् कृतौ प्रमत्ताः प्रकृष्टमदोपेता अत एव मुक्ताफलानां
आन्ति अमिताः प्राप्ताः मराला हंसपक्षिणश्चन्द्रातपे चन्द्रज्योत्सायां
१८ नलिनीनां कमलिनीनां यानि दलनि पद्माणि तेषु मूर्च्छितां
वृद्धिं प्राप्ता ये चन्द्रपादाश्चन्द्रकिरणासैर्दीप्रा दीप्तिमन्तो ये उदविन्दवो
जलकणासान् सलीलं लीलासहितं यथा स्यादया जगलुर्गलन्ति स,
२१ मक्षयामासुरिति यावत् । अयमर्थः—शरत्काले हि चन्द्रवत्यां रजन्यां
चन्द्रकिरणैर्दीप्तिमन्तो नलिनीदलस्या जलकणा मर्त्तमरालैर्मुक्ताफल-
२४ आन्त्या मक्षिता इति । चन्द्रातपे इति । ‘चन्द्रातपः कौमुदी चं

ज्योत्स्ना' इति हैमः । मूर्च्छितेत्यादि । 'मुच्छी मोहसमुच्छ्राययोः' असाक्षर्त्तेरि कः, 'पाद-दीधिति-कर-द्युति-द्युत' इति हैमः । दीपेत्यादि । 'दीपी दीपौ' 'नमिकंपिसि-' (३।२।१६७) इति ३ रक्, उदकस्य विन्दव उदविन्दवः, अत्र 'मन्यौदनसत्तुविन्दवज्ञ-' (६।३।६०) इति उदकस्योदादेशः । जगलुरिति । 'गल अदने' असाक्षिद्, इता इति इणः कर्त्तरि कः ॥ ३० ॥

परस्परालिङ्गितमातुलिङ्गा दूरादभेदं प्रतिदर्शयन्तः ।
परस्परप्रत्युपदावदातं साधर्मिकत्वेहभिव प्रपन्नाः ॥ ३१ ॥

परस्परालिङ्गितमातुलिङ्गा अन्योऽन्यानालिङ्गव स्थिता वीजपूरकवरवो ९ जनान् दूरात दूरदेशादभेदमभिन्नत्वं प्रतिदर्शयन्तः सन्तः । परस्परेभ्यो चतुर्थीवहुवचनम्, अन्योऽन्येभ्यः प्रति आभिमुख्येन या उपदा प्राभृतं सद्वस्तुदौकनमिति यावत् । तथाऽवदातं निर्मलं 'मनोज्ञं वा १२ साधर्मिकत्वेहं समानधर्मधारकजननीतिं प्रपन्ना इव प्रामुखन्ति सेवेत्युत्तेका । परस्परेत्यादि । परस्परेत्यन्योऽन्यैरालिङ्गिताः संलिङ्घाः पर-
स्परालिङ्गिताखे च ते मातुलिङ्गाश्चेति विशेषणसमाप्ताः । 'मातुलिङ्गो १५ वीजपूर' इति हैमः । दर्शयन्त इति । हेतुमण्णजन्ताद् हर्षेर्लटः शत्, अत्र जनानिति द्वितीयं कर्मपदमध्याहार्यम् । प्रत्युपदेत्यादि । प्रतिशब्दोऽन्याभिमुख्यवचनः, उक्तं च 'व्याध्याभिमुख्ययोर्व्याप्तौ १८ चारणे प्रतिरूप्यते' इति । उपदानमुपदा उपपूर्वादात्, 'आतश्चोप-
सां' (३।१।१३६) इति लियामद्द, 'उपदा प्राभृतं प्रोक्तमुपमाद्य-
मुपायनं' इति हलायुधः । 'अवदातं तु विमले मनोज्ञे सितपीतयोः' २१ इति हैमः । साधर्मिकेति । समानो धर्मः सधर्मस्तु चरन्तीति साध-
र्मिकाखेणां द्वेदस्तु 'धर्मं चरति' (४।४।४१) इत्यनेन ठक् । प्रपन्ना इति । 'पद गतौ' दिवादिरात्मात् प्रदर्शदलात्कर्त्तरि कः ॥ ३१ ॥ २१

नगानुपङ्गात् वितानिताङ्ग वल्लीः समुद्धासवतीः समीक्ष्य ।
संयोगमिष्टैः सकलार्थसारं विलासिलोकोऽन्न विदाक्षकार ॥ ३२ ॥

३ अव्रासिन् क्रतौ विलासिलोको भोगिजनो नगानां वृक्षाणां नगैः
सह योऽनुपङ्गः सर्पकः सङ्गम इति यावत्, तस्मात् वितानं
विखारो ज्ञातमसेति वितानितं तथाविभग्नं शरीरं-वाऽऽसां ता
ं वितानिताङ्गात् यत एव समुद्धासो विकाशोऽस्ति- आसामिति समु-
द्धासवत्यर्था एवंविदा वल्लीर्लताः समीक्ष्य दृष्ट्वा इष्टैर्वल्लभजनैः सह यः
संयोगः संसर्गस्तं सकलार्थेषु समख्यस्तुपु सारं तत्त्वभूतं विदाक्षकार
४ ज्ञानाति स । अयं भावः—तरुवङ्गमसंसर्गात्प्राप्तसमुद्धासा लता निरीक्ष्य
विलासिजन इत्यमर्तर्क्यत्—‘यदत्र संसारे इष्टसंयोगात्परं सारं किमपि
नास्तीति’ । अनुपङ्गाच्चिति । ‘पङ्ग सङ्गे’ अनुपूर्वीः असाङ्गावे
५ पञ्च, ‘उपसर्गात् सुनोति०’ (१०२।१६५) इत्यादिना पत्तं, च ‘चोः
कुः’ (१०२।३०) । इति कुत्तं, हुशब्दः पादपूरणे पुनरर्थे वा ।
वितानितेत्यादि । वितानं कदके यज्ञे विखारे क्रतुकर्मणि इत्यने-
१५ कार्यः । ‘तदस्य सज्जाते’ (५०२।३६) इति तारकादित्वात् इति॒ ।
समीक्ष्येति । संपूर्वादीक्षतेः चत्वा तस्य ल्यप् । इष्टैरिति ।
सहार्थस्य गम्यमानत्वात् ‘सहयुक्तेऽप्रधाने’ (२०२।१९) इति
२० एतीया । ‘षुद्धो यूना’ (१०२।१६५) इति निर्देशात् । विलासीति ।
विलसति तच्छीलः ‘लम् संछेपणादौ’ ‘वौकपलस—’ (३०२।१४३),
इति पिनुण् । ततो लोकशब्देन कर्मधारयः । विदामिति । ‘विद-
२१ ज्ञाने’ ‘उपविद—’ (३०१।३८) इत्याम्, विदेत्यकारान्तनिपातनात्,
लघुपपगुणः (ः) ॥ ३२ ॥

इति दारद्धर्णनम् ॥ ४ ॥

साग्रतं त्रिभिर्भूमन्तं वर्णयति—

यथा रसो व्यापिपरद्धिमत्तौ

पुण्ड्रेभुकाण्डेषु तदा तथैव ।

कालो जडथेत्सकलार्थसिद्धै

क्षमो भवेत्क न पतिद्विलोक्याः ॥ ३३ ॥

यथा येन प्रकारेण हिमर्चौ हेमन्तकाले पुण्ड्रः पुण्ड्रजातीया ये ६
इक्षवो रसालवृक्षास्तेषां काण्डेषु स्कन्धेषु रसो मधुरात्मादो व्यापिपरत्
व्यापृष्टोऽभूत् परिणमति सेति यावत् । तथैव तेनैव प्रकारेण तदा
तस्मिन् काले प्रमोरागमनसमयेऽपीत्यर्थः । इक्षुकाण्डेषु रसो व्यापि-९
परत् इत्यावृत्त्या योज्यम् । ‘ननु कालद्रव्यस्याऽजीवलेन जडरूपत्वा-
त्कथमीद्विविधानसामर्थ्यं सद्व्यापटीति’ इत्याशङ्कयाह-काल इत्यादि ।
चेददि कालोऽनेदा नडोऽचेतनसाथाविधकार्यकरणेऽश्वमोऽस्तीत्यर्थः । १२
तथापि त्रिलोक्याः पतिद्विलोक्येष्वरो जिनः सकलार्थसिद्धै समस्त-
कार्यसिद्धैये किं न क्षमो न समर्थो भवेत्, अपि तु भवेदेवेत्यर्थः ।
एतेन भगवदतिशयादैवेकसिन् काले सर्वतुप्रादुर्मावो न स्वन्यस्य १५
कस्यापि प्रभावादित्यावेदितम् । व्यापिपरदिति । ‘पू पालनादौ’
दीर्घान्तो जौहोत्यादिकश्च ज्याहपूर्वादसात्कर्त्तरि लङ् । ततो द्वित्वादौ
कृते ‘ऋग्मोर्दिस्सोर्वा’ इत्यडागमः, यदपि पाणिनीयादौ एतत्सूत्रा-१८
भावाद् व्यापिपरित्येवं रूपं दृश्यते तथापि सारसतादावेतत्सद्व्यावान्
दोपः । हिमर्चाचिति । हिमं प्रवानं यत्र स हिमप्रधानः, स चाऽसौ
क्रतुष्ठ हिमतुरुसमिन् शाकपार्थिवादित्वान्मध्यपदलोपः । पुण्ड्रेति । २१

१ वैष्टेश्वरसुदण्डनम्यप्रद्युम्निर्विते माधवविवरणोपेते सारसतायाकरणे १४२
तमप्त्वे नमप्त्वे वार्तिकस्येष दृश्यते.

‘भेदाः कान्तारपुण्ड्राद्यास्तस्य’ इति हैमः । कान्तार १ पुण्ड्र २
 इत्यादयस्तस्येक्षोर्भेदाः सन्तीति तदर्थः । काण्डेष्विति । ‘काण्डो
 ३ नालेऽधमे वर्गे द्रुस्कन्धेऽवसरे शरे’ इत्यनेकार्थः । सकलेत्यादि ।
 सकलाश्च तेऽर्थांश्च सकलार्थस्तिपां सिद्धिर्निष्पत्तिस्तस्यै अलमर्थकस्य
 क्षमपदस्य योगे ‘नमःखस्ति—’ (२।३।१६) इत्यादिना चतुर्थी ।
 ४ त्रिलोक्या इति । त्रयाणां लोकानां समाहारखिलोकी, तस्याः
 ‘तद्वितार्थ—’ (२।१।५।१) इत्यादिना समाहारे द्विगुः । ‘द्विगोः’
 (४।१।२।१) इति छीप् ॥ ३३ ॥

५ प्राकुद्धलेषु प्रसवेषु पश्चा-
 उनानुरागेण ततः फलेषु ।
 दधे पदं दाढिमपादपानां

१२ यत् सुन्दराणां न हि सुन्दरं किम् ॥ ३४ ॥
 जनानां लोकानामनुरागोऽनुरतिसेन कर्तृभूतेन प्राक् पूर्वं दाढि-
 मपादपानां दाढिमवृक्षाणां कुञ्जलेषु मुकुलेषु ईपद्विकसितकलिकामु-
 १५ इति यावत्, पदं स्यानं दधे धृतं, पश्चात् प्रसवेषु तेषामेव पुष्पेषु पदं
 दधे । तत्तद्विद्वनन्तरं तेषां फलेषु पदं दधे । अयमर्थः—पुष्पफलोत्पत्तेः
 पूर्वं(हि)दाढिमानां मुकुलेष्वेव जनानामनुरागः समाजनिष्ट ततः पुष्पो-
 १८ त्पर्वौ सत्यां तत्रानुरागोऽभूत् तदनु फलप्रादुर्भावे तत्रैव जनानु-
 रक्षता जातेति । एतदेय द्रदयति—यत् यसात्कारणात् सुन्दराणां
 शोभनानां किमऽवयवादि सुन्दरं न हि भवेत् सर्वमपि सुन्दरमेव
 २१ स्यादित्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—‘यतो दाढिमवृक्षाः स्यमेव शोभ-
 नानुतो मुकुलाद्यास्तदवयवास्तु शोभनाः स्युतेव अथ शोभनत्याच
 सर्वेष तर्यादवयवेषु जनानुरागो पटत’ एवेति । मुकुलेष्विति । कुञ्जलो
 २४ मुकुलोऽखियो’ इत्यमरः । अन्वित्यादि । ‘एगोऽनुरागो रतिः’ इति

हैमः । दधे इति । धूवः कर्मणि लिद् । पदमिति । ‘पदं स्थाने
विभक्तयन्ते शब्दे वाक्येऽङ्गवस्तुनोः’ इत्यनेकार्थः ॥ ३४ ॥

विनाऽपि कालं यदहो कुवल्यः पुष्पैर्दलैः सान्द्रतरा वभूवुः । ३
तदैवतैर्देवपतेः प्रभावो व्यक्तीकृतो भक्तिपरैः पुरेव ॥ ३५ ॥

अहो इति आमद्वाणे, मो लोकाः । कुवल्यो वदर्यः कालं विनाऽपि
पुष्पाद्युत्पचिसमयमन्तरेणापि यत्पुष्पैः कुमुमैर्दलैः पत्रैश्च सान्द्रतरा ६
अतिनिविडा बभूत्सद्वक्तिपरैः सेवात्पत्यर्देवतैः सुरैः पुरेव प्रभो-
रागमनात् प्रागेव देवपतेर्वारप्रभोः प्रभावो माहात्म्यं व्यक्तीकृतः ।
प्रकटितोऽभूदित्यर्थः । कुवल्य इति । ‘कर्कन्धुः कुवली कोलिर्वर्दंरी’ ९
इति हैमः । सान्द्रेत्यादि । अतिशयेन सान्द्राः ‘अतिशयेऽर्थे
तरप्’ । दैवतैरिति । देवता एव दैवतं, ‘प्रज्ञादित्वात् स्थार्थेऽण्’ ।
पुंछीवलिङ्गोऽयम् । देवानां चतुर्विधसुराणां ब्रह्मविष्णु- १२
महेशादीनां वा ज्ञानादिपरमातिशयसम्पन्नत्वात्पतिर्विमुदेवपतिस्तस्य ।
व्यक्तीत्यादि । अव्यक्तो व्यक्तः सम्पदते तथाकृतो व्यक्तीकृतः
‘कृभ्यस्ति—’ (५।४।५०) इत्यादिना च्छिप्रत्ययेऽस्य ‘चौ’ (६।३।१३८) १५
इतीकारः । भक्तीत्यादि । भक्तौ परा भक्तिपरास्तैः भक्तिरेव परा
श्रेष्ठा येषां तैरिति वा । पुरेति । आदन्तमव्ययमिदं ‘प्राक् पुरा
प्रथमे’ इति हैमः ॥ ३५ ॥ १६

इति हेमन्तवर्णनम् ॥ ५ ॥

अथेकेन शिशिरं वर्णयति—

सुखादुरुपैर्वदरैर्लुलन्त्यो यतो वदर्यो भुवमाससञ्जुः ।
नद्योगिनां चापि विलासिपुंसामासीद्वहोभूमिरिहाऽथितानाम् ॥ २२
३ गी० का०

१ इहासिन् ऋद्वौ सुखादुरूपैः सुखादुभिः सुखपैश्च वदरैर्निजफलैः
 लुलन्त्यो नभ्रीभवन्त्यो वदर्यः कुबलीवृक्षा यतो यसात्कारणाद्वयं
 २ पृथ्वीमाससञ्जुरालिलिहृः, तच्चसादेतोः आश्रितानाम्—एनां मुवमाश्रित्य-
 सितानाम्, योगिनां योगवतां नरणां, च पुनर्विलसिपुंसां भोगिमनुप्या-
 णामपि रहोभूमिरेकान्तस्यानमासीद्वभूव। रहोभूमिकाङ्गिणो हि योगिनो
 ६ वा भोगिनो वा भवन्तीत्यतस्तेषामेव ग्रहणम्। सुखादुरूपैरिति ।
 सादु भूरो रसः, रूपं वर्णं आकृतिर्वा, सादु च रूपं च सादुरूपे
 शोभने सादुरूपे येषां तानि तैः । वदरैरिति । वदर्याः फलानि
 ९ वदराणि तैः, अनुदाचादित्वादन् ‘फले लक्ष’ (४।३।१६३) इति
 लक्ष, ‘लक्षतद्वित—’ (१।२।४९) इति ढीपो लक्ष । आससञ्जु-
 रिति । ‘पञ्च सङ्गे’ आदपूर्वादसात्कर्चरि लिद् । योगिनामिति ।
 १२ ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’, सोऽस्त्येषामिति मत्वयेऽन्तिः । विलासी-
 त्यादि । विलासिनश्च ते पुमांसश तेषाम् । रह इत्यादि । रहश्चासी-
 भूमिश्चेति विग्रहः । रह इति सान्तमव्ययमनव्ययं च । ‘रहो गुणे
 १५ रते तत्त्वे’ इति हेमः । गुणे एकान्ते इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

इति शिशिरवर्णनम् ॥ ६ ॥

अथ लेशतः सर्वर्तुसाधारणवर्णनमाद्—

१६ दलान्यपीप्ये खलु दुर्लभानि
 येषामगानां गुमनःफलैस्ते ।
 अर्चाविवात्यन्तविलोकनीया

२१ भूता अहो मागवतोऽनुमायः ॥ ३७ ॥

येषामगानां वृक्षाणां इच्ये वसन्ते दलानि पञ्चाण्यपि दुर्लभानि
 २२ अगृष्टनिति शेषपुण्यफलादिकं तु दूरे तिष्ठतु दलान्यपि नासनिति

अपिशब्दार्थः, ते वृक्षाः स्वस्यात्मनोऽयः क्रतुखसिनिव सुमनःफलैः पुष्पफलैरत्यन्तविलोकनीया अत्यन्तं यथा स्यात्था निरीक्षणीया भूता अभूतम् । यथा सर्वां अतिरस्या भवन्ति तथेदानीं अभूता इत्यर्थः । ३ अन्नोपपत्तिमाह—‘अहो इत्याश्चर्ये’ भगवतोऽयं भागवतः भगवत्सम्बन्धी अनुभावः प्रभावो विलोक्यतामिति शेषः, यद्याना एवंविधास्त्रव्याजातात्मत्र प्रभोरतिशय एव कारणं नत्वन्यत् किमपीति भावः । इप्ये इ इति । ‘वसन्त इप्यः सुरभिः’ इति हैमः । खलिवति । इदं वाक्यालङ्घरे निश्चये वा, दुर्लभानीति दुःखेन लभ्यन्ते इति ‘ईपद् दुःखुपुः’ (३।३।१२६) इति खल् । ‘उपसर्गात्’ (७।१।६७) इति नियं-९ मानुषभावः । सुमन इत्यादि । सुमनसश्च फलानि च तैः । भाग-चत इति । ‘तस्येदम्’ (४।३।१२०) इत्यण् ॥ ३७ ॥

अथ सामान्यतो वनं वर्णयति—

१२

पुष्पैः फलैर्वा युगपत्समिद्दे नीरन्ध्रनीलद्रुमकाननेऽसिन् । प्रतिविणस्तारविराववन्तो वर्त्स्यच्छुभोदर्कमिवाऽचिकीर्चन् ॥३८॥

पुष्पैर्वा पुनः फलैर्युगपत्समकालं समिद्दे व्याप्ते शोभिते वा ३९ सिन् नीरन्ध्राणां सान्द्राणां नीलानां नीलवर्णानां द्रुमाणां वृक्षाणां कानने धने तार उच्चेष्टरो यो विरावो व्यनिः स विद्यते एपामिति तथाविधाः पत्त्रिणः पक्षिणः कोकिलाद्याः वर्त्स्यन् प्रवर्चिप्यमाणः ४० शुभः प्रशस्तो य उदर्कं आगामिकालोद्भवं फलं तमचिकीर्चनिव कथयामासुरिवेत्युत्पेक्षा । उचरकाले हि अत्र शुभप्रवृत्तिर्मविष्यतीत्याग्नुरिवेति भावः । समिद्दे इति । ‘निहन्वी दीसौ’ संपूर्वादसात्कर्परि ४१ कः, ईदित्वानेह । नीरन्ध्रेति । ‘निविरीसं धनं सान्द्रं नीरन्ध्रं’ इति हैमः । पत्त्रिण इति । पत्त्राणि तनूदृशाणि सन्त्येषामिति मत्वर्थे ४२

इनिः । तरेरति । 'तारोऽस्युच्चर्वनिः' इति हैमः । वर्त्सदित्यादि ।
 'वृतु वर्चने' आत्मनेपदी 'वृज्ञः स्यसनोः' (११३१२) इति परस्मै-
 ३ पदं, 'न वृज्ञश्चतुर्भ्यः' (७।२।५९) इतीडमावः, शुभमस्त्य-
 सिनिति शुभः अर्शादित्यादध्, 'उदर्कस्तद्वं फलं' इति हैमः ।
 उचरकालोद्ग्रवमित्यर्थः । अचिकीर्चनिति । 'कृत संशब्दने'
 ४ तुरादिः लहू । 'उपवायाश्च' (७।१।१०१) इति 'अृत इत्'
 (७।१।१००) इति रपत्वम् ॥ ३८ ॥

विभ्राजमानाऽन्नवदेव दूराचच्छयामलाभं विषिनं वभासे ।
 ९ मेरोरित्वाऽजनीय धृतं धरित्यामैन्द्रं वनं भक्तिभृतैरमत्येः ॥३९॥

दूरादूरप्रदेशात् श्यामला आमा प्रमा यस्य तचयाविधैँ तत्
 प्रागव्यावर्णितस्तरुपं विषिनं महसेनास्त्वयं वनं विभ्राजमाना दीप्यमानाऽ-
 १२ अघटा इव भेदघटा इव वभासे शुशुभे । यथा दूरात् श्यामलामा घनवद्य
 शोभते तथेदमित्यर्थः । उत्तेष्ठते—किमिवः भक्तियुक्तैरमत्येदिव्यमेरोः
 कनकाचलात् आनीयं धरित्यां पृथिव्यां धृतं स्यापितं ऐन्द्रं इन्द्रसंबन्धि
 १५ वनमिवनन्दनास्त्वयं काननमिव इदं महसेनपण्ड भवति(भाति!), किंतु(!)
 भक्तैः सुरैमेरोः सक्षादादिहनीतं नन्दनं वनमेवासीति उत्तेष्ठते इति
 भावः । अग्रेति । 'अग्रं मेघो वारिवाहः' इत्यमरः । श्यामलेति ।
 १८ 'स्याद्रामः श्यामः इत्यामः' इति हैमः । विषिनमिति । 'अटव्यरण्यं
 विषिनं गहनं काननं धनं' इत्यमरः । वभासे इति । 'भाद्रं दीप्ती'
 कर्चरि लिद् । आनीयेति । आद् पूर्ववयते: पूर्वकाले कत्वा
 २१ तस्य स्यम्, पृतिमति धृमः कर्मणि सः । ऐन्द्रमिति । इन्द्रसेदमित्यर्थे
 'तस्येदम्' (१।३।१२०) इत्यग् । भक्तीत्यादि । भवत्या भृतः
 २२ पूरिवास्तुः । अमर्यंरिति । 'अमर्या अमृतान्धनः' इत्यमरः ॥३९॥

छायाभरेणोच्छ्रुतभूरुहणां वभार सा भूरपि मेचकाभाष्य ।

त्रैलोक्यनाथक्रमधारणाय स्तुतेव गारुत्मतशक्नीलैः ॥ ४० ॥

यत्र भुवि महसेनपण्डं वर्तते सा भूरपि पृथ्वी अपि उच्छ्रुत-^३
भूरुहणामुञ्चतवृक्षणां छायाभरेण छायासमूहेन मेचकाभां कृष्णप्रभां
वभार धारयामास । अत्रोत्पेक्षते—त्रैलोक्यनाथस्य वीरप्रभोः क्रम-
योश्वरणयोर्धारणाय विन्यासाय गारुत्मतशक्नीलैः मरकतेन्द्रनील-^६
मणिभिः स्तृता इव आच्छादिता इव, यतो मरकतादिभिरास्तृताऽपि
भूमिर्मेचकाऽभां विभर्ति । भूजः कर्तृरि लिद् । मेचकेति ।
'कृष्णस्तु मेचकः' इति हैमः । मेचका चासौ आभा चेति विग्रहः ।^९
त्रैलोक्येत्यादि । त्रयश्च ते लोकाश्च त्रिलोकास्ते एव त्रैलोक्यं, 'स्वार्थे
प्यः' । 'पदोऽद्विश्वलनः क्रमः' इति हैमः । अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी ।
स्तुतेति । स्तृजः कर्मणि कः । गारुत्मतेत्यादि । गारुत्मतानि च ^{१२}
शक्नीलश्च ते: 'मरकतं त्वश्मगर्भं गारुत्मतं हरिन्मणिः' इति,
'नीलमणिस्त्वन्दनीलः' इति च हैमः ॥ ४० ॥

अथोपसंहरति—

१५

इत्थं तत्फलकुमुमच्छदाभिरामं

तत्कर्माधिकृतकृती जिनेन्द्रभक्तः ।

स्वाजस्मैः सह महसेनयक्षराजः

१६

सं पण्डं लघु परिमण्डयात्वकार ॥ ४१ ॥

तस्मिन् कर्मणि वनसंस्कारकियायां येऽधिकृता अधिकारिणो
देवात्मेषु कृती विचक्षणस्या जिनेन्द्रस्य वीरप्रभोर्भक्तः सेवकः एवंविष्यो ^{२१}
महसेनयक्षराजो महसेननामा यक्षाधिपतिः स्वसाऽत्मनो येऽत्माः
सेवकमाया व्यन्तरदेवात्मैः सह फलकुमुमच्छदाभिरामं फलपुष्पपत्रै ^{२३}

रमणीयं तद् प्रागुक्तस्तरुपं स्वमात्मीयं पण्डं काननसित्थमुक्तप्रकारेण
लघु शीघ्रं परिमण्डयाद्वकार समन्तात् शोभितं चके । फलेत्यादि ।
३ फलानि च कुमुमानि च छदानि च फलकुमुमच्छदानि तैरभिरामं
रम्यं ‘वहं पण्डं दलम्’ इति हैमः । अस्यमैरिति । ‘सहयुक्ते—’
(२।३।१९) इति तृतीया । ‘गीर्वाणा मरुतोऽस्यामा’ इति हैमः ।
४ महसेनेत्यादि । यक्षाणां राजा यक्षराजः ‘राजाहःसदिभ्यः—’
(५।४।११) इति टच् । महसेनशासौ यक्षराजश्चेति कर्मधारयः ।
लघियति । ‘शीघ्रं क्षिप्रं द्रुतं लघु’ इति हैमः । परिमण्डयामिति ।
९ ‘भडि मूपायां’ चुरादिः ‘कास्पत्ययात्—’ (३।१।३५) इत्याम् ।
‘अयामन्त्—’ (६।४।५५) इति णेरयादेशः । इदं प्रहर्षिणीदृत्तम् ।
तद्वक्षणं च—‘झौ ज्ञौ गखिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्’ इति ॥ ४१ ॥

१२ अथ कविः काव्यवर्णन(स्त्र)नामाख्यानपूर्वकं सर्गसमाप्तिं कथ-
यति—

इति श्रीकविस्त्रपचन्द्रविरचिते गौतमीये महाकाव्ये
१५ महसेनवनवर्णनो नाम ग्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इतिशब्दः परिसमाप्ती, श्रीस्त्रपचन्द्रेति कविग्रामकथनम्, गौत-
मीय इति काव्यग्रामकथनं, गौतमभिकृत्य श्रुतो ग्रन्थं इति
१८ गौतमीयं दृपत्ययः । यर्जितं चात्र पद्मकुर्वणनद्वारा महसेनवनमिति,
एवगुरुरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

इति याचनायाद्दरमाकस्यालगणितायां गौतमीयप्रदद्यन्धव्याद्यायां
१९ गौतमीयप्रकाशाद्यामां प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः सर्गः ।

अथ पवनकुमारनिर्जराणां हृदि जगदीश्वरभक्तिराविवेशु ॥
रणरणकभृतां तया समेषां प्रतिमुखमाविरभूच भारतीयम् ॥१॥३

जगद्वयाऽधीश्वरतां यदीयां जनेषु प्रख्यापयितुं किलोद्यैः ।
व्याधायि घपत्रयमाशु लेखैस्तमीश्वरं वीरजिनं प्रणीमि ॥४॥४

अथाऽनन्तरं पवनकुमारनिर्जराणां वायुकुमारदेवानां हृदि भासे ६
जगताभीश्वरो वीरप्रभुस्तस्य भक्तिउपास्तिः । आविवेश प्रवेशं कृतवान् ।
तया तया भजया रणरणकभृतामौत्सुकयं विक्रितां समेषां संमतानां
तेषां देवानां प्रतिमुखं मुखे मुखे इत्यं वद्यमाणा भारती वाणी ९
जाविरभूत् प्रादुर्बभूत् । चशब्दः समुच्चये । निर्जरेति । ‘अमरा निर्जरा
देवाः’ इत्यभरः । आविवेशेति । ‘विश्व प्रवेशने’ कर्त्तरि लिङ् ।
रणरणकेति । ‘औत्सुकयं रणरणकोत्कंठे’ इति हैमः । रणरणकं १२
विग्रहीति भूत्वः किष्य । त्रेषामिति । समशब्दः सर्वैर्षायोऽत एव
सर्वनामकार्यम् । प्रतिमुखमिति । मुखं मुखं प्रतीति विग्रहः । ‘अव्ययं
विभक्ति-’ (२११६) इत्यादिना वीप्सायामव्ययोगावः । भार- १५
तीति । ‘धात्राक्षी भारती गौरी’रिति हैमः । असिन् सर्वे पुष्पि-
ताप्रावृत्तं, तद्वक्षणं च—‘अयुजि नयुगरेफतो यक्तारो युजि च नजौ
जरगाथ पुष्पिवाप्ता’ इति ॥ १ ॥

केयमित्याह—

कुरुत गुरुत रे रजोऽपनोद्दं
द्विपत्र मुद्दूमदःसलाद्मेष्यम् ।

समवसरणहेतुनाऽस्य भर्तु-

वित्तुत योजनमाशु भूमिशुद्धिम् ॥ २ ॥

३ रे देवाः, अस्य भर्तुर्महावीरत्वामिनः समवसरणहेतुना समवसरण-
निमित्तं रजसो धूलेरपनोदोऽस्याशारसं कुरुत, तथाऽदःस्थलादेतत्स्था-
नादमेव्यमपवित्रं वस्तु मुत्तरामतिशयेन दूरं दूरप्रदेशे क्षिपत मुच्चत ।
४ इत्थं च योजनं यावत् जाग्नु शीर्षं भूमिशुद्धिं वित्तुत विस्तारयत ।
कुरुतेत्यादि । अत्र 'संभ्रमेण प्रवृचौ' (२०) इत्यादिवचनाहित्वम् ।
स्थलादिति । अत्र दूरशब्दयोगे 'दूरान्तिकार्थः' (२१३।३४) इति
५ पञ्चमी ॥ २ ॥

द्वुतत्रमथ विकियाप्रसूतैर्मदनिर्लव्वनभूतलाद्वदस्तः ।

विकिरदधकरोऽपि योजनान्ते निपतित उन्नतवप्रतामवाप ॥३॥

१२ अधेदम्याणीप्रादुर्भावानन्तरं विकिया वायुकुमारदेवकृतविकुर्वे-
ण्या प्रसूतैरुत्पैद्र्मद्दिरितस्ततः सञ्चरद्विरनिर्लव्वायुभिर्वनभूतलाद्वन-
न्मैः सकाशात् द्वुतर्वरं शीप्रतरं उदस्त उत्क्षिप्तः, उत्पाटित इति यावत् ।

१५ अत एव विकिरन् प्रतिदिशं विक्षिप्त् अवकरोऽपि अस्थिकाएष-
फण्टकादिकचवरोऽपि योजनान्ते चतुःक्रोशमान्ते निपतितः सन्
उन्नतवपतां तुहमाकारतां अवाय प्राप्तवान् वाहुश्वादुच्छस्त्रप्राकार
१० इवाभूदित्यर्थः । प्रसूतैरिति । पूर्वो फर्मकल्पविवक्षया कर्चरि कः ।
अनिर्लव्विरिति । कर्चरि तृतीया । उदस्त इति । उत्पूर्वादस्तते:
फर्मणि कः । विकिरदित्यादि फर्मघारयः ॥ ३ ॥

यिपिनपरिमृजापराः समीराल्लद्वकरोपरि चिकिष्म् रजासि ।

११ भगवति भवतीह सन्निष्ठेऽसरजस्ता तु शुतो न विप्रछृष्टा ॥४॥

विपिनपरिमुजायां वनप्रमार्जने पराकृत्यराः समीरा वायवस्तस्या-
बकरस्योपरि रजांसि धूलीश्चक्षिपुः क्षिपन्ति स । युक्तोऽयमर्थः—
‘इहासिन् लोके भगवति श्रीमज्जिनेन्द्रे संनिछुष्टे समीपवर्त्तिनि भवति ३
सति कुतः कस्त्रात् सरजस्ता मलिनता न विप्रकृष्टा न दूरीभूता ६ ।
भगवत्सांनिध्यतो हि सर्वेभ्योऽपि मालिन्यं दूरीभवेदेवेत्यर्थः । विपि-
नेत्यादि । तत्पुरुषोऽयं, यद्वा विपिनस्य या परिमुजा शोधनं सा परा ६
प्रधानीभूता येषामिति वहुव्रीहिः । ‘कान्तारं विपिनं कक्षः स्यात् पण्डं
काननं वनं’मिति हैमः । परिमुजेत्यत्र भिदादित्यात्मियामङ् । ततष्टाप्
भवतीति शश्रन्तात् सप्तमी । सरजसतेत्यादि । रजसा सह वर्चमानं ९
सरजसमिति वहुव्रीहिः, ततस्तस्य भावस्तुता । अत्र ‘अचतुर्’
(५।४।७७) इत्यादिना समासान्तोऽच्, ततस्तत् । ‘ननु रजोऽप्य-
परित्यजेति सरजसमित्यव्ययीभावे एवाऽच्, वहुव्रीहो तु सरजःपंकज- १२
मित्येवं इति शब्दशाखोक्ते: कथमन्नाऽच् इति ‘चेत्’—सत्यं महाक-
विभिर्वहुव्रीहावपि प्रयुक्तत्वान्नाऽत्र दोषः । तथा च माघः—‘सरज-
सगकरंदनिर्वर्तरात्’ (७।४।२) इत्यादि । एवं ‘सरजस्तामवनेरपां १५
निपात’ इत्यादावपि वोध्यम् । तुरवधारणे, ‘विपकृष्टपरे पुनः दूरे’
इति हैमः ॥ ४ ॥

सप्दि तदनुगाः प्रभूतभूता

३६

ललनपरास्तुमुलकियाभियुक्ताः ।

इव खनकजना विभज्य भागै-

विपमतमामसुजन् समां घरित्रीम् ॥ ५ ॥

२१

तत इत्यव्याहारात् तदनन्तरं ललनं क्रीड़नं परं प्रधानं येषां ते
तथाऽत एव तुमुलकियायां व्याकुलशब्दकरणेऽभियुक्ता उद्यता एवं- २२

विधासेषां वायुकुमारदेवानामऽनुगाः सेवकप्रायाः प्रभूता वहदो भूता
भूतजातीया व्यन्तरदेवाः स्वनकजना इव भूमिस्वनकलोका इव विषम-
३ तमां निश्चोन्नतरुपेणाऽतिविषमां धरित्रीं भागैर्विभज्य विमागीकृत्य
सपदि शीश्रं समां समप्रदेशामऽस्त्रजन् कुर्वन्ति स। ललनेति। 'देवनं
कूर्दनं खेला ललनं वर्करोऽपि चेति हेमः। ललनपरा इत्यनेन हि
६ तेषां सभावोक्तिः। 'तुमुलो व्याकुलो रवः' इति हेमः। अस्त्रजन्मिति।
सुजेख्यौदादिकालर्चरि लङ् ॥ ५ ॥

इति पवनकुमारदेवसहे स्वकुलकृतौ कृतकृत्यतामवासे ।
९ सपतिनयननोदनप्रणुनः स्वनितवडित्सुमनोव्रजः ससज्ज ॥ ६ ॥

इत्यमुना प्रकारेण पवनकुमारदेवानां सहे समूहे स्वकुलस्य या कृतिः
किया तस्यां विषये कृतकृत्यतां अवासे प्राप्ते सति सपत्योः स्वसा-
१२ मिनोर्या नयननोदना नेत्रप्रेरणा तया, प्रणुनः प्रेरितो यद्वा सपतिभ्यां
नयननोदनया प्रणुनः प्रेरितः सन्, स्वनिताः स्वनितकुमारास्त्रहितो
विशुकुमारा ये सुमनसो देवासेषां व्रजः समूहः ससज्ज सोचितकियां
१५ विधातुं सज्जो वग्नेत्यर्थः। कृतेत्यादि। कृतानि कृत्यानि
कार्याणि येन स कृतकृत्यस्वस्य मावस्था राम्। प्रणुन इति।
‘नुदविदोद—’ (१२।५६) इत्यादिना चक्ष्य वैकल्पिकं नत्यम्।
१८ स्वनितेत्यादि। द्वन्द्वाऽनन्तरकर्मपारयगर्भस्तुरुलः ‘द्वन्द्वारकाः सुमन-
ससिदद्या अमत्यां’ इति हेमः। सप्तमेति। ‘पस्त गतौ’ भौवादिक-
सुतः कर्त्तरि लिट् ॥ ६ ॥

११ फयगित्याह—

सिगवरनुजलभूद्विशुर्यणामिदिवममरा धुरि चकुरग्रलिपीम् ।
१५ रद्दु रद्दु सलिलसद्माभिरामं शृद्वमुदिरं द्ववमाद्वा विचतुः ॥ ७ ॥

अमराः सनितकुमारादयो देवा धुरि आदौ सिंता शेता तनुः
शरीरं येषां ते सिरतनवः एवंविघा ये जलभूतो मेघस्तेषां विकुर्वे-
णाभिः रचनाभिर्दिवमाकाशं अग्रलिसीमऽख्याऽपपटलयुक्तां चक्रुः ३
कुर्वन्ति स, तदनु ततः पश्चात् ते देवाः आदृता आदरयुक्ताः सन्तो द्रुतं
शीघ्रं सलिलस्य पानीयस्य सङ्कमः सङ्कमणं तेन अभिरामं मनोहरं भूदुः
कोमलो यो मुदिरो मेघस्तं विचकुः विकुर्वति स । दिवमिति । ५
'दिवशब्दः' स्त्रीलिङ्गः । अभ्रेत्यादि । अत्यैरअैलिङ्गेति विग्रहे
'कादख्यायाम्' (४।१।५।१) इति ढीप् । मुदिरमिति । 'नग्राद्
तडित्वान् मुदिरो घनाघनः' इति हैमः ॥ ७ ॥ ५

ततः किं संजातमित्याह—

मधुरमतितरां जगर्ज नग्रादभिषुखगुञ्जनवायुधद्वन्नेन ।
उपलयुगलवत्समीरयर्पाच्यतसुषु दिक्षु विदिद्युते च विद्युत् ॥८॥ १२

नग्राद् मेघः अभिषुखं समुखं गुञ्जनं यस्त तादृशो यो वायुखास्य
पद्मनं सहृद्दखेन अतितरामतिशयेन मधुरं यथा स्यात्था जगर्ज गर्बति
स । च पुनश्चतस्रपु दिक्षु विद्युत् उपलयुगलवत् पापाणद्वयमिय समीर- १५
पर्पाद् यासुसंसर्गाद् विदिद्युते घोतते स । यथा पापाणद्वयं परस्पर-
पर्पणाद् घोतते तथेत्यर्थः । विदिद्युते इति । 'द्युर दीसी' कर्त्तरि
लिद् । 'पुतिसाप्योः' (७।४।६७) इति संप्रसारणम् ॥ ८ ॥ १२

तदनु तणतणायमानमेघोऽप्यविरलजालमसुम्युवज्जलानाम् ।
उपशमभूदियोदितं कृपायं प्रसमरमाशु रजो निनाय शान्तिम् ॥९॥

तदनु ततः पश्चात् तणतणायमानस्त्रणचणच्छब्दं कुर्वाणो मेषोऽपि
जलानामविरलजालं निपिद्यसगृहमसुवत् स्त्रवति स । अत एव स २२

मेघः जलवर्षणादेव प्रसुमरं विस्तरणशीलं रजो धूर्लीं आशु शीत्रं
शान्तिमुपश्चमं निनाय प्रापयति स । कः कमिव । उपशमं विभर्तीति
३ उपशमभृत् उपशमी साधुः कुतोऽपि कारणात् उदितमुदयं प्राप्तं कथायं
कोधादिकमिव । यथा॒सौ तं सद्य उपशमयति तथेत्यर्थः । तण-
तणेत्यादि । तणतण(त्)भवतीति तणतणाभवति ‘अव्यक्तानुकरणा’
६ (५४४५७) इति तणच्छब्दात् डाच्, ततो द्वित्वे कृते पूर्वपरयो-
वीणीयोः पररूपं तकारस्ततिलोपः, तणतणाभवतीति तणतणायते २
तणतणायमानः ‘लोहितादिडाज्ञ्यः—’ (३१११३) इत्यनेन डाज-
९ न्ताद्वयत्यर्थं क्यप् । ततो लटः शानच् । असुमुवदिति । ‘मु गतौ’
‘णिश्रिद्विसुभ्यः’ (३११४८) इति कर्चरि चह । ततो द्वित्वम् ।
निनायेति । द्विकर्मकान्नयते: कर्चरि लिद् ॥ ९ ॥

२२ मृदपि घनजलाभिपिक्तभूमेः
सुरभितरं विभरांवभूव गन्धम् ।
प्रकटयति सहायतां हि यातं
१५ सहजगुणानपि वस्तुनो निमिच्चम् ॥ १० ॥

तसिन्द्रवसरे घनजलेन मेघपानीयेन अभिपिक्ता सिक्का या मूर्मि-
त्स्या वृत् मृचिकाऽपि सुरभितरं अतिसुरभिगन्धं विभरांवभूव घार-
१८ यामास । युक्तोऽयमर्थः—हि यतः कारणात् निमिच्चं निमिच्चकारणं
सहायतां सादाप्यं यातं प्रातं सत् वस्तुनः पदार्थस्य सहजगुणान्
त्सामाविकगुणानपि प्रकटयति प्रकटीकरोति । एवायता गन्धः समावा-
२१ देव लोके^१ पृथिव्या गुणत्वेन इयातोऽस्मि, स च जलगृहिणा-

^१ गन्धस्ती ‘शुष्पिकी’ इति नैकाविष्टसोके ।

संयोगे विशेषतः प्रादुर्भवतीत्यर्थः । विभरामिति । ‘भीहीभूहृत्ताम्’
(३११३९) इत्यादिना भूजो लिटि आम्, शुचद्वावाहित्वादि ॥१०॥

गगनसृतजलच्छटाप्रपाता-

दपहृतरेणुमला द्रुमा विरेजुः ।

अखिलवनमपि प्रकाशमासं

द्रवदिव रङ्गरसौ तदाऽऽवभासे ॥ ११ ॥

पुनरुत्सिन्नवसरे गगने आकाशे सृताः प्रसृता या जलच्छटात्तासां
प्रपातः पतनं तसात् अपहृतमपगतं रेणुमलं रजोरुपं मलं येषां ते
एवंविधा द्रुमा वृक्षा विरेजुः शोभन्ते स, यद्वा किमनया वृक्षमात्र-४
शोभावर्णनया तत्पागुकसरुपं अखिलं समस्तं वनमपि जलच्छटाप्रपत-
नात् प्रकाशमुद्घोतमासं प्राप्तं सत् रङ्गरसौ द्रवदिव सवदिव आव-
भासे शुशुभे । विरेजुरिति । ‘कणां च सप्तानाम्’ (६।४।२५) १२
इति लिटि पृत्वाभ्यासलोपै । आवभासे इति । ‘भास्त्र दीप्तौ’ कर्त्तरि
लिद् ॥ ११ ॥

त्वरितमथ पिशाचभूतयक्षा-

घनिमिपसङ्ग इह सनाथनुज्ञः ।

उपवनमनु योजनप्रमाणां

बलयमिलद्विविनाशकद्वित्रीम् ॥ १२ ॥

अथ घनवर्णेणानन्तरे पिशाचभूतयक्षादयो येऽनिमिपा देवासेषां
सद्बः समृहः सनाथैः सखामिभिर्नुज्ञः प्रेरितः सम् त्वरितं शीघ्रं
इहाऽस्मिन् शुद्धीकृते क्षेत्रे उपवनमनु उपवनस्य समीपे योजनं प्रमाणं २१
यस्याः सा तां धरित्रीं बलयः प्राकारबलयस्तेन मिलन् यो विधिस्तेन
प्राकारबलयरचनोचितविविना आधकत् अङ्गयति स । उपवन-२३

मन्त्रिति । उप समीपे वनसुपवनं ‘अपोपाभ्यां वनं वेलमारामः कृत्रिमे
वने’ इति हैमः । ‘अनुर्लक्षणे’ (१।४।८४) इत्यादिनाऽनोः कर्म-
३ प्रवचनीयसंज्ञा तद्योगे द्वितीया । ‘अनुर्यत्समया’ (२।१।१५)
इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्समासाभावः । आञ्चकदिति । ‘अङ्ग पदे लक्षणे
च’ चुरादिरदन्तस्त्वाऽग्लोपित्वात् वङ्कार्यम् ॥ १२ ॥

४ शतयुगधनुरायतां जिनाङ्गो-
च्छ्रितिनिचितां खचितां विचित्ररैः ।
विटपिवनमवाधयंस्तदूर्ध्वं
९ मणिधरणीं निवधन्ध मध्यभागे ॥ १३ ॥

अघो वर्चमानं विटपिनां वृक्षाणां वनं अवाधयन् अपीड्यन्
व्यन्तरदेवसमूहस्तदूर्ध्वं तस्या अङ्गिताया वनभूमेरुपरि मध्यभागे
१२ मध्यमदेशो शतयुगधनुरायतां द्विशतधनुःप्रमाणदीर्घां तथा जिनाङ्गं
मगवच्छरीरं तस्येव, तत्प्रमाणेत्यर्थः । या उच्छ्रितिरूचत्वं तस्यां निचितां
पुष्टां, न तु रिक्तां पुमर्विचित्ररैर्नामकररैः सचितां जटितां
१५ मणिधरणीं मणिपीठिकां निवधन्ध वभाति स । शतेत्यादि ।
शतयुगं शतद्वयं तत्सद्गानि धन्त्यपि आयतां दीर्घां, विश्रतां
चेत्यर्थः । इद्याऽयामविद्यारयोस्तुत्यत्वात् सचितामिति ‘सच भूतपा-
१८ दुर्भावे’ कर्मणि स्तः ॥ १३ ॥

मधुकरकुललीढमजरीकं चदुलणद्वनिषपिटकापताकम् ।
प्रमुदितमस्तुलदन्तराले रुचिरमकार्षुरग्नेकचेत्यसालम् ॥ १४ ॥

११ प्रमुदिता आनन्दिता गरुतो देवान्तस्या मणिपीठिकाया अन्तराले
मध्ये रुचिर मनोऽन्त अशोकाल्यं चैत्यसालं चैत्यवृक्षं अकार्षुः शुर्वन्ति
१२ ला । कीदृशं तम् । मधुकरकुलेष्वमरसगृहेलीढा आसादिता मजरी

यस्य स तं । 'नदृतश्च' (५।४।१५३) इति कम्, तथा रणदित्येवं-
भूतो अत्यक्तो ध्वनिर्यासां ता रणद्वन्यस्ताश्च ता धण्टिकाश्चेति
विग्रहः । यद्वा ध्वनिप्रधाना धण्टिका ध्वनिधण्टिकाः, रणन्त्यः ३
शब्दायमाना ध्वनिधण्टिका इति विग्रहः । ततो रणद्वन्यधण्टिकाश्च
पताकाश्चेति द्वन्द्वस्तदनु चहुलाश्चपला रणदृच्छनिधण्टिकापताका यस्मिन्
स तमिति वहुत्रीहिः । अकार्पुरिति । छन्दः कर्चरि लहू । चैत्य-६
सालमिति । 'चैत्यं जिनौकस्तद्विष्वं चैत्यो जिनसमावरुः' इति
हेमः (अनेकार्थः) । इह सालशब्दो दन्त्यादिरेव ॥ १४ ॥

प्रतिदिशमुपनीयते स तस्मा-

त्कनकमयी चतुरासनी पुनस्तैः ।

श्रिय इव मिलिताः समस्तदिश्याः

प्रभुचरणाम्बुजपर्युपास्तयेऽस्युः ॥ १५ ॥

पुनर्देवैस्तस्मादशोकवृक्षात् प्रतिदिशं चतुर्दिशु कनकमयी स्वर्ण-
मयी चतुरासनी सिंहासनचतुष्यां उपनीयते स स्थाप्यते स । अत्रो-
भेषते—'प्रभोर्वारस्तामिनश्चरणाम्बुजयोश्चरणकमलयोः पर्युपास्तये सेवायै' १५
मिलिता एकत्रीभूताः समस्तदिश्याश्चतुर्दिशुद्वाः श्रियो लक्ष्य इव
अस्युचिष्ठन्ति स । उपनीयते इति । उपर्युक्तान्नियः कर्मणि लहू, स
च ऊयोगे भूतार्थे वौध्यः । कनकेत्यादि । कनकस्य विकार इत्यर्थे १६
मयहू । दित्यात् दीप् । चतुर्णामासनानां समाहार इति विग्रहे 'तद्वि-
त्यार्थ—' (२।१।५१) इत्यादिना समाप्तः, 'द्विगोः' (४।१।२१) इति
दीप् । दिव्या इति । भवार्थे 'दिगादिभ्यो यत्' (४।३।५४) ।
अस्युरिति तिष्ठतेः कर्चरि लहू ॥ १५ ॥

नटननिपुणसालभजिकाभि-
विविधविलासवतीभिरभ्युपेतैः ।

३ सुरचितमणितोरणैः पुरस्ता-
चदभिमुखाः ककुभो वभुधतस्तः ॥ १६ ॥

विविधा वहुप्रकारा ये विलासाः खीणां खामाविकाऽलङ्कारात्मे
इसन्ति आसामिति विविधविलासवत्यस्ताभिरत एव नटने नृत्यक्रियायां
निपुणा दक्षा एवंविधा याः सालभजिकाः पञ्चालिकाः ‘पुचलिकेति’
लोकपसिद्धाखाभिः अभ्युपेतैः समन्ताद्युक्तैः पुरस्तादग्रतः सुमु-
रचितानि यानि मणितोरणानि तैः करणभूतैः तेपां तोरणानामभि-
मुखाः संमुखाश्वतस्तोऽपि ककुभो दिशो वसुः शोभन्ते स । ‘साल-
भजी पञ्चालिका च पुत्रिका’ इति हैमः ॥ १६ ॥

१२ चतुर्षु च ककुप्सु वेदिकान्ता-
दशशतयोजनर्दीर्घतोच्छ्रितोऽधः ।

विविधमणिमयो ध्वजोऽमरस्तै-

१५ व्यधित चतुष्टयमात्रवेष धर्मः ॥ १७ ॥

च पुनस्तैरमैरदेवैश्वतस्तु पु ककुप्सु चतुर्दिल्लु वेदिकान्तात् मणि-
पाठिकाप्रान्तादऽयोभागे दशशतयोजनानि सहस्रयोजनानि दीर्घतया
१८ प्रलम्बत्वेन उच्छ्रित उज्जतो विविधमणिमयो वहुप्रकाररक्तमयो ध्वजो
व्यधित निर्भितः, रचित इत्यर्थः । इवगच्छ उत्पेक्षायाम् । ततधो-
त्वेष्वते—‘अयं ध्वजो न भवति, किं तु चतुष्टयमात्रया चतुष्टयमानेन
दानादिलक्षणो धर्म एव रचित इति’ । व्यधितेति । विपूर्वद्युप्रः
२२ कर्मणि दुर् । चतुष्टयेत्यादि । चत्वारो अवयवा अस्तेत्यर्थे तयर् ।

‘मात्रं त्वर्वधृतौ स्थार्थे कात्तर्थे मात्रा परिच्छदे । अक्षरावयवे द्रव्ये
माल्येऽल्ये कर्णभूषणे । काले वृते चः इति हेमः (अनेकार्थः) ॥१७॥

तदुपरि विलसत् सितातपत्रं

३

चटुलितमौक्तिकजालकिङ्गिणीकम् ।

अभवदिव नृलोकसंमुखीनं

४

शिवपदमधिनाथहार्दहृतम् ॥ १८ ॥

तस्य घजस्योपरि उच्चर्मागे विलसत् शोभमानं तथा चटुलितानि
अचिन्त्यदेवशक्या चपलीकृतानि मौक्तिकजालानि अथिरमुक्ताफल-
समूहाः किङ्गिण्यो लघुघण्टिकाश्च यस्मिस्तत् एवंविधं सितातपत्रं ९
श्वेतच्छत्रं अभवत् अत्रापि इवशब्द उत्पेक्षाद्योतकः, ततश्चोत्पेक्षते—
‘नास्तीदं छत्रं किंतु अधिको नाथोऽधिनाथखिजगन्नायको धीरप्रमु-
स्तस्य हार्दमभिशायस्तेन हृतमाकारितं सत् शिवपदं मुक्तिस्थानमपि १३
नृलोकस्य मनुप्यलोकस्य संमुखीनं अभिमुखमभवदिति’, आस्तां किला-
ङ्ग्यो महेन्द्रादिलोकं इति अपिशब्दार्थः । किङ्गिणीति । ‘किङ्गिणी
क्षुद्रघण्टिका’ इति^१ हेमः । मतान्तरे किङ्गिणीति निरिक्तारक- १५
कारोऽपि ॥ १८ ॥

अहमहमिकयाऽय भक्तिमात्रो

१६

निजनिजनायनियुक्तकाश शक्ताः ।

अधिकदशविकल्पकल्पदेवा

मणिरचिताऽङ्ग्यरक्षणं विचकुः ॥ १९ ॥

अथाऽनन्तरे भक्तिं भनसि निर्भरप्रीतिं भजन्तीति भक्तिमाजस्ताया
निजनिजनायेन सस्तसामिना देवेन्द्रेण नियुक्ता एव नियुक्तका २२

^१ मतान्तरे इवारपिरितिः क्षम्यः इक्षुणीश्वदः इति भावः ।

आङ्गापिताश्च पुनः शक्ताः शक्तिमन्त, एवंविदा व्याधिकदर्शविकल्प-
कल्पदेवाः द्वादशदेवलोकवासिनो, देवाः अहमहमिकया परस्पराऽभि-
मानेन वेदिकायाः समन्ताव्यन्तरदेवैर्मणिभिः रचितस्याऽज्ञाणस्य रक्षणं
विचकुर्विशेषेण कुर्वन्ति सा । 'स मिथोऽहमहमिका' इति हेमः ।
श्वाधिकेत्यादि । व्याभ्यामधिका दश विकल्पा मैदा येषां ते तथा-
द्विद्वया ये कल्पा देवलोकास्तद्वासिनो ये देवास्ते तथा शाकपार्थिवा-
दित्वाद्वासिपदलोपः । अङ्गणेति । पृष्ठोदरादित्वाण्णत्वमिति कथ्यित् ।
वहवस्तु अङ्गनमिति नान्तमेवाहुः ॥ १९ ॥

१० अथ मणिमयवप्ररचनाप्रकारमाह—

वहिरवततचेतनप्रदेशैः सहकृतमानसपुद्गलान् वितत्य ।

जगति तदवगादपुद्गलौषं सुमणिमयं परिणामयांवभूयुः ॥२०॥

१२ ततस्ते देवाः चहिःशरीराद्वहिदेशेऽवतता विस्तारिता ये चेतन-
प्रदेशा असद्येया आत्मप्रदेशास्त्वैः सहकृतान् युक्तान् 'मानसपुद्गलान्
मनस्त्वेन परिणमितानि मनोवर्गणाद्व्याणि जगति लोके वितत्य ।

१३ विश्वार्थं तस्मिन् देवेऽवगादस्तदवगादस्तत्त्वेत्रमवगाद्य स्तितो यः
पुद्गलैषः सूक्ष्मपुद्गलसमूद्धस्तं सुमणिमयं शोभनरक्तमयं परिणामयां-
वभूयुः परिणामयन्ति सा । अत्र परिपूर्वाक्षमेर्हेत्यर्थणिजन्तादाम्,

१४ अस्याऽमनस्त्वेन मित्यात् 'मितां दसः' (६।४।९२) इति दसत्वं तु
न शक्यं, दसस्यै व्यवस्थार्थं 'वा'शब्दाऽनुवृत्तेः । एवमेव च 'रजो
विश्वामयन्' 'रात्रां पुर्यान्विश्वामये' ति स इत्यादिप्रयोगेष्वपि दसाऽ-
मायप्रतिपादनादिति । यद्वा परिणमनं परिणाम इति पनन्तात् 'तत्क-
२५ रोति' (५०) इति णावऽयं प्रयोगो वोध्यः ॥ २० ॥

अविरलबलयाकृतीकृतोऽसौ सपदि च पञ्चधनुःशतोन्मितोऽ्यः ।
समुचितविपुलत्वसंयुतोऽभाद्रविपरिवेष इवाभिरत्नवेदिम् ॥२१॥

तस्मिन्द्वावसरे सपदि शीघ्रं अभिरत्नवेदिं मणिर्पाठिकायाः समन्तात् ३
अविरलो हृष्टो बलयः प्राकारबलयः स आकृतिराकारो यस्य सोऽविर-
लबलयाऽऽकृतिः नाऽसौ असौ सम्पद्यते तयोऽकृतोऽविरलबलयाऽऽ-
कृतीकृतः प्राकाराऽऽकारेण निष्पादित इत्यर्थः । च पुनः पञ्चसम्भवानि ४
धनुपां शतानि उन्मितमुन्मानं यस्य स पञ्चधनुःशतोन्मितः स चासौ
उच्चश्चेति तथोक्तः, पञ्चशतधनुःप्रमाणप्रांशुरित्यर्थः । पुनः समुचितं ५
सयोग्यं यद्विपुलत्वं भित्तिविलासेन संयुतो युक्तः, एवंविधोऽसौ ६
मणिमयपरिणमितपुद्गलसमूहो रवेः सूर्यस्य परिवेष इव मण्डलमिव
अभाद्र्यते स । बलयाकृतीत्यत्र च्छिपत्ययः । समुचितेत्यादि । इह
समुचितपदोपादानात्साधिकंत्रयस्तिशद्यन्मूलि सूचिगानि । ‘अद्यंगुलि- ७
फरयणीतिर्चासंधणुहृ वाहलै’मिति वचनात् । परिवेष इति । ‘मण्डलं ८
तूरसूर्यकम् । परिषिः परिवेषश्च’ इति हेमः ॥ २१ ॥

तदुपरि कपिशीर्पमालिका द्राक् ९

पविमणिभिर्विद्ये तथैव चैभिः ।
असिलमिदमकारि यत्क्षणेन

युवसतयस्तद्द्वो महानुभावाः ॥ २२ ॥

चः समुदये, एर्भिर्मानिकदेवर्यथा सद्यो मणिमयप्राकारो निर्मित-
स्तथैव तेनैव प्रकारेण तस्य प्राकारस्योपरि द्राक् शीघ्रं पविमणिभिः
दीरकरक्षैः कपिशीर्पणां मालिका श्रेणिर्विद्ये रचिता । अत्र कविः २१

१ प्रद्विशद (३३) पतुद्वाविद्यदद्वृलवृष्टतम् । २ श्रीमद्भास्मिनीन्द्र-
द्वीप-श्रीमद्भूतस्तद्ये-ग्रन्थ (१) अन् २-२३ श्रीमद्भास्म ।

सम्भावनां करोति—‘यदसादेवैरतिलं समस्तमिदमनन्तरोक्तं कृत्यं
क्षणेन क्षणमात्रेण अकारि निष्पादितं’ तदसाद् ज्ञायते अहो इति
इ आथयें, चौः सर्ग एव वसतिर्गृहं येषां ते चुवसतयो देवा महानु-
भावा महाप्रभावाः । विवन्ते इति शेषः । पवीत्यादि । ‘तद्वीमुखं तु
हीरकः वरारकं रलमुख्यं वज्रपर्यायनाम च’ इति हैमः ॥ २२ ॥

६ अत उपरितनाऽमरौघकृत्ये
हितरतिनिर्वृतिहेतुतां प्रपन्ने ।

७ शशधरदिवसेशयोर्निर्देशा-
चदनुचरास्त्रिदशास्त्वरां प्रतीयुः ॥ २३ ॥

अतोऽस्मिन् उपरितनाऽमरौघस्य ऊर्ध्वलोकोद्भवदेवसमूहस्य कृत्ये
कार्ये हितरतिनिर्वृतीनां हितमुखमुक्तीनां हेतुतां कारणत्वं प्रपन्ने प्राप्ते
१२ सति, एवावता सम्यक् फलसचामुत्याद्य निष्ठां परिपूर्णतां गते
सति शशधरदिवसेशयोश्चन्द्रसूर्ययोर्निर्देशात् आञ्जातस्ययोरेवाऽनुचराः
सेवकप्रायाखिदशा देवास्त्वरां प्रति ईयुः प्रापुः । अर्हद्वक्ति विधातुं
१५ सत्वरा चमूरित्यर्थः । अत इति । सप्तम्यर्थे तस्मिल् । उपरिभवा
उपरितनाम्ने च तेऽमराश्च तेषामोष इत्यादिविमहः । इह हितेत्यादि
सिद्धांते—‘हियाषु सुहाषु खेमाषु निस्तेषसाषु’ इत्यादर्घद्वक्तिफलोके-
१८ रूपाचरम् । शशधरेत्यादि । ‘देवताद्वन्द्वे’ (६।३।२६) इत्यस्य
प्रायिकत्वादय पूर्वपदस्य नाऽनुद्दृश्य ईयुरिति । इणः कर्त्तरि लिद् ॥ २३ ॥

अथ सर्वमयवप्तवनामकारमाह—

त्रिदिवगुरविकुर्यणानुकारी भगव उपाहितग्रहमपुद्गलेषु ।
२३ परिणतिमुपपादयाक्षकार शुतिरहिरण्मयवां गवां क्षणेन ॥ २४ ॥

प्रथमवरणतो धनुःशतानि
ऋधिकदशैत्य वहिततान चप्रम् ।

परिमितिमधिकृत्य चोक्तपूर्वां

पृथुलतयोचतया च भक्तिरक्तः ॥ २५ ॥ युग्मम् ।

त्रिदिवखुराणां सर्गवासिदेवानां विकुर्वणामनुकरोति तच्छीलो
वैमानिकदेववद्विकुर्वणां कुर्वाण इत्यर्थः । तथा भक्तिरक्तोऽर्हद्वक्य- ६
नुरागी एवंविषो भानां ज्योतिष्कानां गणः समूहः उपाहिताः संयो-
जिता ये सूक्ष्मंपुद्गलास्तेषु श्वरेन शुतितहिरण्मयतां गतां दीसिम-
त्सर्णिस्तरूपत्वं प्राप्तां परिणतिं परिणमनं उपपादयाद्वकार उत्तादयति ७
स । अथैव पुद्गलंपरिणामं कृत्या प्रथमवरणतः प्रथमनिर्मित मणिमय-
प्राकारात् वहिःप्रदेशे ऋधिकदशैर्धनुःशतानि व्रयोदशघनुपां शतानि
एत्य आगत्य एतावद्वुभमतिक्रम्येत्यर्थः । पृथुलतया विस्तीर्णतया च १२
पुनरुचतया उन्नततया पूर्वमुक्तामुक्तपूर्वां ‘पञ्चघनुःशता’ (२।२१)
इत्यादिना प्रादर्शितां परिमितिं परिमाणमधिकृत्य आश्रित्य वर्प-
स्तर्णमयप्राकारं तत्तान विस्तारयति स, विकुर्विवानिति यावत् । १५
त्रिदिवेत्यादि । ‘गौत्तिदिवमूर्वीलोक’ इति, ‘संयोजित उपाहिते’ इति
च हैमः । हिरण्मयेति । ‘दाण्डनायनहस्तिनायन—’ (६।४।१७४) १६
इत्यादिना सायुः । वरणेति । ‘प्राकारो वरणः साल—’ इति हैमः ।
अत्र चकारौ द्वावपि समुच्चयार्थौ ॥ २४ ॥ २५ ॥

मणिमयवरणाऽग्रमालयाऽसावति-

शुशुभे परितोऽन्तरालभूमेः ।

अनुलवणसमुद्रमाऽवितर्देः स हि

लगतीवलयस्य साम्यमापत् ॥ २६ ॥

अन्तरालभूमेर्मध्यभूमेः परितः समन्ताद्वर्चमानोऽसौ स्वर्णमयः
प्राकारो मणिमयानि यानि वरणाऽग्राणि कपिशीर्षाणि तेषां भालया
त्रैश्रेष्ठा अतिशुश्रुमेऽत्यन्तं शोभते स । कीदृगित्याशङ्क्व औपन्थेन
शोभाप्रकारमेव दर्शयति—स हीत्यादि । स ग्राकारो हि आवितर्देः
जगतीवल्योपरिवर्तिवेदिकां विना अनुलब्धं समुद्रं लबणसमुद्रसं
इ समीपे स्थितस्य जगतीवल्यस्य साम्यं साहशयमाप्तं प्राप । तस्याऽप्येवं
विधस्तित्याऽतिरमणीयत्वादिति भावः । आवितर्देरिति । भर्यादार्था-
दाइयोगे पञ्चमी । ‘वेदी वितर्दिः’ इति हैमः ॥ २६ ॥

११ अथ रूप्यघप्ररचनाप्रकारमाह—

दधदिह विद्युवैः सहाम्यसूयापसुरगणोऽथ गृहीतनायकाङ्गः ।

अथममुदितया सुपर्वशक्त्या रजततयाऽहतपुद्गलास्ततान् ॥ २७ ॥

१२ अथ स्वर्णवप्ररचनानन्तरं गृहीता नायकाङ्गा स्वखाम्याऽदेशो येन
स एवंविधोऽसुराणां देवविशेषणां गणो, विद्युपैषुरपरितनदेवैः सह
अम्यसूर्यां मात्सर्यं दधत् धारयन्, इह समवसरणरचनाधिकारे प्रथमं
१५ उदितया प्रागुक्तया सुपर्वशक्त्या देवशक्त्या आहतपुद्गलान् गृहीत-
पुद्गलान् रजततया रूप्यंभावेन ततान् विक्षारयामास परिणमयति
सेति यावत् । अम्यसूयामिति । ‘असूयाऽन्यगुणदूषणम्’ इति
१८ हैमः ॥ २७ ॥

प्रगदितमितिभूमिकां विद्यायाऽर्जुनवरणं वलितैः स तैविवेष्टे ।

उपरि परिणतैः सुवर्णसिद्ध्या पुष्पगशिरोभिरलङ्घकार शालम् २८

३१ ततः सोऽसुरगणः सर्णवप्रात् प्रगदितमितिभूमिकां प्रागुक्तप्रमाण-
भूमिं विद्याय त्वचवा वलितैर्वलयाकृत्या व्यवस्थितैः सौरुप्यमयपरि-
३१ पैरैः पुद्गलैः परणमूतैर्जुनवरणं सर्णवप्रां विवेष्टे येष्टयामास ।

तथा उपरि ऊर्ध्वदेहो मुवर्णसिद्ध्या न्यणोपरिणत्या परिणतैः पुवग-
शिरोभिः कपिर्यार्थिः शालं रूप्यमयपाकारमण्डलं अलब्धकार शोभमानं
चक्रे । प्रगदितेत्यादि । प्रगदिता प्रथमं कथिता ब्रयोदयशतवनुः-३
सल्लभा भितिर्मानं वस्त्राः सा प्रगदितभितिः, सा चासौ भूमिका
चेति विग्रहः । अजुनीति । ‘अजुननिष्कर्षस्वरकदुरुराणि’ इति
हैमः । विवेष्ट इति ‘वेष्ट वेष्टने’ इलतः कर्त्तरि लिह ॥ २८ ॥ ६

समुद्दितवरणव्रयं तदासीत्

त्रयमिव गुस्तिनिवद्भात्मनीनम् ।

भगवद्भिर्हितोऽथवा शिवाद्या

त्रिकविधिवेव नु मूर्च्छामवामोत् ॥ २९ ॥

नु इति विचके । तद् समुद्दितं समुदायरूपेण स्थितं वरणव्रयं
प्राकारत्रयम्, आत्मने हितमात्मनीनं गुस्तिभिर्मनोवाक्यागुस्तिभि-१२
निवद्धं रचितं त्रयमासीदिवेत्युत्पेक्षा । अथवा भगवता सर्वेज्ञेन
अभिहितः कथितो यः शिवाद्या ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको मोक्षमार्गः
स एव त्रिकविधिवा ज्ञानादित्रिकमेदेन मूर्च्छां मूर्च्छिंगत्वगवाऽऽभोत् १३
प्राप्त इत्येत्यऽप्युत्पेक्षा ॥ २९ ॥

सुरपतिवनुपी नु भीलयित्वा कौतुकचारिणा मधोना ।
विविधवसुचितं दिदेव दीप्रद्युतिवरणव्रयमम्बरप्रतिष्ठम् ॥३०॥ १०

पुनर्जु इति विचके, विविधैवंहुप्रकारैवेमुभी रक्षादिद्रव्यैष्ठितं
निर्मितं अत एव दीप्रा दीपनश्चाला द्युतिज्योतिर्यस्य तचयोक्तं
तथाऽम्बरे आकाशे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तदेवंविधं वरणव्रयं कौतुक-२१
चारिणा कौतुकवता भपोना इन्द्रेण सुरपतिवनुपी भीलयित्वा संयोग्य
कृतनिवेत्येवं दिदेव शोभते ल । कौतुकेति । कौतुकं चरति प्राप्नो-२३

तीत्येवंशील इति विग्रहे शीले णिनिः । दिदेवेति । ‘दिवु कीडादौ’
इत्यसालिङ्ग ॥ ३० ॥

३ इह पुनरपि गुह्यकादिदेवा
व्यदघत गोपुरतोरणानि सद्यः ।

४ प्रतिदिशमपि रोहणाय पाद-
स्थितिकरणानि सहस्रविंशतिं च ॥ ३१ ॥

पुनरपि गुह्यकादिदेवा यक्षादिदेवविशेषा इहाऽस्मिन् प्राकारत्रये
प्रतिदिशं चतुर्दिक्षु सद्यः शीर्घं गोपुराणि च द्वाराणि तोरणानि च
० प्रतीतानि तानि व्यदघत कुर्वन्ति ल । सतोरणानि द्वाराणि चकुरि-
त्यर्थः । च पुनरधिरोहणाय अर्द्धद्वन्दनार्थमागच्छतां जनानामाऽरोहण-

१२ निमित्तं प्रतिदिशं सहस्रविंशतिं विंशतिसहस्राणि पादस्थितिकरणानि
सोपानानि व्यदघतेति पुनर्योगः । गुह्यकेति । ‘यक्षः पुण्यजनो राजा
गुह्यको वटवास्यपि’ इति हैमः । व्यदघतेति । विपूर्वाद्वाभः

कर्चरि उठि आत् । गोपुरेति । ‘पूद्वारि गोपुरम्’ इति हैमः ।
१५ ‘द्वारमात्रेऽपि गोपुरम्’ इत्यनेकार्थः । पादेत्यादि । पादयोः स्थितिः
क्रियते एभिरिति विग्रहे करणे स्युद् । इदं हि यौगिकं नाम ॥ ३१ ॥

अचयवस्थुप्रभुज्य तीर्थकुच्चं प्रविशति चात्मलयं सदैव यत्र ।
१८ प्रतिसमयमधातिकर्मजालं विदलयति स्फुटवीर्यवानधीयः ॥ ३२ ॥

मणिमयतपनीयवप्रगन्में गिरिशदिशाषुपसृत्य चैत्यसालात् ।
तदमरगणमृग्निपेवणीयं शुचिवर्तमेथरमन्दिरं व्यकुर्वन् ॥ ३३ ॥

२१ सुमम् ।

सुटं प्रकटं पीर्यमत्सात्तीति तद्वान् अनन्तवटसम्पन्न इत्यर्थः ।
२० अर्पाशदिवगततिर्जिनोऽयसरे देशनादानश्च(गे)तीर्थकृत्वमऽनन्यसा-

धारणधर्मलुपकथनादितीर्थकृत्त्वमुपसुज्य सुकृत्वा देशनानन्तरं यत्र
मन्दिरे सदैव सर्वेदा आत्मलयं सभावविलासं प्रविशति स्वभावे
वस्तुमिच्छति । च पुनर्यत्र स्थितः सन् प्रतिसमयं अघातिकर्मणां ३
वेदनीयादीनां जालं समूहं विदलयति क्षपयति तद् अमैरेदेवर्गण-
सृद्धिर्गणघैश्च निषेवणीयं सेव्यं अत एव शुचितरमडतिपवित्रम् इथ-
रस्य प्रभोरिदमैश्वरं प्रसुतस्त्रनिधि मन्दिरं देवठन्दाऽल्यं मणिमयतपनी- ६
यवप्रयो रक्षणीप्राकारयोर्गढमें मध्यदेशो चैत्यसालादद्वोक्तृक्षाद्विरिदा-
दिशामीशानकोणमुपकृत्य आश्रित्य व्यकुर्वन् विकुर्वन्ति स । व्यन्तरा
इति शेषः । अवसरेत्यादि । 'लोपः शाकल्यस' (८।३।१९) ९
इत्यस्य वैकल्पिकत्वान्नाऽत्र यलोपः । लयमिति । 'लयस्तूर्यत्रयीसाम्ये
संछेपणविलासयोः' इति हैमः । मणीत्यादि । मणिमयं च तपनी-
यवप्रं चेति विग्रहः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

१२

अथ सर्वणिनं चतुर्वर्षीरचनाप्रकारमाह—

पुनरपि पुरतोऽपि गोपुराणां

दिशि दिशि हस्तिनखादधःस्थलीस्थाः ।

समवसरणभूमिमालुरुक्तु-

ञ्जमहरणा त्वरयन्ति मानवान् याः ॥ ३४ ॥

विमलजलभृताः सुखावतारा

चिकसितवारिजराजिराजमानाः ।

अनिलवरलितामिराप्रतीरं

जललहरीमिरिवाघरान्मिलन्त्यः ॥ ३५ ॥

कलरुवललिता मरालमाटा

विलसति चय सुधोपमेखलेच ।

१३

१४

१५

१६

तनुशुचिकरणानि पुष्करिण्यः

शुचिसुवि निर्ममिरे वरामरैत्ताः ॥ ३६ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ।

३

पुनरपि वरामरैः प्रधानदेवैः शुचिसुवि रामवसरणाद्वहिः शुद्ध-
शूभिकायां ताः अनन्तरमेवोच्यमानसख्पासनोः शरीरस्य यः शुचिः
६ शृङ्खारस्त्वस्त करणानि प्रधानकारणभूताः पुष्करिण्यश्वतसोऽष्टौ वा
वाप्यो निर्ममिरे निर्मिताः, रचिता इत्यर्थः । ताः का इत्याह—या
वाप्यो दिविं दिविं चतुर्दिंशु गोपुराणां प्रतोलीद्वाराणां पुरतोऽग्रतो
९ दृस्तिनसात् कमनिष्ठोचरणमार्गाद् अथः सलीस्याः अधोभूपदेशस्तिताः
सत्यः समवसरणमूर्मि आहरक्षून् आरोदुमिच्छून् मानवान् अमहर-
णात् त्वरयन्ति त्वरां कारयन्तीवेत्युत्पेक्षा । अत्र अपिशब्दस्य इवाऽर्थ-
१२ कल्पात् पुनर्या वाप्यो विगलज्जरैर्भृताः पूर्णाद्यथा सुखेनाऽवतारोऽव-
तरणं यातु ताः, यद्या सुखपतीति सुखः सुखप्रदोऽवतारो यातु
तास्याद् विकसितानां प्रकुल्लानां वारिजानां कमलानां राजिभिः
१५ येजिभी राज्ञानाः शोभनाना एवंविधाः सत्यः आपतीरं तटर्पयन्तं
अनिलेन वायुना तरलिताभिश्यपठीकृताभिर्जलद्वरीभिर्क्षेत्रैरच्यगान्
रामयसरणमार्गगतदोक्षान् गिरन्त्य इव सिता इति शोपः । पुनर्यत्र
१८ यातु यार्पासु कल्पतेरत्यक्षमपुरगच्छेद्यलिता मनोज्ञा गरालानां हंस-
पक्षिणां माला खेनिः सुमु शोभनो पोषो घनिर्यस्याः सा सुपोषा या
गेस्तला खीजां कटिमेष्वला गा इव विलसति शोभते एवंविधा
२१ वाप्यो देवंविनिता इति उक्ष्यः । हस्तीत्यादि । 'हस्तिगतः परि-
श्वर' इति दलायुधः, 'दुर्गद्वारोदयणमार्गे द्वाविति' सहीका, यदप्यत्र
२४ कविदोक्षान् गुणवत्तरणाद्विरपःगर्विना वाप्य उच्चासुपारि

वहिवेपान्तस्था वोध्याः । यदुक्तं समवसरणस्त्वे—‘वहिवप्पदारम-
ज्ज्ञे दो दो वावीउ हुंति वड्डमि । चउरंस समोसरणे इग इग वावीय
कोणेसु ॥१॥’ इति । अन्यस्मिन् स्तोत्रे^३ पुनरेवं ‘वीयंतो तिरि ईसाणि ३
देवच्छंदो अ जाण तहञ्चंतो । तह चउरंसे दु दु वावी कोणओवट्टि
इकिका ॥२॥’ इति । त्वरयन्तीति । त्वरमानान् प्रेरयन्तीत्यर्थः ।
‘अित्वरा संत्रमे’ अस्य घटादयः पित इति पित्वाण्णिचि द्वस्त्वम् ।६
आप्रतीरमिति । ‘तटं तीरं प्रतीरं च’ इति हैमः । तनुशुचीति ।
‘शुचिः शुद्धे सितेऽनले । ग्रीष्माऽयादानुपहते पूर्वाशुद्धमन्त्रिणि, शृङ्खारे’
इति हैमः । निर्ममिरे इति । निरपूर्वान्माङ्गः कर्मणि लिह ॥३४-३६॥७

ननु महदाश्रयमेतत् यत्सवेमपीदं सद्य एव व्यधायीत्याश्राह्याह—

सकलमपि निमेपमात्रमेव
प्रमवति कर्तुमिदं यदेककोऽपि ।

१२

तदिह सुखराश्चतुर्निकाया

युगपददो रचयन्तु किं नु चित्रम्? ॥ ३७ ॥

यद्यदि एककोऽपि देवः सकलमपीदं कर्तव्यजातं निमेपमात्रमेव १५
निमेपमात्रेणैव कालेन कर्तुं विवातुं प्रमवति समर्थो भवति, वर्गाहि
इह प्रस्तावे चतुर्निकायाः सुखराश्चतुर्जातीया देवा युगपत् समकाळ-
मदः समवसरणं रचयन्तु, किं नु चित्रं किमत्राऽश्रयं? न किमपीति १०
भावः । निमेपेत्यादि । निमेपो पश्मस्पन्दनप्रमाणः काल उच्यते ।
स एव मात्रा प्रमाणं यत्र कर्मणि, तदिति क्रियाविशेषणमिदन् ।
चतुरित्यादि । चत्तारो निकाया निवासा उत्सर्विस्यानानि येषां ते
इति विमहः । नुशब्दोऽव वितर्के ॥ ३७ ॥

२२

^३ यमरस्तरणप्रस्तरणे—गा० १०३ तमा ।

अथ समवसरणस्य सर्वोत्कृष्टं सौन्दर्यमुपंपादयति—

अपरसुरभ्रहस्य चेदुदग्रां

३ श्रियमृपयोऽपि हि वर्णयांबभूवुः ।

किमु सकलसुरासुरेश्वराच्चर्षी-

श्रयनिलयो न भवेदनुत्तरश्रीः ॥ ३८ ॥

४ हीति निधितं, कृपयो मुनीश्वरा अपरसुरभ्रहस्यापि अन्यदेवमव-
नादेरपि चेद्यदि उदग्रामतिप्रवरां श्रियं शोभां वर्णयांबभूवुः वर्णयन्ति-
स । आगमे इति शेषः । तर्हि सकलसुरासुरेश्वराणां सर्वसुराऽसु-
रैरेन्द्राणां योऽच्छर्षीः पूजयो भगवान् तस्याऽश्रयो निवासभूतो यो निलयः
प्रासादः सोऽनुरुग्गा सर्वोत्कृष्टा श्रीः शोभा यस्य सोऽतिप्रधानश्रीकः
किमु न भवेत् ? अपि तु भवेदेवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

१२ अथोपसंहरनाह—

इत्थं नाथाऽगमनजनिताऽमोदमत्त्वाः प्रसक्ताः

श्रीमद्भक्त्या भवनपतयो व्यन्तराः खेचराश्च ।

१५ कल्पावासाः पुनरजरसोऽनादिकृत्याऽभियुक्ताः
प्रीत्या चकुः समवसरणस्थापनां प्रेक्षणीयाम् ॥३९॥

नाथस्य वीरप्रभोराऽगमनेन जनित उत्त्वो य आमोदो हर्षस्तेन
१८ गच्छा दर्पिताः अत एव श्रीमतस्तीर्थकृद्विगृहितिमतो जिनेन्द्रस्य भक्त्यां
प्रसक्ताः प्रकपेण लग्नाः पुनरनादीनि अनादिकालसंवन्धीनि यानि
कृत्यानि स्वस्वर्चव्यानि तेषु अभियुक्ता उद्यता एवंविधा भवनपतयोऽसु-
२१ रायाः ३ व्यन्तराः पिशाचाद्याः २ च पुनः खेचरा ज्योतिष्का-
थन्द्रादयः ३ पुनः कल्पावासा वैमानिकाः सौधर्मजादयः ४ चतु-
२३ र्विधा अपि अजरसो देवाः प्रीत्या आनन्देन इत्यमुक्तप्रकारेण प्रेक्ष-

णीयां अनिमिषं दृष्ट्वा विलोकनीयां समवसरणस्य स्थापनां रचनां
चकुः कुर्वन्ति स । अजरसं इति । न विद्यते जरा येषां ते दृति
विग्रहः । इदं च मन्दाक्रान्तावृत्तं, तलक्षणं च—‘मन्दाक्रान्ता जल-३
यिपडगैर्मैं नतौ ताद्रुख चेत्’ इति । अस्मिन् सर्वे यन्मणिपीठिका-
परिमाणं वप्रभिचिपरिमाणं सोपानपरिमाणं च प्रोक्तमस्ति तदावश्य-
कादिग्रन्थे तु न दृश्यते, परं पूर्वाचार्यविनिर्भितप्रकरणेषु विद्यते, तथा ६
चोक्तं समवसरणस्त्वे श्रीयशोभद्रसुनीन्द्रैः—“गाउ(य)मेंगं छस्स-
यथणुहपरिछिन्नमंतरं तेसि । अद्युगुलिकारयणीतित्रीसंधणुहवाहस्त्रं ॥१॥
पंचसयषुचर्चं चउदारि विराहआण वप्पाणं । सद्यप्पमाणमेयं निय ९
निय हस्थेण्य जिणाणं ॥२॥ सोवाणदससहस्रा भूमीओ गंतु पदम-
पायारो । पन्नासधणुहप्पयरो मुणो वि सोवाणपणसहस्रा ॥ ३ ॥
तत्यविय वीयवप्पो पुच्छुचविही तयंतरं नेयं । तहो तइए एवं वीससह- १२
स्ताणि सोवाणा ॥४॥ दस पंच पंच सहस्रा सधे हृत्युच्चहस्थवित्थित्वा ।
वाहिरमब्बिगतरिया वप्पाण कमेण सोवाणा ॥५॥ तम्भज्जे मणिपीढं
भूमीओ सहृदुनिकोमुचं । दोधणुसयविच्छिन्नं चउदारं जिणतणु- १५
समुचं ॥ ६ ॥ “इत्यादि उपदेशसामिग्रन्थेऽप्युक्तं—‘चउदारतिसो-
वाणं मज्जे मणिपीठयं जिणतणुचं । दोधणुसयपिहुदीहं सहृदुको-
सेहि घरणियता ॥ १ ॥” इत्यादि । अतो न कश्चिद्दोषः ॥ ३९ ॥ १०

इति भगवत्समवसरणवर्णनो नाम
द्वितीयः सर्वः ॥ २ ॥

इतीति स्पष्टम् ।

इति धीगौतमीयप्रयन्धव्याख्याने गौतमीयप्रकाशाभिपाने

द्वितीयः सर्वः ॥ ३ ॥

चथा सशिष्यकान् गुरुः श्रुतं सहेव पाठयेत् ।

तथाऽपरान् सुरान् कान् सधोपमन्वधोपयत् ॥ ३ ॥

यथा गुरुः पाठकः सशिष्यकान् निजलयुद्धिष्ठान् सहेव श्रुतं ३
शास्त्रं पाठयेत् स्थं पठनेव तान्पाठयेदित्यर्थः ॥ तथा स देवदुन्दुभि-
रऽपरान्कान् सुरान् धोपं शब्दं न अन्वधोपयत् नानूचारयति लः ।
स्थं नदन् सर्वानपि देवान् शब्दाकुलानकरोदित्यर्थः । शिष्यका- ५
निलव द्विसार्थं कन् । अन्वधोपयदिति । 'धुप शब्दे' असाद्वेतु-
मण्णजन्मात्कर्त्तरि लद् । 'जल्लतिपमृतीनामुपसंस्थानम्' (चा०)
इत्यनेनाणीं कर्त्तुर्णीं कर्मत्वम् ॥ ३ ॥

९

तदा किं जातमित्याह—

तदा रसातलाधिगा मनुप्यलोकगा अपि ।

तदृग्गाथ खेचरात्तथा विमानवासिनः ॥ ४ ॥

तदारथानुमानजायधिप्रवीधवोधिताः ।

सुरा हि कोटिकोटयः प्रभुं प्रमाय दुदुवुः ॥ ५ ॥ उमम् ।

तदा तस्मिन्नवसरे तस्य दुन्दुमेर्य आरयः शब्दस्तदनुमानाज्ञातो १५
योऽवधिप्रवोधोऽवधिज्ञानोपयोगन्तेन वोधिता ज्ञापिताः सावधानीकृताः
कोटिकोटयोऽनेककोटिकोटिसद्वाक्ता रसातलाधिगाः पात्रालवासिनो १०
मध्यनपतयः । अपि: पुनरर्थः । पुनर्गनुन्यलोकगा भर्त्यलोकवासिनो १५
व्यन्तराः । च पुनर्गनुन्यलोकगा व्यन्तरेभ्य ऊर्ध्वगा उपरिवासिनः
खेचरा ज्योतिपकान्तथा विमानवासिनो वैमानिकाः सुरा देवाः प्रभुं
श्रीमीरत्तानिनं प्रमाय विद्वारोन्मुत्तं जात्वा दुदुवुसद्वक्यर्थं धावन्ति २१
स्त । रसातलेत्यादि । 'नागलोको रसातलम्' इति हेनः । रसातल-
नपिगच्छन्तीति विश्रेद् 'पन्यवासि दृश्यते' (चा०) इति गमेद्देः । २२

तृतीयः सर्गः ।

अथर्जुवालुकानदीतटस्यसालसालतः ।

३ विहर्तुमुद्यते विभौ ननाद देवदुन्दुभिः ॥ १ ॥

सुरासुरथेणिवृतः समन्ताद्यो दिव्यधाम स्वकमाजगाम ।

विभ्राजमानो विलसद्विभूत्या तमीश्वरं वीरजिनं प्रणौमि ॥ १ ॥

४ अथाऽऽनन्तरं विभौ श्रीवीरस्याभिनि कङ्जुवालुकानामन्त्याः
तटस्यो यः सालो नाम सालो वृक्षस्तस्माच्चदधस्तानप्रदेशाद्विहर्तु उद्यते
सति आकाशो देवदुन्दुभिर्देववाद्यं ननाद ध्वनति सा । सालेत्यादि ।

५ 'सालः सर्जतरौ वृक्षमात्रप्राकाकारयोरपि' इत्यनेकार्थः । ननादेति ।
'नद् अव्यक्ते शब्दे' असात्कर्चरि लिह । अस्मिन् सर्गे प्रमाणिका-
वृक्षम्, तलक्षणं च—'प्रमाणिका जरौ लगाविति' ॥ १ ॥

१२ तकद्वभीरनिःखनो दिगन्तराणि चानश्च ।

इवाज्यविन्दुरेकतो गतो जलानि पल्वले ॥ २ ॥

१३ तस्य देवदुन्दुभेर्गमीरो यो निःखनो ध्वनिः स दिगन्तराणि सर्वे-
१४ दिगमध्यप्रदेशान् आनशे व्याप्तोति सा । कः कानीवेत्याह—पल्वले
लघुसरसि एकत्र एकस्मिन्प्रदेशे गतः प्राप्त आज्यविन्दुरस्त्यानष्टत-

१५ विन्दुरुपलक्षणाचैवविन्दुर्जलानीव यथा पल्वलैकप्रदेशस्यद्वैलादिविन्दुः
१६ प्राप्तः सर्वाण्यपि तद्रूपजलानि व्याप्तोति तथेत्यर्थः । तकदित्यादि ।

१७ 'अव्ययसर्वेनामां' (पौ.३।७१) इति टेः प्रागकृ, 'मन्त्रो गम्भीर'
इति हैमः । गम्भीरवद्वभीरद्याव्दोऽपि घोध्यः । चः समुच्चये । आनशे
इति । 'अशद्व व्याप्ती' कर्त्तरि लिह । पल्वले इति । 'वेशान्तः
१८ पास्त्वद्वोऽप्यं रथ्' इति हैमः ॥ २ ॥

वथा हे प्रमो ! अनन्ता शक्तिर्यस्य सोऽनन्तशक्तिस्सै अत एव
जगज्जनोपकारिणे बैलोक्यलोकोपकारकरणशीलय तुभ्यं नमोऽस्तु ।
मुनहें प्रमो ! अनन्ता ये गावाः पदार्था द्रव्यपर्यायादयस्तेषु प्रकाश- १
कत्वाद्वासान् सूर्य इव अनन्तमावमासान् तसै, तथा स्वयमात्मना
प्रोपदेशव्यतिरेकेणैव भवतीति तीर्थप्रवर्चकः संबुद्धो वेति स्वयंसु-
खसै ते हुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ८ ॥ ६

इति प्रणूय किन्नरा जिनेशमक्तित्पराः ।

सुमन्द्रमध्यतारकैः स्वैः पुरो यशो जगुः ॥ ९ ॥

इतीत्यं प्रणूय सुल्ला तेषु देवेषु ये किन्नरा व्यन्तरविशेषा देवास्ते ९
जिनेशस्य मगवतो भक्तौ तत्पराः सन्तः सुषु शोभनैर्मन्द्रमध्यतार-
रकैरुरःकण्ठशिरोमवैः स्वैः पद्मादिभिः पुरः प्रमोरये यशो भग-
वत्कीर्ति जगुर्गायन्ति स । प्रणूयेति । ‘षू स्वै’ अस्मात् कत्वो स्वप् । १२
सुमन्द्रेत्यादि । तारकैरित्यत्र खायें कप् । ‘ते मन्द्रमध्यताराः स्य-
रुरःकण्ठशिरोमवाः’ इति हेमः । ‘तारोऽत्युचैर्वनिर्मन्द्रो गंभीरः’ इति
त्र ॥ ९ ॥ १५

अथ मगवतो विहारसमयेऽग्रतः किं चचालेत्याह—

सदस्ससद्वैररैर्विनिर्मितं मणीमयम् ।

इवाऽर्कमण्डलं नमोगतं स्फुरन्महाप्रमम् ॥ १० ॥ १६

जयाय धर्मचाक्रिणथंचाल चक्रमग्रतः ।

तदीयरोचिपा निशा दिवस्वरूपमादधे ॥ ११ ॥—युग्मम् ।

सदस्सं सदृश्य येषां ते सदस्ससद्वाख्य एव सदस्ससद्वकास्त्रैरैश्च-
क्रावयैर्विनिर्मितं रचित् पुनर्मणीनां विकारो मणीमयं रक्तमयं तथा- २२
५ गौ० का०

एवमग्रेऽपि । हिः पादपूरणे । प्रमायेति । प्रपूर्वान्मालो ल्यपि 'न
ल्यपि' (दाशा६९) इतीत्वाभावः । दुदुदुरिति । 'दु गतौ'
३ असात्कर्चरि लिद् ॥ ५ ॥

तत्स्ते सुराः किं कृतवन्त इत्याह—

पुरा निर्णीय लोचनैर्महामहोभिरञ्चितम् ।

६ कृतप्रदक्षिणात्रया जगत्प्रभुं ववन्दिरे ॥ ६ ॥

ते चतुर्विधा देवा अञ्जितं त्रैलोक्यपूजितं जगत्प्रभुं श्रीवीर-
जिनेश्वरं पुरा पूर्वं महन्महः प्रमा येपां तानि महामहांसि तैरति-
९ भास्त्रैरलेचनैर्नैत्रैर्निर्णीय सादरं विलोक्य कृतं प्रदक्षिणात्रयं यैस्ते कृत-
प्रदक्षिणात्रयाः सन्तो भगवन्तं ववन्दिरे प्रणामपूर्वेकं स्तुवन्ति स ।
निर्णीयेति । निर्पूर्वात् 'पीढ़ पाने' इति दैवादिकात् त्वो ह्यए ।
१२ महोभिरिति । 'गा भयूखमहसी छविर्विभा' इति हैमः । ववन्दिरे
इति । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' कर्चरि लिद् ॥ ६ ॥

कथं स्तुवन्ति सेत्यत आह—

१५ नमो नमोऽस्तु ते प्रमो पराऽत्मरूपधारिणे ।

नमो नमोऽस्तु ते प्रमो जगत्प्रकाशकारिणे ॥ ७ ॥

नमोऽस्त्वनन्तशक्तये जगत्तनोपकारिणे ।

१६ अनन्तभावमासते नमोऽस्तु ते स्वयंभुवे ॥ ८ ॥

हे प्रमो ! परं प्रकृष्टं आत्मनः स्वस्य रूपं स्वभावं धारयति तच्छील-

पराऽत्मरूपधारी तस्मै ते तु भ्यं नमोऽस्तु । भूयोऽसाकं नमस्कारोऽस्त्व-

त्वर्थः । पुनर्हे प्रमो ! जगत्सु त्रैलोक्ये प्रकाशमुद्घोतं करोतीति

१२ तच्छीलो जगत्प्रकाशकारी तस्मै ते तु भ्यं नमो नमोऽस्तु ॥ ७ ॥

तथा हे प्रमो ! अनन्ता शक्तिर्थस्य सोऽनन्तशक्तिस्त्रै अत एव
जगज्जनोपकारिणे त्रैलोक्यलोकोपकारकरणशीलाय तुम्हं नमोऽस्तु ।
मुनहें प्रमो ! अनन्ता ये भावाः पदार्था द्रव्यपर्यायादयस्तेषु प्रकाश- ३
कल्पाद्वास्तान् सूर्य इव अनन्तभावभास्तान् तस्मै, तथा स्यमात्मना
परोपदेशव्यतिरेकैषैव भवतीति तीर्थप्रवर्तकः संबुद्धो वेति स्यंभू-
स्त्रै ते तुम्हं नमोऽस्तु ॥ ८ ॥

इति प्रणूय किन्नरा जिनेशमक्तिरत्पराः ।

सुमन्द्रमध्यतारकैः स्वरैः पुरो यशो जगुः ॥ ९ ॥

इतीत्यं प्रणूय स्तुला तेषु देवेषु ये किन्नरा व्यन्तरविशेषा देवास्ते ९
जिनेशस्य मगवतो भक्तौ तत्पराः सन्तः सुषु शोभनैर्मन्द्रमध्यता-
रकैरुःकण्ठशिरोमवैः स्वरैः, पद्मादिभिः पुरः प्रमोर्ये यशो भग-
वत्कीर्ति जगुर्गायन्ति स । प्रणूयेति । ‘ण् स्वे’ असात् कत्वो ल्यप् । १२
सुमन्द्रेत्यादि । तारकैरित्यत्र सार्थे कप् । ‘ते मन्द्रमध्यताराः सु-
रुःकण्ठशिरोमवाः’ इति हेमः । ‘तारोऽस्तुचैर्वनिर्मन्द्रो गंभीरः’ इति
च ॥ ९ ॥

१५

अथ मगवतो विहारसमयेऽभ्रतः किं चचालेत्याह—

सहस्रसङ्घैकरैर्विनिर्मितं भणीमयम् ।

इवाऽर्कमण्डलं नमोगतं स्फुरन्महाप्रभम् ॥ १० ॥

जयाय धर्मचक्रिणश्चाल चक्रमग्रतः ।

तदीयरोचिपा निशा दिवस्यरूपमादघे ॥ ११ ॥—युग्मम् ।

सहस्रं सङ्घान् येषां ते सहस्रसङ्घात् एव सहस्रसङ्घकास्त्रैरैश्च-
क्रावयैर्विनिर्मितं रचित् पुनर्भणीनां विकारो भणीमयं रजमयं तथा- २२
५ गो० क्षा०

एवमप्रेऽपि । हिः पादपूरणे । प्रभायेति । प्रपूर्वान्माडो ल्यपि 'न
स्यपि' (६४६९) इतीत्वाभावः । दुदुवुरिति । 'दु गतौ'
३ असात्कर्चरि लिद् ॥ ५ ॥

वतस्ते सुराः किं कृतवन्त इत्याह—

पुरा निर्णीय लोचनं महामहोभिरञ्जितम् ।

६ कृतप्रदक्षिणात्रया जगत्प्रभुं ववन्दिरे ॥ ६ ॥

ते चतुर्विधा देवा अञ्जितं त्रैलोक्यपूजितं जगत्प्रभुं श्रीवीर-
जिनेश्वरं पुरा पूर्वं महन्महः प्रभा येषां तानि महामहांसि तैरति-
९ मास्तरैलोचनैन्नेत्रैनिर्णीय सादरं विलोक्य कृतं प्रदक्षिणात्रयं यैस्ते कृत-
प्रदक्षिणात्रयाः सन्तो भगवन्तं ववन्दिरे प्रणामपूर्वकं स्तुवन्ति सा ।
निर्णीयेति । निपूर्वात् 'पीड़ पाने' इति दैवादिकात् ततो स्यप् ।
१२ महोभिरिति । 'भा मयूखमहसी छविरिंभा' इति हैमः । ववन्दिरे
इति । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' कर्त्तरि लिद् ॥ ६ ॥

कथं स्तुवन्ति सोत्यत आह—

१५ नमो नमोऽस्तु ते प्रभो पराऽत्मरूपधारिणे ।

नमो नमोऽस्तु ते प्रभो जगत्प्रकाशकारिणे ॥ ७ ॥

नमोऽस्त्वनन्तवशक्तये जगज्जनोपकारिणे ।

१६ अनन्तमायभासते नमोऽस्तु ते सर्यंभुवे ॥ ८ ॥

हे प्रभो! परं प्रकृष्टं आत्मनः सत्य रूपं समावं धारयति तच्छील-

पराऽत्मरूपधारी तस्मै ते तुम्यं नमोऽस्तु । भूयोऽसाकं नमस्कारोऽस्तिव-

त्यर्थः । पुनर्हैं प्रभो! जगस्य त्रैलोक्ये प्रकाशमुद्घोरं करोतीति-

१२ तच्छीलो जगत्प्रकाशकारी तस्मै ते तुम्यं नमो नमोऽस्तु ॥ ७ ॥

तथा है प्रभो । अनन्ता शक्तिर्यस्य सोऽनन्तशक्तिस्सै अत एव
जगज्जनोपकारिणे वैलोक्यलोकोपकारकरणशीलाय तुम्हं नमोऽस्तु ।
मुनहें प्रभो ! अनन्ता ये भावाः पदार्था द्रव्यपर्यायादयस्तेषु प्रकाश-३
कल्पाद्वासान् सर्ये हव अनन्तभावभास्तान् तत्सै, तथा स्वयमात्मना
परोपदेशव्यतिरेकेणैव मवतीति तीर्थप्रवर्धकः संबुद्धो वेति सर्वंभृ-
स्सै ते तुम्हं नमोऽस्तु ॥ ८ ॥ ६

इति प्रणूय किन्नरा जिनेशमक्षिरत्पराः ।

सुमन्द्रमध्यतारकैः स्वरैः पुरो यशो जगुः ॥ ९ ॥

इतीत्यं प्रणूय स्तुत्वा तेषु देवेषु ये किन्नरा व्यान्तरविदेशा देवास्ते ९
जिनेशस्य भगवतो मक्तौ तत्पराः सन्तः सुषु शोभनैर्मन्द्रमध्यता-
रकैरुरःकण्ठशिरोभवैः स्वरैः पद्मादिभिः पुरः प्रभोरम्भे यशो भग-
वत्कीर्तिं जगुर्गायन्ति स । प्रणूयेति । ‘णू स्वरे’ अस्मात् क्त्वा ल्यप् । १२
सुमन्द्रेत्यादि । तारकैरित्यत्र सार्थं कप् । ‘ते मन्द्रमध्यताराः स्यु-
रःकण्ठशिरोभवाः’ इति हैमः । ‘गारोऽस्त्वयैवंनिर्मन्द्रो गंभीरः’ इति
च ॥ ९ ॥ १५

अथ भगवतो विद्यारसमयेऽप्रतः किं चचालेत्याह—

सद्गुरुकैररविनिर्मितं मणीमयम् ।

इवाऽर्कमण्डलं नमोगतं स्फुरन्महाप्रमम् ॥ १० ॥ १०

जयाय धर्मचक्रिणश्चाल चक्रमग्रतः ।

रदीपरोचिपा निशा दिवस्तरुपमादये ॥ ११ ॥—युग्मम् ।

सद्गुरुं सद्गुरा येषां ते सद्गुरुसद्गुरा एव सद्गुरुसद्गुरकाञ्चैरैरेत्य-
कावयवैविनिर्मितं रचित्वं पुनर्मणीनां विकारो मणीमयं रक्षयं तथा-२२
५ गौ० चा०

ऋगण्डलं सूर्यविम्बनिव नभोगतमाकाशं प्राप्तं पुनः स्फुरन्ती सर्वेतः
संचरन्ती महाप्रमा यस्य तत् तथोक्तम् ॥ १० ॥

३ एवंविधं चक्रं धर्मचक्रं लयाथ जयार्थं धर्मचक्रिणः । श्रीवीरप्रभोः
अग्रतश्चाल अपे चलति स । तदा तस्य चक्रस्येदं तदीयं यद्रोचि-
ज्योतिस्थेन निशा रात्रिरपि दिवस्य दिवसस्य स्वरूपं आदधे धार्यति
इस । तत्प्रकाशेन हि भगवद्विहाररात्रिर्दिवसप्रायाऽमूदित्यर्थः ।
मणीति । मणीशब्दस्य पुंखीलिङ्गत्वात्कृदिकारादिति लियां पाक्षिको
डीप् । धर्मेत्यादि । धर्मचक्रमस्यासीति मत्त्वर्थे इनिः । धर्मचक्री
९ तस्य । दिवेति । दिवद्यन्वोऽदन्तः । आदधे इति । आहपूर्वाद्वाचः
कर्चरि लिइ ॥ ११ ॥

वतोऽनुकूलमालतेरितस्फुरत्पताक्या ।

१२ प्रमोः पथा चलन्तु मोयिति प्रणोदयन्निव ॥ १२ ॥

घजोऽन्तरिक्षगोऽचलत् सहस्रोजनोच्छ्रवः ।

सुरा हि यस्य वाहकाः कथं महिम्नि संशयः ॥ १३ ॥—युग्मम् ।

१५ ततस्तदनन्तरं अन्तरिक्षमाकाशं गच्छति प्राप्नोतीत्यन्तरिक्षगो
नमस्तुथा सहस्रोजनानि उच्छ्रूत उच्चोऽनेकपत्रकापरिमण्डितो
रत्नमयो घजः प्रमोः पुरोऽचलत् । किं कुर्वन्निव । अनुकूलोऽनुलोमो

१८यो मालतो वायुस्थेन ईरिता कम्पिताऽत एव स्फुरन्ती इतस्त्रवः
संचरन्ती या पताका तया भो लोकाः । प्रमोः पथा प्रमूषदिष्टमार्गेण
चलन्तु इति प्रणोदयन् प्रेरयन्निव भव्यलोकानिति शेषः । युक्तोऽय-

२१ मर्धः—हि यतः कारणात् यस्य घजस्य सुरा देवा वाहकाः प्रापकाः
तस्य महिम्नि महत्त्वे कथं केन प्रकारेण संशयः सन्देहः ॥ न कथम्

२४ पीत्यर्थः । इट पताकानां वहुत्त्वेऽपि पताकयेति जातावेकवचनम् ।

मोयिति । 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (८।३।१७) इति 'रो रि'
(८।३।१४) आदेशो 'लोपः शाकस्यस्य' (८।३।१९) इत्यस्य
चैकस्थिपकत्वान्न यलोपः ॥ १२ ॥ १३ ॥

विचित्ररत्नमण्डितं ततो हिरण्मयासनम् ।

अमापनोदनक्षणे यदाश्रयेत तीर्थराट् ॥ १४ ॥

सपादपीठमम्बरे सुरांसगं चचाल तद् ।

इवाघ्नि सुधाभुजामखण्डचन्द्रमण्डलम् ॥ १५ ॥—युग्मम् ।

ततस्तदनन्तरं अमस्य खेदस्याऽपनोदनं दूरीकरणं तत्य क्षणे प्रस्तावे
यत् सिंहासनं तीर्थराट् श्रीबीरतीर्थराज आश्रयेत आरोहेत् । उप-५
विशेदिति यावत् । तद्विचित्रैरनेकविधै रैत्यर्मण्डितं खचितं सपादपीठं
पादपीठेन सह वर्चमानं सुराणामसेषु स्कन्धेषु गच्छतीति सुरांसगं
एवंविधं हिरण्मयासनं सर्णसिंहासनं अम्बरे आकाशे चचाल तत् । १२
सिंहासनं किमिव सुधाभुजां देवानामघ्नि मार्गेऽखण्डं चन्द्रमण्डल-
मिव । प्रकाशकत्वादिति भावः । हिरण्मयेत्यादि । हिरण्मयस्य
विकारो हिरण्मयं 'दाण्डिनायन-' (६।४।१७४) इत्यादिसूत्रेण १५
निपातनाघलोपः । 'सर्ण हैम हिरण्यहाटके'त्यादि हैमः । हिरण्मयं
च तदासनं चेति विमहः । सपादपीठमिति । 'पादपीठं पदासनं'-
मिति हैमः । सुरांसेत्यादि । 'अंसो भुजशिरःस्कंथ' इति हैमः ॥ १६

तदुद्धरन्ते ऐश्वरासनं सुरा यथाक्रमम् ।

परस्परार्थनापरा निजान् भुजानपीपवन् ॥ १६ ॥

परस्परेभ्योऽर्थना पार्थना परस्परार्थना तस्यां परासुत्पराः सुरा
देवाः तत्पूर्ववर्णितं ईश्वरत्य भगवत् इदं ऐश्वरं आसनं सिंहासनमुद्- २२

हन्तः सन्तो यथाकरमनुकरेण निजान् सुजान् अपीपवन् पावयन्ति
स । पवित्रीकुर्वन्ति सेति यावत् । अपीपवन्निति । हेतुगण्णजन्तात्
३ ‘पूर्ण पवने’ धारोर्लेष्ट । ‘ओः पुयण् ज्यपरे’ (७१४।८०) इति
अभ्यासोकारस्येत्वं, ततो दीर्घः ॥ १६ ॥

प्रलभ्यमानमौक्तिकावलीकलापमालितम् ।

४ इवेन्दुविम्बमात्सवलुधासुविन्दुसुन्दरम् ॥ १७ ॥

विजृम्भमाणमालतीविशालमालिकार्चितम् ।

चनद्विरेफसहुतिप्रकाशितथि दूरतः ॥ १८ ॥

५ सुरलदण्डमण्डितं विहायसि प्रभासितम् ।

उपर्युपर्यधीश्वरं त्रिधातपत्रमस्तुरत् ॥ १९ ॥—निभिर्विशेषकम् ।

विहायसि आकाशेऽधीश्वरसुपर्युपरि अधीश्वरस्य भगवत् उपरि-

३२ एतस्मीपदेशो त्रिधाऽतपत्रं भुवनत्रयसाभित्वसूचनात्रिविधं छन्नं, छन्नं-
अपमित्यर्थः । अस्तुरत् चलति स । कीदृशं तदित्याह—प्रलभ्य-

माना या मौक्तिकावल्यो सुकाफलमालासासां कलापैः समूहैर्मालितं

३५ युक्तं अत एव सुन्दरं रम्यम् । किमिव । आसवन्तः क्षरन्तः सुधाया
अमृतस्य सुमु शोभना विन्द्वो यस्य तचयोक्तं इन्दुविम्बं चन्द्र-

मण्डलमिव यथैरसुन्दरं भवति तथा तदित्यर्थः । पुनः कीदृशम् ।

३६ विजृम्भमाणा विकसन्ती या मालती जातिलता तसाः पुष्परूपा या
विशाला विसीर्णा या मालिका मालास्त्राभिरचितं पूजितं शोभित-

मित्यर्थः । पुनर्दूरतो ध्वनन्तो ध्वनिं कुर्वाणा ये द्विरेफाः अमरासेपाँ

३७ क्षटृतिर्ज्ञदारशब्दलया प्रकाशिता प्रादुर्घृता श्रीः शोभा यस्य तच-

योक्तं पुनः सुमु शोभनानि यानि रसानि तेषां दण्डेन मण्डितं तथा

३८ प्रभासितं दीप्तिमन्तम्, यदा प्रभया दीप्त्या सितमुञ्जलं श्वेतदीप्तिमन्त-

मित्यर्थः । प्रकाशितश्रीति । नपुंसकत्वाद् इत्सत्त्वम् । विहायसीति ।
 ‘विहाय आकाशमनन्तपुष्करे’ इति हैमः । सितमिति । ‘श्वेतः इयेतः
 सितः शुक्र’ इति हैमः । उपर्युपरीत्यादि । ‘उपर्युध्यघसः सामीप्ये’ ३:
 (११।७) इति द्वित्वम् । तदोगे ‘उभसर्वतसोः’ (१०) इत्या-
 दिना द्वितीया । आतपत्रमिति । आतपात्रायते इति विग्रहः ।
 अस्फुरदिति । ‘स्फुर चलने’ असाक्षर्त्तरे लिङ् ॥ १७—१९ ॥ ६

चतुर्दिशासु चामराजली ततोऽन्यनोदिता ।

उदच्छलत्सुराननोच्छलञ्जयार्थैः समम् ॥ २० ॥

ततस्तदनन्तरं सुराणां देवानामाननेष्यो मुखेभ्य उच्छलन्त ९
 उत्पादुर्भवन्तो ये जयारथा जयशब्दाद्यैः समं सार्वं अनोदिताऽप्रेरि-
 तापि चामराणामावली श्रेणिः चतुर्दिशासु प्रभोश्चतुर्दिक्षु उच्छलत्
 उच्छलति सा उत्पत्ति सेति यावत् । चतुर्दिशास्मिति । चतस्रश्च १२
 ता दिशाश्वेति विग्रहः । ‘आपं चैव हलन्तानाम्’ इति वचनाद्विशे-
 खन्नाप् ॥ २० ॥

अतो घनं भृत्यये विकुर्व्य मेषमालिनः । १५

जलच्छटाभिराद्र्यांवभूवुरध्यमेदिनीम् ॥ २१ ॥

अतो अनन्तरं मेषमालिनो देवा भृत्यये आकाशे घनं मेषं
 विकुर्व्य विरच्य अध्यमेदिनीं भगवद्विहारमार्गपृष्ठ्यर्थी जलच्छटाभिः १६
 आद्र्यांवभूवुराद्रीचकुः । भृत्यये इति । ‘अत्रं सुरामोहुमरु-
 त्योऽन्यर्थमिति हैमः । विकुर्व्येति । सामयिकपातुप्रयोगः । आद्र्य-
 यामिति । करोत्यर्थणिजन्तादाम् ॥ २१ ॥ ११

दिशः प्रसादमासद्विशाऽन्यभून्महोञ्जला ।

विमोचितेत्यनीतिभिर्द्वाप्युदध्यसीत्सुखम् ॥ २२ ॥ १२

१ पुनरुद्धादा दिशः सर्वा अपि प्रसादं प्रसन्नत्वं निर्मलत्वमिति यावत्
आसदन् प्राप्नुवन्ति स। तथा निशा रात्रिरपि महोज्जलाऽमूर्त् तथा
२ पुनर्द्वेरा पृथ्वी अपि भगवत्ताऽनीतिभिरन्यायैर्मौचिता इति हेतोः
भुखं यथा स्याच्छाऽधर्षीत् श्वासं शूतवती। आसदन्ति। आद-
पूर्वात् 'पदु'धातोर्द्विः लित्त्वात् च्छेष्वद्। अधर्षीदित्वत्र 'हयन्तक्षण-'
३ (७।२।५) इत्यादिना न दृष्टिः ॥ २२ ॥

सुंहृतपुष्पवार्दलान्नमस्तलाच्च विच्युतैः ।

सुगन्धिभिः सुमोत्करैः सुरा महीं प्रतस्त्रुः ॥ २२ ॥

४ च पुनरुद्धादा सुरा देवाः सुहृत्तानि सुनिर्भितानि पुष्पवार्दलानि
पुष्पवर्णाम्राणि यत्र तत् वसान्नमस्तलादाऽकाशात् विच्युतैः पतितै-
स्था सुषु गन्धो येषु ते सुगन्धयस्तैः सुमानां पुष्पाणामुक्तरैः समू-
५ हैमहीं पृथ्वीं प्रतस्त्रुः आच्छादयामासुः। सुगन्धिभिरिति ।
'गन्धस्येदुत्सूति' (५।४।१३५) इत्यादिना समाप्तान्त इकारः ।

६ सुमेति । 'प्रसूनं कुसुमं सुम'मित्यमरः । प्रतस्त्रुरिति । 'स्तृन्-
७ अच्छादने' असात्पूर्वालिद् ॥ २३ ॥

स्थिरा अपि द्रुमा जलाशयाः सुमैश्च शीकरैः ।

८ तदानुयायिवायुनोपचेहरच्यमीथरम् ॥ २४ ॥

९ तदा तसिन्द्रवसरे स्थिरा अपि द्रुमा वृक्षास्था जलाशया जलाऽ-
धारास्त्रागादयः अनुयायी अनुदूलो यो वायुः पवनस्तेन, प्रेरितेरिति
शेषः । सुमैः पुष्पैश्च पुनः शीकरैर्जलकणैरच्यं त्रिजगत्पूज्यमीथर-

१० भगवन्तमुपचेहराराघयामासुः । भगवद्वक्तौ तस्त्रा वग्न्युरित्यर्थः ।
११ द्रुमाः सुमैः जलाशयाश्च शीकरैरिति क्रमेण योज्यम् । स्थिरा अपीति ।

१ 'एहस्त्रः' एवि द्वारीमुक्तिपाठयिन्द्रः ।

जङ्गमा मनुप्यादयस्तु भगवदुपकण्ठमागत्य भर्त्कि कुर्वन्त्येवेत्यपि-
शब्दार्थः । शीकरैरिति । ‘वाताऽस्तु वारि शीकरः’ इति हेमः । उप-
चिरुरिति । कर्त्तरि लिद् । अत्रोपपूर्वस्य चरघातोर्भक्तिरर्थः । ‘शुश्रूपा-३
राघवोपालिवरिचस्यापरीष्टयः । उपचारः’ इति हेमकोशोक्ते ॥ २४ ॥

पुरःस्थिता अपि द्रुमाः प्रणम्य रम्यमार्गगाः ।

विनिद्रपुष्पसंहर्तीरभिग्रभुं दुढौकिरे ॥ २५ ॥

मुनस्तदा रम्यं भगवद्विहारान्मनोहरमार्गं गच्छन्ति प्रामुखन्तीति
रम्यमार्गगाः पुरोऽप्य स्थिता द्रुमा अपि प्रणम्य प्रभुं नमस्कृत्य अभि-
ग्रभुं प्रभोरभिमुखं विनिद्राणां विकल्पराणां पुष्पाणां संहतीः समूहान् ९
दुढौकिरे ढौकन्ते स । प्रामृतीचक्रुरित्यर्थः । अभिग्रभुमिति ।
‘अभिरभागे’ इति लक्षणेऽप्येऽमेः कर्मप्रवचनीयत्वाचधोगे द्वितीया ।
दुढौकिरे इति । ‘दौड़ गतौ’ कर्त्तरि लिद् ॥ २५ ॥ १२

रविग्रभानुकारिणा खचारिचक्रोचिपा ।

मृगाः प्रवोधिताः पथि प्रदक्षिणं प्रभोर्ययुः ॥ २६ ॥

पथि प्रभोर्विहारमार्गं रवेः प्रभामनुकरोति तुल्यति तच्छीलं रवि- १५
प्रभानुकारितेन सूर्यकिरणसद्वदेन खचारिण आकाशगामिनश्चकल्य
धर्मचक्रस्य रोचिपा किरणेन प्रवोधिताः प्रवोधं नीता विनिद्रीकृता
मृगा हरिणाः प्रभोर्भगवतः प्रदक्षिणं पाश्च ययुः । प्रदक्षिणगत्या १६
यान्ति स्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

तथैव वामपार्श्ववस्त्रस्त्रन्विहाय पंचिणः ।

विद्याय वोरणाकृति गतेर्ययुः प्रदक्षिणम् ॥ २७ ॥

^१ ‘पत्रिणः’ इति काशीमुद्रिवपाद्येऽयुक्तः, उन्दोभास्त्रहान्यापतात् ।

तथैव तेनैव प्रकारेण पत्रं पिच्छमस्त्येषामिति पद्मिणः पक्षिणो
मयूराद्या वामपार्थतस्तुर्लन् वृक्षान् विहाय त्यक्त्वा गतेः स्वकीयगमन-
इनस्य तोरणाऽङ्गकृतिं विधाय तोरणाऽङ्गकृत्या गतिं कृत्वेत्यर्थः । प्रभोः
प्रदक्षिणं पार्श्वं युः । पद्मिण इति । ‘पत्रं पत्रं पिच्छं वाजस्तुर्ल-
रुह’मिति हैमः ॥ २७ ॥

६ तवाऽस्ति सिद्धिरित्यदो वचो वभूव इष्टतः ।
समेहि भो जयोऽस्ति ते पुरोऽपि गीरभूदिति ॥ २८ ॥

पुनरुद्धरा हे मगवन्, तव सिद्धिरस्ति इत्यद इत्येतत् पृष्ठतो
९ वचो देववचनं वभूव । तदथा—भो सामिन्, त्वं समेहि समागच्छ
ते तव जयोऽस्ति इति पुरोऽत्रेऽपि गीर्देववाणी अभूत् ॥ २८ ॥

अनेकतूर्यनिःसनानुपातिकिञ्चरस्तरैः ।

१२ श्रवःसुखैकपात्रतामुवाह सर्वमम्बरम् ॥ २९ ॥

पुनरुद्धरा सर्वं अम्बरमाऽकाशं कर्तुं, अनेकानि यानि तूर्याणि
वादित्राणि तेषां निःसना शब्दास्तान् अनुपतत्यज्ञुसरति तच्छील
१५ ये किञ्चराणां स्वरास्तैः श्रवसां श्रोत्राणां सुखस्य एकपात्रतामद्वितीय-
माजनत्वं उवाह धारयामास । ‘वह प्रापणे’ असात्कर्परि लिद् ॥ २९ ॥

सुगन्धिनीरसंस्कृता ससौरभाऽप्यभून्मही ।

१० जगत्पतेः समागतेरुपस्त्रियेत किं न हि ॥ ३० ॥

पुनरुद्धरा सुगन्धिनीरेण सुरभिजलेन संस्कृता संस्कारं नीता मही
पृथ्यी अपि सह सौरभेण सौगन्ध्येन वर्चते इति ससौरभाऽभूत् ।

११ युक्तोऽप्यमर्थः—हि यतो जगत्पतेर्भगवतः समागतेः समागमनात् किं
न उपस्त्रियेतः सर्वमपि संस्कृयेतेत्यर्थः, देवादिभिरिति दोषः ॥

अत्रोपपूर्वाव छबः कर्मणि लिद् । ‘उपास्तियत्’ (६।१।१३९)
इत्यादिना भूषणे चुद् ॥ ३० ॥

प्रतिप्रसुं सुराज्ञनाऽवकीर्णमौक्तिकोत्कराः ।
नमन्नमश्वरोङ्गभिः सख्पतां प्रपेदिरे ॥ ३१ ॥

पुनस्तदा प्रसुं प्रति सुराज्ञनाभिरवकीर्ण उच्छालिता ये मौक्ति-
कानामुत्कराः समूहाते नमन्तीव नमन्ति नमीभवन्ति यानि नम-
श्वराणि आकाशचारीणि उङ्गनि-नक्षत्राणि तैः सख्पतां समानख्पतां
प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः उज्ज्वलत्वाद्विकीर्णख्पत्वाच्च ततुल्या वभूवुरित्यर्थः ।
उङ्गभिरिति । ‘तारकाम्युङ्ग वा खिया’मित्यमरः । प्रपेदिरे इति । ३१
प्रपूर्वाव पदधातोः कर्चरि लिद् ॥ ३१ ॥

अधोगतानि कण्टकेपिसतान्यतः प्रभृत्यहो ।

अधोमुखास्तकण्टकाः पथीत्यवीविदन्निय ॥ ३२ ॥

पुनर्भगवद्विहारसमये पथि मार्गेऽधो मुखं येषां तेऽधोमुखा अस्ताः
क्षिप्ता ये कण्टका दुःखपदा वन्वूलादिवृक्षाऽवयवास्ते इति अवीवि-
दन्निय इति ज्ञापयन्ति सेव । इतीति किं ? । अहो लोकाः, अतः १५
प्रभृति इत आरभ्य कण्टकानां कण्टकतुल्यदुष्टलोकानामीपिसतानि
दुरध्यवसायख्पवाङ्गितानि अधोगतानि अदृश्यानि जातानीत्यर्थः ।
अवीविदन्निति । हेतुमण्णजन्ता ‘द्विद-ज्ञाने’ असाहुङ् ॥ ३२ ॥ १६

जिनेन हेमपद्मयोः क्रमौ निधाय गच्छता ।

महादिसेनकाननस्यली सप्तद्यूयत ॥ ३३ ॥

इत्थं विहाय मार्गे हेमपद्मयोः सर्णकमलयोरुपरि क्रमौ चरणौ
तिथाय सराययित्वा गच्छता विहारं तुर्वेत्ता जिनेन श्रीवीरपूर्मेश्वरेज ३३

सपदि शीर्घं महादिसेनकाननस्य महसेनवनस्य स्थली भूमिः अपूर्यत
खचरणन्यासैः पवित्रीकियते स, तत्राऽजग्मे इति भावः । यदप्यत्र
इहैः पश्चाद्यमुक्तं तथापि नवपश्चानि वोध्यानि । क्रमाविति ।
'पदोऽहिश्चलनः क्रम' इति हैमः । महादीत्यादि । महशब्द आदि-
र्यस्य तन्महादि, ततो द्विः कर्मधारयगर्भस्तुरुः । अपूर्यतेति ।
द्वपूहः कर्मणि लङ् ॥ ३३ ॥

सुवर्णरत्नवप्रयोजिनालयेऽन्तरालगे ।

न्यधायि निर्जरैरधो निजांससंस्थमासनम् ॥ ३४ ॥

९ तदनन्तरं निर्जरैः सुरैर्निजांससंस्थं खस्कन्धस्य आसनं सिंहासनं
सुवर्णं च रत्नं च सुवर्णरत्ने तयोर्विष्णु प्राकारै तयोरन्तरालं गच्छ-
तीति तसिन् अन्तरालगे मध्यस्ये जिनालये देवच्छन्दके अधो
१२ न्यधायि अधः स्याव्यते स । निष्पूर्वाद्वाबः कर्मणि लुङ् ॥ ३४ ॥

त्रिलोकनाथमन्दिरं तदा सुराऽसुरैर्वृत्तम् ।

राज खेचरावलीप्रवेष्टिताद्विराजवत् ॥ ३५ ॥

१५ तदा तसिन्नवसरे सुरासुरैर्वृत्तं वेष्टितं त्रिलोकनाथस्य भगवतो
मन्दिरं समवसरणं खेचराणां ज्योतिष्काणामावलीभिः श्रेणीभिः
प्रकर्षेण वेष्टितो योऽद्विराजो मेरुगिरिस्तद्रत् राज शोभते स ।

१० त्रिलोकेति । त्रिसद्गो लोकस्त्रिलोक इत्यादिविग्रहः । न तु समा-
हारे द्विगुः, तथात्वे 'द्विगोः' (४।१।२।१) इति दीप्तसङ्गत ॥ ३५ ॥

अमण्डयंश्च लाण्डवं सुराः सुनृत्यपण्डिताः ।

२१ जगुश्च केऽपि गायनाः प्रभोश्चरित्रमाऽऽजने ॥ ३६ ॥

पुनस्तदा आ समन्ताज्जना लोका यत्र तदाजनं प्रस्तावात्समवसरणं
२२ तसिन् सुषु शोभनं यद्वृत्तं नर्चनं तत्र पण्डिता निषुणाः केऽपि सुराः

देवाक्षाण्डवं नृत्यमण्डयन्, धातूनामनेकार्थत्वात् कुर्वन्ति सेत्यर्थः ।
च पुनस्तत्र केऽपि गायना गानक्रियाकर्त्तरो देवाः प्रमोश्चरित्रमाचारं
जगुर्गायन्ति स । ताण्डवमिति । ‘लासं नाथं च ताण्डव’मिति ३
हैमः ॥ ३६ ॥

तथा श्रुतेषु विश्वतान् गुणांश्च केऽपि तुष्टुः ।

सुराश्च केऽपि सादरं मुहुः प्रणेषुरीश्वरम् ॥ ३७ ॥

तथा तेनैव प्रकारेण केऽपि सुराः श्रुतेषु सिद्धान्तेषु विश्वतान्
प्रसिद्धान् प्रमोर्गुणान् निरूपमशममार्दवादीन् तुष्टुः स्तुवन्ति स । चः
समुच्चये, च पुनः केऽपि सुरा ईश्वरं श्रीबीरपरमेश्वरं सह आदरेणेति ९
सादरं यथा स्याच्चथा मुहुर्वारंवारं प्रणेषुः प्रणमन्ति स ॥ ३७ ॥

प्रणीय जानुसंभितां चिरिं प्रद्वनपाततः ।

विभूषितां वसुन्धरां व्यधुश्च केऽपि योजनम् ॥ ३८ ॥ १२

च पुनः केऽपि सुराः प्रसूनानां पुष्पाणां पातनं पातो वर्णं
तस्मात् जानुसंभितां जानुप्रमाणां चिरिं चर्यं पुष्पपुञ्जं प्रणीय कृत्वा
योजनं योजनप्रमाणां वसुंधरां समवसरणपृथ्वीं विभूषितां शोभितां १५
व्यधुः कुर्वन्ति स ॥ ३८ ॥

महसुमुत्र केचन स्वसुन्दरीभिरर्थिताः ।

प्रसादनाय चापरे स्वभर्तुरेव नाकिनः ॥ ३९ ॥ १६

स्वमित्रनोदिताः परेऽपरे स्वकीयभक्तितः ।

कुतूहलेन केऽपि च प्रमोदमाप्य चाययुः ॥ ४० ॥ -युग्मम् ॥

अमुत्र अमुष्मिन् महसि उत्सवे केचन नाकिनः केचिदेवा:
स्वसुन्दरीभिर्लज्जेद्वाङ्मामिरर्थिताः प्रार्थिताः सल्लः अययुः आप्य २२

च्छन्ति स । च पुनरपेऽन्ये केचिद्देवाः स्मर्तुः ससांसिनः एव
प्रसादनाय प्रसन्नताकरणाय आययुः ॥ ३९ ॥

३ परेऽन्ये केचिद्देवाः समित्रैर्नोदिताः प्रेरिताः सन्तस्त्राययुः ।
तथाऽपरे केचिद्देवाः स्वकीयभक्तिस्त्राययुः । च पुनः केऽपि देवाः
कुतूहलेन कौतुकेन प्रमोदं हर्षमाप्य प्राप्य तत्राऽस्ययुः ॥ ४० ॥

४ ततः किं जातमित्याह—

इत्थं महोत्सवमयीव महोज्ज्वलाभा
देवागमेन दिवसादपि दीप्यमाना ।

५ श्रीवर्द्धमानजिनराजविहारपूता
राज्यं प्रदाय दिवसाय निशा पपार ॥ ४१ ॥

इत्थममुना प्रकारेण महोत्सवः स्वरूपमस्या इति महोत्सवमयी

१२ इव महोत्सवभूतेष पुनर्देवानामागम आगमनं तेन महोज्ज्वलाऽस्यु-
ज्ज्वला अभा प्रभा यस्याः सा तथोक्ताऽत एव दिवसादपि दीप्यते

इति दीप्यमाना तथा श्रीवर्द्धमानजिनराजस्य वीरपरमेश्वरस्य विहारेण

१५ पूता पवित्रा एवंभूता निशा रत्निदिवसाय राज्यं प्रदाय दत्ता स्वर्यं
पपार परिपूर्णतां प्राप्ता । एतेन निशा व्यतीता, दिवसश्च उदित इति
भावः । पपारेति । ‘पू पालनपूरणयोः’ असात्कर्चरि लिद् ॥ ४१ ॥

१८ इदं वसन्ततिलकावृत्तं । तस्मैषां च—‘उक्ता वसन्ततिलका
तमजा जगौ गः’ इति ॥

इति भगवदागमनवर्णनो नाम दृतीयः सर्गः ॥ ३० ॥

२१ इति स्पष्टम् ॥

इति श्रीगौतमीयप्रवन्धचाद्याने गौतमीयप्रकाशाभिधाने
२४ दृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ।

अथोदियायारुणरोचिपारुणः

सरोजपण्डानि कर्त्तविकासयन् ।

दिवसृथिव्यावपि रोध्रमित्रिते-

स्तयानुलिम्बनिव यावकद्रवैः ॥ १ ॥

यदीयसंसर्गविवर्जितः पुरा द्विजेन्द्रभूतिः श्रुतपारमोऽपि सन् । ६
चकार थाठोचित्याहिकमित्यां स चर्दमानः प्रतिभां पुनातु मे ॥१॥

अथानन्तरं आरुणरोचिपा रक्तदीप्त्या उपलक्षितः पुनः करैः
खक्षिरणैः सरोजपण्डानि कमलवनानि विकासयन् विकलराणि ९
कुर्वन् अरुणः सूर्यः उदियाय उदयं प्राप्तवान् । किं कुर्वन्निव ? ।
रोध्रेण वृक्षविशेषचूर्णेन मित्रितमिलितैर्योवकद्रवैरलच्छकर्दमैर्दिव-
सृथिव्यावपि आकाशपृथिव्यावपि, तथा तेन प्रकारेण अनुलिम्ब- १२
निव लिपे कुर्वन्निव । आसां ग्रामनगरमदिप्रदेश इति अपि-
शब्दार्थः । उद्गच्छत् सूर्यदीपितुल्यतानिष्पादनार्थं रोध्रमित्रितैरिति
विशेषणम् । उदियायेति । उसूर्यादिष्ट धारोः कर्चरि लिद् । द्विव- १३
सृथिव्याविति । यौश पृथिवी चेति विप्रहः । ‘दिवसश्च पृथि-
व्याम्’ (६।३।३०) इति दिव्यव्यवस्था दिवसादेशः । अत्र सर्गे
प्रायो वंशसच्छंदः, तद्वक्षणं च—‘जरौ तु वंशस्यमुदीरितं जरौ’ १४
इति ॥ २ ॥

गजेन्द्रगत्या च तत्रत्विकालवित् सरन्नवस्थर्णसरोजपाङ्गिषु ।

द्वयत्रक्तमाम्भोजयुगं यथाक्रमं चचार चैत्यद्रुमसंमुखं प्रभुः ॥२॥ २१

ततः सूर्योदयानन्तरं त्रिकालवित्—समुत्पन्नकेवलालोकेन त्रिकालवेषा,
प्रमुक्तिरपरमेश्वरः सरन्ति चलन्ति नवनवसद्व्यानि यानि सर्णसरोजानि २३

स्वर्णकमलानि तेपां पङ्किपुत्रेणिषु क्रममनतिक्रम्येति यथाकर्मं क्रमेण
द्वयोद्वयोः स्वर्णपद्मयोरित्यर्थः । क्रमान्मोजयोश्चरणकमलयोर्युगं युगलं
३ दधत् धारयत् गजेन्द्रगत्या गजराजसदृशगत्या चैत्यहुमस्य समवसरण-
मध्यस्याशोकवृक्षस्य संमुखं चचार सञ्चरति स । चः पादपूरणे ।
दधदिति । ‘नाभ्यस्ताच्छतुः’ (७।१।७८) इति न नुम् । चैत्येति ।
६ ‘चैत्यं जिनौकस्तद्विम्बं चैत्यो जिनसभातह’ रित्यनेकार्थः । ‘ननु सर्ण-
पद्मयोः पदस्थापनं तु प्राक्तने सर्गे उक्तमेवासीत्पुनरत्र तदुक्तिः कथमिति’
चेदुच्यते—पूर्वं संक्षेपत उक्तम्, अत्र किंचिद्विस्तर इति न दोषः ॥२॥

७ अचेलतां विश्रदपि ग्रभामैरुदारवासोभिरिद्वोपशोभितः ।
विनाप्यलङ्घारभरावधारणं विभूपणाद्वस्य रमाभिवोद्धहन् ॥ ३ ॥

सितातपत्रत्रितयाधरे चरन् विलोलवालव्यजनाभिवीजितः ।
८ समुत्थविष्वगृजयशब्दसूचितः समागमद्रक्षचतुष्पिकाभिनः ४

मगवान् अचेलतां निर्वेस्तां विश्रदपि धारयन्नपि ग्रभामैरः
सदेहदीसिसमूहैः उदारवासोभिः प्रधानवस्त्रैरिव उपशोभितः पुनरं
१५ लंकारमरस्य विभूपणसमूहस्यावधारणं देहे स्थापनं विनापि विभूपणै-
राद्वस्य समृद्धस्य रमां लक्ष्मीं उद्धहन्निव धारयन्निव ॥ ३ ॥

एवंविध ईनः श्रीवीरत्यामी सितं श्वेतं यदातपत्रत्रितयं छत्रवर्णं
१८ तस्याऽघेरेऽधःप्रदेशो चरन् चलन् पुनर्विलोलानि चपलानि यानि
वालव्यजनानि चामराणि तैरभिवीजितः समन्ताद्वीजितः सन् तयो
समुत्थो देवसुखात्समुत्थनो विष्वकृ समन्ताद्यो जयशब्दस्त्रेन सूचिगो
२१ ज्ञापितः सन् रक्तचतुष्पिकां चृतीयवप्यमध्यस्यमणिवेदिकां समागमत्
चागच्छति स । विष्वगिति । ‘परितः सर्वतो विष्वकृ समन्ताच्च
२३ समन्तत्’ इति हेषः ॥ ४ ॥

इमां समासद्य सुरामुरेश्वरो
दिग्दस्तु ग्राच्याः प्रविवेश तोरणम् ।

ततः परिक्रम्य हरेर्दिग्गासने

‘नमोऽस्तु तीर्थाय’ बदलुपाविश्वरु ॥ ५ ॥

तु इति विशेषे, द्वाराऽद्वाराणामीश्वरो भगवान् वीर इमां भग्नि-
षीठिकां समासद्य प्राच्या पूर्वेत्या दिग्दस्तोरणं प्रविवेश ततः परि-
क्रम्य चैत्यदुमस्य प्रदक्षिणां विधाय ‘तीर्थाय नमोऽस्तु’ इति बदल्
बल्पन् हरेरिन्द्रस्य दिक् पूर्वी तस्यां यदासनं सिंहासनं तस्मिन् उपा-
विश्वरु उपविश्वति ल । तीर्थशब्देनात्र सहृदय्यते । ग्राच्याः
इति । ‘पूर्वी प्राची दक्षिणाऽपाची’ति हैमः । अत्र प्राज्ञरे परे पूर्व-
द्वितीयस्य गुरुत्वाच्छन्दोभज्ञो न शङ्खयः, छन्दःशास्त्रे हमशब्दयोः
परयोः पूर्वहत्यस्य विमापया गुरुत्वाभिवानात् ॥ ५ ॥

असद्यतेजो न विपद्यते परे-

रतोऽस्य लोकैः सुलभं न दर्शनम् ।

इति प्रमायाऽनिमिषैः प्रमोर्महो-

उपवर्त्य मामण्डलमैकतः कृतम् ॥ ६ ॥

न्यथीयतास्यैव वराङ्गपृष्ठत-

त्तदोऽत्र नाथः प्रतिविम्बपाततः ।

समस्तकाष्टास्यपि संमुखं स्थितः

समस्तसिंहासनगोऽप्यलक्ष्यत ॥ ७ ॥—युग्मम् ।

१ तथा च छन्दःकौस्तुमे—

“अनुस्ताणे निर्वर्णा च दीप्तो युक्तरत्नाया ।

वर्णो गुरुत्वो हैम्रे पादान्ते चाहि वृद्धयुः ॥”

अस्य भगवतोऽसद्बतेजोऽन्येषां सोहुमशक्यं तेजोऽपैलौकैर्न
विपक्षते न विशेषेण सद्बतेऽतोऽस्य दर्शनं लोकैर्न सुलभं न सुपापं,
इदुर्लभं मविष्यतीत्यर्थः । इति प्रभाय इति शास्त्राऽनिमिपैदेवैः प्रभो-
महस्तेजोऽपवर्त्य सर्वं विहाय असद्बा गृहीत्वा भामण्डलं प्रभाचकं
एकतः कृतं एकत्रीकृतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

७ तद्भामण्डलमस्यैव भगवतो यद्वराङ्गं मखकं तस्य पृष्ठतः पृष्ठदेशे
न्यधीयत स्याप्यते स । अत्रानिमिपैरिति कर्तुपदमुक्तमेव, ततस्त-
त्वृष्टसापनानन्तरं अत्र भामण्डले प्रतिविम्बपाततः संमूलदेहस्य
९ प्रतिविम्बपतनात् नाथः श्रीवीरपरमेश्वरः समस्तकाषासु सर्वदिक्षु अपि
संमुखं स्थितस्थथा समखासिंहासनगः सर्वसिंहासनस्थोऽपि अलद्यत
दृश्यते स । लोकैरिति शेषः । यस्तु अत्र शेषदिक्षये भामण्डले
१३ एव प्रतिविम्बसङ्कम उक्तो न तु पृथग्मूर्चित्रयं तन्मतान्तराश्चितं
ज्ञेयम् । वृहत्कल्पादौ तु—‘तिदिसिं पडिरुचयाय देवकया—’ (उद्दे० १
भाष्य गा० ११८३) इत्यादिवचनात् शेषदिक्षु देवकृतं भगवतुल्यरूपं
१५ पृथग् मूर्चित्रयमुक्तमस्तीति । लोकैरिति । ‘न लोकाव्यय—’
(२।३।६९) इत्यादिना न पष्टी । वराङ्गेति । ‘वराङ्गं करणञ्चाणं
शीर्पं मखकमित्यपी’ति हैमः । काष्टेति । ‘काषाऽऽशादिगृहरित्क-
१८ कुवि’ति हैमः ॥ ७ ॥

८ तदा निनेदुर्दिष्टि तूर्पकोटयो जयच्छनिश्च प्रसार सर्वतः ।
इवाभिपित्तो जगदीशतापदेऽधुनैव देवैरयमित्यऽदृश्यत ॥ ८ ॥

९ तदा तत्त्विन्द्रसरे दिवि आकाशे तूर्पाणां वैषुवीणामृदमादीनां
कोटयो निनेदुर्मिनादं कुर्वन्ति स । च पुनः सर्वतः सर्वदिक्षु जय-
११ प्यनिर्जयत्पश्चवद्दः प्रसार प्रसरति स । ततश्च देवैरऽयं भगवान्

अद्वैते इदानीमेव जगदीशतापदे त्रैलोक्यप्रमुतापदेऽभिपिक्त इव
कृताऽभिषेक इव इति अद्वयत, लोकैरिति शेषः । द्वैः कर्मणि
लङ्घ ॥ ८ ॥

अथ यज्ञार्तं तदाह—

द्विजाश्रयोऽज्ञाऽवसरे तु गुर्वरामिधोऽमवत्संवसथस्तदन्तिके ।
इहावसद्गोत्रमगोत्रमास्करो द्विजातिरिन्द्रादिमभूतिराख्यया ॥९॥ ६

‘तु’ इति विशेषे, अत्राऽस्तिन्नवसरे तदन्तिके तस्य समवसरणस्य
समीपे द्विजानां ब्राह्मणानामाऽश्रयो द्विजाश्रयः गुर्वरः अभिधा यस्य
स गुर्वरामिधो गुर्वरनामकः संवसथो आमोऽमवत् । इहाऽस्तिन् गुर्वर-९
प्रामे गोत्रमगोत्रे मास्करः सूर्यतुल्यः आख्यया नामा इन्द्रादिमभूतिः
इन्द्रभूतिनामेत्यर्थः, द्विजातिर्ब्राह्मणोऽवसर् । अभिघ इति । ‘अथाऽऽ-
हयोऽभिधा, गोत्रसंज्ञानामवेयाऽस्त्व्याऽहाऽभिस्त्व्याश्च नाम चेति १२
हेमः । इन्द्रादिमेति । आदौ मव आदिमः, इन्द्र आदिमो यस्य
भूतिशब्दस्य इत्यादिविश्रहः ॥ ९ ॥

अथ गौतमवर्णनमाह—

शरन्निशानाथकरोत्करोडवलं

यशो यदीयं विठ्ठलास भूतले ।

अवाप पृथ्वीवसुभूतिवस्तु यो

जनिं चूरलं स कश्यं मवेन हि १ ॥ १० ॥

शरदः शरत्कालस्य यो निशानाथश्चन्द्रस्तस्य कराणां किरणा-
नामुत्करः समूहः शरन्निशानाथकरोत्करसद्दुज्ज्वलं निर्मलं यदीयं
यशो भूतले विठ्ठलास विठ्ठलस्ति स, स्तेच्छया संचचारेत्यर्थः । तु २२
६ गौ- ३०

समुच्चयो देवीसमूहः सलक्षणैर्स्तथाविधोत्कृष्टोभालज्जादिचिह्नैरत्रेन्द्र-
मूलादेव एकसिन्नाऽत्रये समैक्यं दृश्यते स । एतावता निरूपम्-
श्रीहीधीकीर्तयोऽस्यासन्निति भावः ॥ १२ ॥

अथास्य पदज्ञयादिचतुर्दशविद्यानिपुणत्वमाह—

अधीतपूर्वा खलु सर्वसत्कलाः

स्मृता इवासन्निह यस्य जन्मनि ।

तदस्य शिक्षाश्रुतपाठको गुरुर्बर्यजी-

गणत्स्यस्य गुरुत्वगौणताम् ॥ १३ ॥

खलुर्यदर्थे, यतो यस्येन्द्रमूलेरिह जन्मनि सर्वाश्च ताः सत्कलाश्च १२
सर्वसत्कलाः? पूर्वमवीता अधीतपूर्वाः भवाऽभ्यस्ताः स्मृता इव स्मरण-
विषयीकृता इव आसन् अभूवन् । अप्रयासेनैव सर्वाः कलाः समी-
युरिल्यर्थः । तत्रसात्कारणात् अस्येन्द्रमूलेः शिक्षाश्रुतस्य अकारादि- १३
वर्णविवेचकशिक्षाशाखस्य पाठकोऽध्यापको गुरुः स्यस्य यद्गुरुत्वं
गुरुभावस्यास्य गौणतामप्रधानत्वमजीगणत् गणयति स । खस्य
पाठजन्यस्य क्लेशस्याप्यऽमवनात् खतोऽप्यघिकतरविद्याप्रादुर्भावाचेति १४
भावः । अधीतेत्यादि । ‘मूलपूर्वे चरद्’ (५।३।५३) इति
निर्देशादत्रापि अधीतशब्दस्य पूर्वेनिपातः । व्यजीगणदिति ।
चुरादिणिजन्ताद्वाणसद्वानेऽसात्कर्चरि लुइ । ‘ई च गणः’ (७।४। १५
९७) इति अभ्यासस्य पदो इव ॥ १३ ॥

श्रुतेषु यत् स्मृतिमाद्यकोविदैः

सदौचित्वं नीतिविचारचेष्टितम् ।

तथैव कल्पोऽस्य मवन् स्वभावत्-

शकार कल्पाऽगममात्मसाक्षिणम् ॥ १४ ॥

पुनर्यः इन्द्रभूतिः पृथ्वीवसुभूतितः पृथ्वीवसुभूतिनामभ्यां माता-
पितृभ्यां जनिमुत्पर्ति अवाप प्रातंवान् स नूरहं भनुष्येषु रत्नदुश्यः
इकर्थं न हि मवेत् । भवेदेवेत्यर्थः । जनिमिति । ‘जननं जनिलद्वा’
इति हैमः ॥ १० ॥

सुलक्षणं सर्वमपि स्वभावतः

शरीरमेतस्य गुणानुवाच यद् ।

सुहृचयाऽनीक्षितलक्षणान्यपि

व्यभावयन्नस्य गुणास्तदुच्चलाः ॥ ११ ॥

१० एतस्य इन्द्रभूते: शरीरं यदसात्कारणाद्गुणान् गाम्भीर्यादार्यादीन्,
नुहृत्या मित्रतया इन्द्रभूते: सर्वमपि वस्तु स्वभावतः सुलक्षणं
शोभनलक्षणयुक्तं उवाच कथयति स, तत्त्वसात्कारणात् उच्चला गुणा.

११ अस्येन्द्रभूते: अनीक्षितानि अदृष्टानि लक्षणान्यपि व्यभावयन् प्रादु-
रकुर्वन् प्रकटीकुर्वन्ति सेति यावत्, एतावताऽस्य शरीरेण ज्ञापि-
तानि सुलक्षणानि गुणाः प्रादुश्चकुरिति भावः । व्यभावयन्निति ।
१२ विष्वर्वदेतुमण्णजन्तद्वधारोः कर्चरि लङ् ॥ ११ ॥

पृथक्पृथग्यर्पयराचलात्रयाः

श्रुते श्रुताः श्रीप्रमुखास्तु देवताः ।

समैक्ष्यताऽवैव सुरीसमुच्चयः

सलक्षणेरेप तु तत्त्वदर्शिमिः ॥ १२ ॥

श्रुते सिद्धान्ते तु श्रीप्रमुखाः श्रीदीधीकीर्तिसंज्ञिका देवताः

२१ पृथक् पृथक् भिन्नो भिन्नो वर्षधराचलो हिमवदादिवर्यधरः पर्वत
आधयो निवासस्यानं यासां ता एवंविधाः श्रुताः संतीति श्रेष्ठः

२२ 'तु' इति विदेषे, तत्त्वदर्शिमिलात्तद्वानिभिरेप श्रीदीधीप्रमुखाः मुरी-

समुच्चयो देवीसमूहः सलक्षणैस्तथाविधोक्तुष्टशोभालज्जादिचिह्नैरत्रेन्द्र-
मूत्रावेव एकसिन्नाऽस्य अथ समैक्यत दृश्यते स । प्रतावता निरुपम-
श्रीहीधीकीर्तयोऽस्यासन्निति भावः ॥ १२ ॥

अथास्य पठन्नवादिचतुर्दशविद्यानिपुणत्वमाह—

अधीतपूर्वा स्तं लु सर्वसत्कलाः

स्मृता इवासन्निह यस्य जन्मनि ।

तदस्य शिक्षाश्रुतपाठको गुरुव्यजी-

गणतत्खस्य गुरुत्वगौणताम् ॥ १३ ॥

स्तुर्यदर्थे, यतो यसेन्द्रमूतेरिह जन्मनि सर्वाश्च ताः सत्कलाश्च ६
सर्वसत्कलाः १ पूर्वमधीता अधीतपूर्वाः मवाऽभ्यस्ताः स्मृता इव सरण-
विपर्यीहृता इव जासन् अभूवन् । अप्रयासेनैव सर्वाः कलाः समी-
युरित्यर्थः । तत्प्रसात्कारणात् असेन्द्रमूतेः शिक्षाश्रुतस्य अकारादि- १२
वर्णविवेचकशिक्षाद्यास्तस्य पाठकोऽध्यापको गुरुः स्तस्य यद्गुरुत्वं
गुरुमाचस्तस्य गौणतामप्रधानत्वमजीगणत् गणयति स । स्तस्य
पाठजन्मस्य फ्लैरसाप्यऽभवनात् स्तोऽप्यधिकतरविद्याप्रादुर्भावाचेति १५
भावः । अधीतेत्यादि । ‘नूतपूर्वे चरह’ (५।३।५३) इति
निर्देशादत्रापि अधीतशब्दस्य पूर्वेनिपातः । व्यजीगणदिति ।
तुरादिणिजन्माद्वाणसद्वानेऽस्यासत्कर्त्तरि लुह । ‘ई च गणः’ (७।४। १६
९७) इति अभ्यासस्य पक्षे ईत् ॥ १३ ॥

श्रुतेषु यत् यत्रितमाध्यकोविदैः

सदौचितं नीतिविचारचेष्टितम् ।

तथैव कल्पोऽस्य भवन् स्तमाद्वत्-

शकार कल्पाऽगममात्मसाद्विषम् ॥ १४ ॥

आदकोविदैः प्राचीनपण्डितैः श्रुतेषु आचारविचारशास्त्रेषु यद्
सदा सर्वसिन् काले उचितं योग्यं नीतिविचारस्य न्यायविचारस्य
३ चेष्टितं कर्म सूत्रितं रचितम्, अस्तीति शेषः । तथैव तेनैव प्रकारेण
अस्येन्द्रभूतेः कल्य आचारः स्वभावतः स्वभावेन शास्त्राऽलोकनमन्तरे-
४ गैवेत्यर्थः । भवन् संपद्यमानः कल्पागममाचारप्रतिपादकशास्त्रमात्मनः
५ स्वस्य साक्षिणं साक्षिभूतं चकार । भवन्निति । भूधातोर्लटः शत्रु ॥ १४ ॥

पुरःसरोऽसौ यदवाक्यवेदिना-

मभूच्छिशुत्वेऽपि ललन् स्वलीलया ।

६ ततो द्वयोर्गीर्पितिसर्पराजयो-

७ र्यं द्रुतीयो भुवि पूज्यतापदे ॥ १५ ॥

८ असौ इन्द्रभूतिः शिशुत्वे वालभावेऽपि आस्तां तारुण्ये इति
९ अपिशब्दार्थः । स्वलीलया स्वक्रीडया ललन् विलासं कुर्वन् पद-

१० वाक्यवेदिनां पदवाक्यज्ञानभूतां शान्तिकानां पुरःसरोऽप्तेसरोऽभूत ।

११ तत्त्वस्वलाक्षण्णाद्योर्गीर्पितिसर्पराजयोः स्वर्गपातालस्ययोर्वृहस्पतिशेष-
१२ नागयोर्मध्ये सुवि पृथिव्यां पूज्यतापदे पूज्यत्वस्ताने एतीयोऽप्य

१३ गौतमोऽभूदिति क्रियापदं पुनर्योज्यम् यथा सर्वे वृहस्पतिः पाताले च
१४ शेषगागस्या भर्त्यलोकेऽप्यं पूज्योऽभूदित्यर्थः । ‘पदे’त्वादि-पदानि

१५ वंटपद्यदीनि, वाक्यानि घटमानमेत्यादीनि सर्वशास्त्रानुगतानि गति
१६ विदन्ति तत्त्वीला इति विग्रहः । वैयाकरणानां गते ‘सुषिद्धन्तं

१७ पदम्’, पक्तिश्च वाक्यम् । नैयायिकानां तु ‘शक्तं पदं’ शक्तिमदित्यर्थः,

१८ पदसमूहो वाक्यम् । ललन्निति । ‘दृढ विलासे’ अस्तालटः
१९ शह, ढलयोरेकत्वस्तरणाद्युसिद्धिः । गीर्पतीति । अहरादीनां

२० पत्यादित्रिति पाक्षिको रेफः ॥ १५ ॥

सुनृत्यसङ्गीतकवित्वकर्मणां

प्रसाधनीं छान्दसकर्मपद्धतिम् ।

अनन्यगम्यां यदसौ तथा न्वे-

द्यथाऽधरोऽभूदपि पिङ्गलोरगः ॥ १६ ॥

यदसात्कारणात् सुनृत्यं च शोमननाथ्यं सङ्गीतं च सम्यगानं
कवित्वकर्म च कान्यकर्तृत्वादिकवित्वक्त्वा तेषां प्रसाधनीं प्रकृष्ट-६
कारणभूतां पुनर्न अन्येरेतद्यतिरिक्तेसादृशी गम्यते ज्ञायते या
साऽनन्यगम्या ताम् । छन्दोवर्णगात्रावृतशास्त्रमधीयते ये ते छान्दसा-
सेषां कर्म किया प्रखारादिरूपा तस्य पद्धतिर्मार्गस्त्रां, ‘नु’ इति ७
वितर्के, असौ गौतमस्तथा तेन प्रकारेण अवेत् जानाति स । यथा
पिङ्गलोरगः छन्दशास्त्रप्रकाशकः पिङ्गलनागोऽपि अधरोऽभूत् ।
एतद्ऽपेक्षया न्यूनोऽग्नित्यर्थः । अवेदिति । ‘विद ज्ञाने’ अवादि-१२
कोऽसात्कर्परि लहू ॥ १६ ॥

र्खीन्दुताराम्रहधिष्प्यचारतः

प्रसाध्य कालत्रितयं निमित्तवित् ।

समस्तलोकस्य शुमाशुमान्यसौ

विवेद किं दैवविदां रहः स्थितम् ॥ १७ ॥

निगिर्चं निगितप्रतिपादकं शास्त्रं वेचीति निमित्तवित्, असौ १८
गौतमो रविश्च इन्दुश्च चाराश्च महाश्च विष्ण्यानि च नक्षत्राणि र्खी-
न्दुताराम्रहधिष्प्यानि तेषां चरणं चारस्त्वात् कालत्रितयं भूत-अविष्यन् १९
द्वर्षमानरूपं प्रसाध्य सार्वपित्ता समस्तलोकस्य शुमाऽशुमानि निमि-
चानि वेदं जानाति सां । युक्तोऽयमर्थः—दैवं प्राहृतं शुमाऽशुमं २०

कर्म विदन्तीति देवविदो ज्यौतिपिकास्तेषां किं रहः प्रच्छन्नं स्थितं ?
प्रायो न किमपीति भावः ॥ १७ ॥

३ न लौकिकाऽलौकिकशब्दशक्तयः
पदार्थवोधे प्रभवन्ति या विना ।

४ निरुक्तयस्ताः श्रुतपारदृशतां

५ शशंसुरस्यैव सुधीसभोदरे ॥ १८ ॥

६ लोके व्याकरणे भवा लौकिकाः अलौकिकास्तद्विपरीता वेदका
(वैदिक्यः) इत्यर्थः । एवंविधा ये शब्दस्तेषां शक्तयः सङ्केताः या
७ निरुक्तीः विना पदार्थवोधे पदार्थज्ञानजनने न प्रभवन्ति न समर्था
भवन्ति ता निरुक्तयः शब्दव्युत्पत्तयः सुधियां पण्डितानां सभा धीसगा
तस्य उदरे, मध्येऽस्य गौतमस्यैव श्रुतपारदृशतां शास्त्रपारगामित्वं
१२ शशंसुः कथयामासुः । निरुक्तय इति । 'वर्णागमो वर्णविपर्यय-
व्ये'त्यादिभिर्वेचनं निरुक्तिः । श्रुतेत्यादि । श्रुतस्य पारं हृष्टवानिति
श्रुतपारदृशा । द्वरोः कनिप् । तस्य भावस्थापा तां । शशंसुरिति ।

१५ 'शंस स्तुतौ' असाक्षर्णरि लिह ॥ १८ ॥

१६ पपाठ वेदान् यद्वीत्य पञ्चधा यथासुरन्यासमुपाङ्गसङ्गिनः ।
ततोऽयमेवाघ्वरकर्मकारिणामुवाह धौरेयपदं धरातले ॥ १९ ॥

१० यदसाक्षात्कारणात् उपाङ्गानि वेदोक्तार्थमपश्चनपराः प्रवन्धास्तेषां
११ : सङ्गोऽस्त्वेपामिति उपाङ्गसङ्गिनस्तान् उपाङ्गसंयुक्तान् वेदान् क्रक्ष-
प्रमृतीन् अधीत्य अस्यस्य गौतमः सुरन्यासमनतिक्रम्येति, ग्रथासुर-

१२ न्यासं हविर्द्रान्तिकाले इन्द्रादिसुरस्यापनानतिक्रमेण, पश्यथा, पश्यमि:
प्रकारैः पपाठ पठति ल । वेदानित्येव कर्मपदमत्रापि योज्यं, ततः

१३ सङ्गात्कारणाद्यं गौतम पदं धरातले पृथिव्यां अघ्वरकर्मकारिणां

यज्ञकियाकर्तृणां ब्राह्मणानां भद्रे घैरेयपदं धुरीणतामुवाह धारयति
स । पञ्चधेति । अत्र पञ्चधात्वं यज्ञानां पञ्चविधत्वादऽवसेयम् ।
यदुक्तमरेण—‘पाठो १ होम २ श्लातियीनां सपर्या ३ तर्पणं ४ ३
बलिः ५ । एते पञ्चमहायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामका’ इति । एषामर्थो
हैमकोशाद् ज्ञेयः । अच्चरेति । यज्ञो यागः सवः सद्वमित्यादि ।
‘वितानं चाहिं रच्चर’ इति हैमः । धौरेयेत्यादि । शुरं वहतीति ६
घैरेयद्वस्य पदं स्थानमिति विग्रहः ॥ १९ ॥

यद्वच्छ्याऽऽक्षिसविधेः प्रमाणता

प्रमाणमद्वैतमधास्ति तत्त्वतः ।

९

इति श्रुतं श्रोत्रियताप्रकाशकं

किमस्य मीमांसकतां न चावदत् १ ॥ २० ॥

केषाद्विन्मते यद्वच्छा नाम एकः पदार्थोऽस्ति, तन्मते सर्वमपि १२
कार्यं यद्वच्छयैव जायते । ‘यद्वच्छा स्वैरिता स्वेच्छे’ति कोशात् ।
यद्वच्छा नाम स्वेच्छा उच्यते । तथा मीमांसकमते कर्मणः प्रामा-
ण्यमस्ति, तथा चायमर्थः—विधेः कर्मणः प्रमाणता प्रामाण्यं यद्वच्छ्या १५
आक्षिस आक्षिप्यते स, गृह्णते स्वेति यावद् । अथ तत्त्वतः परमार्थ-
तस्तु अद्वैतं अद्वैतवाद् एव प्रमाणमस्ति इत्याकारकं श्रोत्रियताप्रका-
शकं वेदाद्येतत्त्वप्रकाशकं श्रुतं शास्त्रं अस्य गौतमस्य मीमांसकतां १६
मीमांसाशाखाज्ञातुलं किं न अवदत् न कथयति स १, अवददेवे-
त्यर्थः । चः पादपूरणे । आक्षिसेति । आद्वैपूर्वाल्क्षिपः कर्मणि लुद् ।
अद्वैतमिति । द्वयोर्मांसो द्विजा, द्वितैव द्वैतं । प्रज्ञादित्वादण् । न २१
विधते द्वैतं यत्र तदिति विग्रहः । ‘एकमेव परं ब्रह्मे’त्यादिमतमि-
त्यर्थः । अथेति । अथशब्दोऽत्र प्रतिज्ञायां, ‘अथो अथ समुच्चये ॥ २२

मङ्गले संशयारभाडधिकाराऽनन्तरेषु च । अन्वादेशो प्रतिज्ञायां पश्च-
साकल्प्ययोरपि' इत्यनेकार्थात् । श्रोत्रियेति । उन्दो अर्थाते इति
३ श्रोत्रियः, उन्दसः श्रोत्रादेशो धप्रत्ययम् ॥ २० ॥

प्रमाणदृष्टान्तवितर्कलक्षणैः

स्वपक्षसिद्धिः प्रतिपक्षखण्डनम् ।

६ यथा प्रतन्येत तथा हि विद्यया-

७ सिधारयेवाऽस्य जयो व्यजूम्भत ॥ २१ ॥

प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दलक्षणानि, दृष्टान्ताः पर्वतो
१ वहिमान् घूमात् भाहानसयदित्यादयः, वितकों व्याप्त्यारोपेण व्याप-
कारोपः, लक्षणानि 'द्रव्यत्वजातिमद्गुणवद्वा' द्रव्यमित्यादीनि, तैहेतु-
मूलैर्या विद्यया स्वपक्षस्य स्वगृहीतपक्षस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः प्रतन्येत
१२ विस्तार्येत तथा प्रतिपक्षिगृहीतपक्षस्य सण्डनं प्रतन्येत, ताकिंके-
रिति शेषः । हि निधिरम् । असिधारया सद्वागाधारयेव तथा विद्य-
याऽस्य गौतमस्य जयो विद्वत्समाजेतृत्वं व्यजूम्भत विकसति स,
१५ प्रवर्चते सोति यावत् । प्रतन्येतेति । प्रयूर्वाचनोतेः कर्मणि लिङ् ॥ २१ ॥

स धर्मशास्त्राध्ययनं प्रमाणय-

१८ वकार गृह्याश्रमधर्मसेवनम् ।

१९ प्रशंसनीयस्तु स एव यः सदा

२० धाराति वादे करणे च तुल्यताम् ॥ २२ ॥

२१ स गौतमो धर्मशास्त्रस्य धर्मप्रतिपादकशास्त्रस्य स्मृतेरध्ययनं पठनं
२२ प्रभावयन् प्रकाशयन् गृह्याश्रमस्य गृह्यस्याश्रमस्य यो धर्मस्त्रस्य सेवनं
प्रतिपादनं चकार हृत्रवान् । युक्तोऽयमर्थः—तु इति विशेषे, स एवं
२३ पुमान् प्रशंसनीयो लोके प्रशंसार्थः, यः सदा सर्वसिद्धिकाले वादे

कथने करणे क्रियायां च तुल्यतां सादृशं दधाति विभर्चि, कथनानु-
रूपां क्रियायां दधातीत्यर्थः । अर्यं गौतमोऽपि तथाऽभूदिति भावः ।
धर्मेत्यादि । ‘धर्मशास्त्रं स्यात् स्मृतिर्दर्मसंहिता’ इति हैमः ॥ २२ ॥ ३

आरम्यं सर्गात्स रवीन्दुवंशगाः
पुराणनिर्वद्धकयाथिरन्तनीः ।
वदन् सुधासन्दसमानया गिरा
बहुशुतत्वेन बभूव विश्रुतः ॥ २३ ॥

स गौतमः सुधाया अमृतस्य स्यन्दः प्रस्तवणं तेन समाना तुल्या
तया गिरा वाण्या सर्गात्सद्विरकालोद्धवाः पुराणेषु पुराणशास्त्रेषु निवद्धा प्रथितायाः
कथात्ता वदन् कथयन् बहुशुतत्वेन बहुशुततया विश्रुतो लोके
प्रसिद्धो बभूव । सर्गादिति । आरम्य योगे पञ्चमी ‘कारिंक्याः ॥२
प्रमृती’ति भाष्यप्रयोगात् प्रमृत्यर्थेयोगे पञ्चमीसीकारात् । रवी-
त्यादि । रविश्च इन्दुश्च रवीन्दू सूर्योचन्द्रौ तयोर्वैशो गच्छन्ति प्राप्नु-
वन्तीति विग्रहः । चिरन्तनीरिति । ‘सायंचिरं’—(४।३।२३) १५
इत्यादिना व्युप्रत्ययस्तुह च । ‘टिह्वाणन्—’ (४।१।१५) इति ढीप्,
अत्राद्यपादे जादौ तगणेन अन्येषु चादौ जगणेन इन्द्रवंशावंशस्यो-
र्थाणसंयोगात् । उपजातिष्ठानः ॥ २३ ॥

एतेन काव्येकादशकेनास्य चतुर्दशविद्यापारीणत्वमावेद्याथ यज्ञ-
करणसरूपमाद—
अथैप यद्यप्यशुहोदुताश्चन् स्वधाष्टुजः शशदियाऽव यद्यपि ।
तयापि सर्वामरतोपहेतुना ववान्त्ययुं त्रिदिवेच्छयात्मनः ॥ २४ ॥ ३२

अथेति प्रारम्भे एष गौतमो यद्यपि हुतादानं वर्द्धं अजुहोत्
हृव्यद्रव्यैः प्रीणयति स। पुनर्यद्यपि शश्वन्निरन्तरं स्वधामुजो देवान्
इयाज पूजयति स, तथाऽपि सर्वाऽमरतोपहेतुना सर्वेषाममराणां
देवानां तोपस्य तुष्टेहेतोः आत्मनः स्वस्य त्रिदिवेच्छया स्वर्गगमनेच्छया
यद्यु यज्ञं कर्तुं ववाच्छ वाच्छति स। अजुहोदिति। 'हु दानादौ'
असाक्षर्चरि लहू। इयाजेति। 'थज देवपूजादौ' असा-
क्षर्चरि लिहू। ववाच्छति। 'वाङ्छि इच्छायां' कर्त्तरि लिहू।

अत्र यद्यपि गौतमः स्वप्राप्ते स्वयं यद्यु ववाच्छेस्युकं, तथापि
शाश्वान्तरे अपापापुर्यां सोमिलब्राह्मणेन यज्ञार्थं एकादशब्राह्मणोरुपा
आहूता इत्युक्तमस्ति ॥ २४ ॥

ततोऽसौ किं कृतवानित्याह—

१२ क्रियाविदोत्तस्त्वहजन्मनोर्ध्यो-

स्मृप्य साहृश्यवतोः सतोरपि ।

अत्त्वां सदच्याननुभापकान् द्विजान्

१५ समाजुहावैप जनैः प्रणोदितैः ॥ २५ ॥

क्रियां याज्ञिकक्रियां विचो जानीत इति क्रियाविदौ तयोरत एवा-

मुप्य अस्य गौतमस्य साहृश्यमस्ति, अनयोरिति साहृश्यवन्तौ तयो-

१० द्वियोत्तस्त्वहजन्मनोर्ध्यत्रिओः सतोर्ध्यमानपेरपि एष

इन्द्रनूतिः प्रणोदितैः स्वयंप्रेरितैर्जनैः सदच्यान् सतां विदुपां पूज्यान्

अत्त्वां वेदशास्त्रानामनुभापकान् द्विजान् ब्राह्मणान् समाजुहाव आका-

११ रयामास, यज्ञनिमिचमिति शेषः। समाजुहावेति। समाहृपूर्वात्

व्येष्य; कर्त्तरि लिहू। 'अन्यस्तस्य च' (दा१।३३) इति संप्रसारणः

१२ ततो द्वित्यम् ॥ २५ ॥

समानभावा यशसा च विद्या
सु-वर्ण-संस्थान-वयः-सदुक्तिभिः ।

खतोऽतिरिक्ता दश सूरिसिन्धुरा

मिथः प्रणम्याऽसत तत्र मण्डये ॥ २६ ॥

यशसा कीर्त्या च पुनर्विद्या पड़न्वादिकया तथा सुषु शोभनो ,
वर्णः शरीरच्छविः संस्थानं समचतुरस्त्राख्यं वयो यौवनं सदुक्तयः ६
शोभनवाग्निलासास्त्राभिः समानः परस्परं तुल्यो भाव आत्मा विमृ-
तिर्वां येषां ते तथोक्ता एवंविधाः खतः खस्त्रादतिरिक्ता भिन्ना दश-
सूरिसिन्धुरा द्वौ सलघुप्रातरौ अष्टौ चान्ये एवं दशसंख्याकाः पण्डि- ९
तमुख्या मिथः परस्परं प्रणम्य प्रणामं कृत्वा तत्र तस्मिन् याज्ञिकाऽहैं
मण्डये आश्रयविशेषे आसत उपविशन्ति स । भावा इति ।
'भावोऽभिप्रायवस्तुनोः । समावजन्मसत्तात्मकियालीलाविमूर्तिपु' १२
इत्याद्यनेकार्थः । विमूर्तिरैश्वर्यम् । सुवर्णेत्यादि-वर्णश्च संस्थानं च
वयश्च वर्णसंस्थानवयांसि, शोभनानि वर्णसंस्थानवयांसि च सदुक्तय-
श्चेति द्वन्द्वः । सूरिसिन्धुरा इति । 'भेषाविकोविदविशारदसूरि- १५
दोपञ्च' इत्यादि हैमः । सिन्धुरस्त्रव्यः कुञ्जरपर्यायः । 'स्युरुचरपदे
व्याप्रपुञ्जर्पमकुञ्जरा' इत्यादिवचनात् प्रशस्यार्थवाचको वोच्यः ।
आसतेति । 'आस उपवेशने' अदादिकोऽनात्मकर्त्तरि लङ्घ ॥ २६ ॥ १६

प्रशस्तकाले दिन-लग्न-भ-ग्रहै-

भुवं विशोध्योचितमृचिकाऽचितम् ।

चतुःप्रवेशं चतुरस्तत्वं

व्यधापयंते चतुर्यथाविषि ॥ २७ ॥

ते प्राज्ञव्राक्षणा दिन-लग्न-भ-अहैः दिवस-लग्न-नक्षत्र-प्रहैः प्रशस्त-
काले शोभनवेलायां विधिमनतिक्रम्येति यथाविधि वेदोक्तविध्यनुसारेण
३ चतुरस्तद्विधिनिपुणैः पुरुषैर्मुवं यज्ञोचितपृथ्वीं विशोध्य तद्रूपाऽशुद्ध-
युद्धलापनयनेन शुद्धां कारयित्वा उचितस्ततिकाभिस्तदोऽथशुद्धति-
काभिसाचितं पूरितं पुनश्चत्वारः प्रवेशा प्रवेशमार्गा यस्मिस्तचतुःप्रवेशम्
६ एवंविधं चतुरसं चतुष्कोणं चत्वरं संस्कृतभूपीठं व्यधापयन् कारयन्ति
म । आचितमिति । ‘पूर्णे त्वाचितं छन्नपूरिते’ इत्यादि हैमः ।
चतुरसेत्यादि । चतस्रोऽस्योऽस्येति विग्रहेऽच्चप्रत्ययस्तालव्यशस्याने
९ दन्त्यसश्च ‘सुप्रातसुश्च’ (५।४।१२०) इत्यादिना निपातनाद ।
‘चत्वरं स्यात् पथां ष्ट्रेपे स्थण्डिलाङ्गणयोरपी’ त्यनेकार्थः । ‘स्थण्डिलं
संस्कृता मूमि’ रिति तद्वृत्तिः । एवं व्याख्यासु धार्यायामरवृत्तावपि
१२ ‘द्वे यागार्थं संस्कृतमूमेः’ इत्यादिपाठोऽस्ति । क्षीरस्तामीकृतामरवृ-
चिहेभाभिधानचिन्तामणिवृत्योस्तु ‘असंस्कृता मूमि’ रित्युक्तमस्तीति ।
व्यधापयन्निति । ‘विपूर्वीद्वात्रो हेतुमणिजन्तात्कर्त्तरि लङ्घ’ ॥२७॥

१५ ग्रसाध्य सूत्रैर्धुवतो दिशः समा

निखाय यूपं भुवि मध्यभागतः ।

समन्वतोऽसाप्यमरावतीं पुरीं

सुचित्रयाक्षकुरखण्डतन्दुलैः ॥ २८ ॥

सूत्रैः सूत्रतन्तुभिर्धुवतो ध्रुवराकात् समा अवका दिशः

प्रसाध्य साधयित्वा मध्यभागतस्तस्य च मध्यभागे भुवि पृथिव्यां यूपं
२१ यज्ञकीलकं निखाय निक्षिप्य अस्य यज्ञस्तमस्य समन्वतोऽसि चर-
सुप्यसि दिक्षु अस्त्रण्डुलैरमरावतीं पुरीं इन्द्रनगरीं सुचित्रयाक्षकुः
२२ चित्रयन्ति स, ते विप्रा इति श्रेष्ठः । यूपमिति । २३ ‘यूपः साधार-
णः

कीलक' इति हैमः । सुचित्रयामिति । 'चित्र चित्रकरणे' आले-
ख्यकरणे इत्यर्थः । चुरादिरदन्तोऽयमसाणिजन्तालिख्याम् ॥ २८ ॥

ततस्ते किं कुर्वन्ति सेत्याह—

कुशासनस्याः कुशपूतपाणयः

श्रुतिप्रयोगे स्वरचारचारिणः ।

द्विजातिधुर्याः प्रतिकोष्ठकलिपतान्

स्वनामवादेन सुरानतिष्ठिपन् ॥ २९ ॥

कुशासनेषु दर्भमयासनेषु तिष्ठन्तीति कुशासनस्याः, पुनः कुशेन
पूताः पवित्राः पाणयो हस्ता येषां ते कुशपूतपाणयः पुनः श्रुति-९
प्रयोगे वेदपाठोचारणे स्वराणामुदाचादीनां चारसंचारस्तेन चरन्ति
प्रवर्तन्ते तच्छीलाः स्वरचारचारिणः एवंविधास्ते द्विजातिषु ब्राह्म-
णेषु धुर्या धुरन्वराः कोष्ठं कोष्ठं प्रतीति प्रतिकोष्ठं कलिपतान् मनसि १२
चिन्तितान् सुरान् इन्द्रादीन् देवान् स्वनामवादेन स्वस्तनामोचारणेन
अतिष्ठिपन् स्यापयन्ति स्त । अतिष्ठिपन्निति । हेतुमण्णजन्तात्स्था-
धातोः कर्वरि लुइ ॥ २९ ॥

ततः सदौवारिकदेवमण्डलं

प्रदीप-धूपादिसर्पर्ययाऽर्जया ।

गृहाण पूजामिति पाठतत्परा-

लिघाविशुद्ध्या क्रमतोऽमुमार्चिचन् ॥ ३० ॥

ततः सुरस्यापनानन्तरं भो भो इन्द्रादिदेव ! इह महोत्सवे आगच्छ
पूजां गृहाण इत्याकारको यः पाठ उच्चारणं तत्र तत्परास्ते ब्राह्मणाः
लिघाविशुद्ध्या मनोवाक्यायशुद्ध्याऽमुं पुरः स्यापितं दौवारिकैः प्रती-२२

हारतया स्थापितैदेवैः सह वर्चमानं देवमण्डलं शक्तादिसुरसमूहं
कमतोऽनुक्तेण आर्यया शोभनस्तर्हयया प्रदीपधूणादिसर्पयया दीप-
ः धूपादिपूजया आर्चिचन् अर्चयन्ति स । सर्पयेति । ‘पूजाऽर्हणा
सर्पर्याऽर्चेऽति हैमः ॥ ३० ॥

अथाऽरणोर्मन्थसमुत्थपावकं

६ ग्रणीतमृक्षपाठसखैरिपेत्वैकैः ।

निनाय कुण्डं विधिवत् प्रकल्पितं

हुताशदिश्येव स देवयाजकः ॥ ३१ ॥

७ अथाऽनन्तरं स देवयाजको हविर्दानादिना देवपूजकोऽभिसूत्यादिः
ऋक्षपाठस्य वेदशास्त्रापाठस्य सखायः सहाया ऋक्षपाठसखाः मत्र-
गर्विभत्वेदशास्त्रापाठयुक्ताखैरिपेत्वैवेदाध्यायविशेषैः प्रणीतं संस्कृतं
१२ अरणेररणिकापृस्य मन्येन मथनेन समुत्थं समुत्पत्तं पाषकं वहि
मुख्यं कर्म हुताशस्याऽभिदेवस्य दिग् हुताशदिश्य तस्यां आमेयां
दिशि एव विधिवत् वेदोक्तप्रकारेण प्रकल्पितं रचितं कुण्डं होमकुण्डं
१५ निनाय प्रापयामास, होमकुण्डे स्यापयति सेत्यर्थः । पीन्-धातोर्द्विक-
र्मकत्वात्कुण्डमित्यत्र ‘अकथितं च’ (१४।५१) इति कर्मसंज्ञा ।
प्रणीतमिति । ‘प्रणीतः संस्कृतोऽनल’ इति हैमः । सखैरिति ।
१६ ‘राजाहःसखिभ्यः—’ इति टच् । इपेत्वैकैरिति । ‘इपेत्वा’शब्दोऽस्मि
एविति इपेत्वकाः वेदाऽध्यायविशेषाः ‘गोपदादिभ्यो बुन्’ (५।४।
६२) इति मत्वैऽर्थेऽध्येयानुवाकयोः ॥ ३१ ॥

द्विष्ट्यरेता वृष्ट्येऽनिलेरितः शमीसमिन्मथपलाश्चर्पणैः ।

२१ मनोमतद्वोजनलानतोऽपरं किमुच्यते पुद्गलयोपकारणम् ? ३२

ततो होमकुण्डस्यो हिरण्यरेता वहिः अनिलेन वायुना ईरितः
प्रेरितः सन् शम्या होमोचिंतवृक्षविशेषस्य समिद्विरिन्वनैर्मिश्राणि
मिलितानि यानि पलाशस्य किंशुकवृक्षस्य तर्पणानि इन्वनानि तैर्य- ३
वृषे वर्द्धते स । युक्तोऽयमर्थः—मनोमतान्मनोऽमिलपिताङ्गोजनस्य
लाभतः प्राप्तेरपरं अन्वत् पुद्गलानां कार्यादीनां पोपस्य पुष्टेः कारणं
किञ्चुच्यते लोके किं कथ्यते ?, न किमपीत्यर्थः । आहार एव सर्वेषां ६
पुष्टिकारणमिति भावः । हिरण्यरेता इति । ‘वहिर्वृहंगानुहिरण्य-
रेतसा’विति हैमः । तर्पणैरिति । ‘समिदिन्वनमेवेध्मतर्पणैधांसी’ति
च ॥ ३२ ॥

अयो हवित्रीमुपसूत्य दम्पती प्रदक्षिणीकृत्य गृहीतविष्टरौ ।
यृतवतौ यष्टमुखेरिता क्रचोऽनुमापमाणी प्रयतौ वभूवतुः ॥३३॥

अयो अनन्तरं हवित्री होमकुण्डं उपसूत्य तत्समीपमागत्य तां १२
प्रदक्षिणीकृत्य गृहीतविष्टरमासनं याभ्यां तौ पुनर्धृतं ब्रतं यज्ञोचित-
नियमो याभ्यां तौ, पुर्यष्टा याजकल्पस्य मुखेन ईरिताः प्रेरिता या
क्रचो वेदशास्त्राखा अनुमापमाणौ पश्चात् पठन्तौ जाया च पतिश्च १५
दम्पती, सप्तकीक इन्द्रभूतिरित्यर्थः । प्रयतौ हविर्दाने तत्परौ वम्-
वतुः अमूलाभ् । हवित्रीमिति । ‘हवित्री तु होमकुण्ड’मिति
हैमः ॥ ३३ ॥

सुरान् समृद्धिय हविर्भुवाऽऽहिरं
समाहिताध्यर्थ्युवैरनूदितौ ।
शुचिसुचा संमुखपाण्युपाचया
घनञ्जयं मोजयतः स जम्पती ॥ ३४ ॥

समाहिताः समाधिमन्तो येऽध्वर्युवरा यजुर्विद्याज्ञिकश्चास्तैर-
नूदितौ पश्चाज्ज्ञितौ जाया च पतिश्च जम्यती स्त्रीभर्त्तरौ भुरान्
१ देवान् समुद्दिश्य नामोत्कीर्तनेन समुच्चार्यं संमुखेन पाणिना करेण
उपाता गृहीता तथा शुचिस्तुचा निर्भलहोमपात्रेण ध्रुवायां पात्रविशेषे
आहितं स्थापितं हविर्हन्त्यद्रव्यं धनञ्जयं वह्नि भोजयतः स भोजया-
२ मासत्तुः । अत्र 'गतिबुद्धि-' (११४५२) इत्यादिनाऽणिकर्तुर्धनञ्ज-
यस्य ज्ञौ कर्मत्वं । ध्रुवेति । 'ध्रुवा तु सर्वसंज्ञार्थं यस्यामाज्यं निर्धी-
यते' इति हैमः । अच्चर्मिति । 'यजुर्विद्याध्वर्यु'रिति हैमः ॥३४॥

९ गृहीतहन्त्यो ज्वलनस्तदा मखे
दधौ महाज्वाल इतीव गौरवम् ।
अवासमोगः खलु पूर्वस्त्वयतो
१२ दंधात्यपूर्वां वररूपसम्पदम् ॥ ३५ ॥

'होममिस्तु महाज्वाल' इति कोशात् । होमवहिर्महाज्वाल
उच्यते । तत्र कविरूपेक्षते—तदा तस्मिन्वक्षरे मखे यज्ञे गृहीतं हन्त्य
१५ येन स गृहीतहन्त्यो ज्वलनो वहिर्महत्यो ज्वाला यस्य स महाज्वाल
इति नामा गौरवं गुरुत्वमिव दधौ धारयति स । युक्तोऽयमर्थः—
सद्गुरवधारणेऽवास्तः आपा भोगा भोजयानि येन स अवासमोगो
२० जन्तुः पूर्वस्तः सस्य प्राचनरूपाच अपूर्वां नवीनां वररूपसंपदं
दधाति सद्गुरवधारणेऽवास्तः ॥ ३५ ॥

उपादानो हविरूद्धवानलो धगद्गेत्युत्तियतश्चन्द्रसुन्दरः ।
२१ प्रदक्षिणार्चिर्मुदमाशजीजनञ्जनस्य तत्राहुतिमष्टवादिनः ॥ ३६ ॥

^१ 'दधात्यपूर्वाम्' इति शास्त्रीमुद्रितपुश्चक्षसः पाठ्यविन्द्यः ।

तत्र सिग्न् यज्ञस्याने हविद्वैतव्यद्व्यमुपाददानो गुरुन् अत पव
घगत् घगदित्यवंल्प उत्त्यित् उत्पत्तो यः शब्दस्तेन मुन्दरो रम्यः,
पुनः प्रदक्षिणां अर्चिपो ज्वाला यस्य स तथोक्त पूर्वविष उद्दतोऽनल ३
उत्पत्तितो वद्विः आशु शीघ्रं आहुतिमध्यवादिनो जनस्य द्वीममग्र-
पाठकलोकस्य मुदं प्रीतिमजीजनत् उत्पादयति या । घगद्वगेतीति ।
घगदित्यऽव्यक्तानुकरणशब्दस्य ‘हाचि वहुलम्’ (धा०) इति यहु-६
लवचनाद्वित्वं न ‘आग्रेडितस्य’ (८।२।९५) इत्यादिनाऽन्त्यतकारत्व
इति-७ शब्दे परे परत्वय, तत्त ‘आनुजः’ (६।१।८७) मुदमिति ।
‘मुल्मीत्याऽमोदत्तमद्वा’ इति हैमः ॥ ३६ ॥ ” ९

मुहूः सुरोदेश्यकहव्यपाततः समुत्थधूमो गगनं समास्तजत् ।
मुपर्वणां तत्क्षणहृतिहेतवे ग्रणोदितोऽव्यर्थमिरादरादिव ॥ ३७ ॥

सुरा देवा उद्देश्या उद्देशु योग्या यस्मिन्स सुरोदेश्यकः, स चासी १२
हव्यस्य पतनं हव्यपातश्चेति कर्मधारयस्त्वात् मुहुर्वार्यारं सुरो-
देश्यकहव्यपातात् समुत्थधूमोऽव्यर्थमिर्यज्ञकृत्यमिरादराद्वहु-
मानतः सुपर्वणां देवानां तत्क्षणं तत्कालं हृतेराकारणस्य ऐतवे १५
निमित्याय प्रणोदितः प्रेरित इव गगनमाकाशं समास्तजत् आलिङ्गति
ला । ‘वज्र परिष्वङ्गे’ अस्तकर्त्तरि लङ् । ‘दंशसङ्ग-’ (६।४।२५)
इति नलोपः ॥ ३७ ॥ १८

इत्थं ज्योतिष्टोपयज्ञं विनन्वन्
स्वर्गवास्यायिन्द्रभूतिविभितः ।
आगच्छन्ति स्वर्गमार्गात्सयेगं
द्रव्यसोध्यं देवपानान्यपश्यत् ॥ ३८ ॥ १९

इत्यमुक्तप्रकारेण सर्गस्यावासौ प्राप्तै ज्योतिष्टोमनामकं यज्ञं
विरन्वन् विस्तारयन्, कुर्वन्निति यावद् । विधिं जानातीति विधिज्ञ
इन्द्रभूतिः द्रङ्गस्योर्वै नगरस्योपरि सर्गमार्गात्सवेगं सत्वरं आगच्छन्ति
आगमनक्रियां कुर्वणानि देवयानानि देवविमानानि अपदयत् पश्य-
तिस । द्रङ्गस्येति । ‘नगरी पूः पुरी द्रङ्ग’ इति हैमः । इदं शालिनी-
छन्दस्तद्वक्षणं तु ‘शालिन्युक्ता त्रौ तगौ गोऽविष्लोकै’रिति ॥ ३८ ॥

इति यज्ञवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इति रूपाद्यम् ॥

९ इति थीगौतमीयप्रकाशाख्याया श्रीगौतमीयमहाकाव्याख्याया
चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ।

१२ आकस्मिको व्योमनि दिव्यनादो विचित्रवादिवनिनादरम्यः ।
शब्दायमानानपि यायजूकानूर्ध्वावलोकप्रयतांश्चकार ॥ १ ॥

विद्वाय यशं भुवि यस्य सेवना-हते समेतान् प्रविलोक्य निर्जरान् ।

१५ थीगौतमो दृष्ट्यिपादभागभूत् स वर्द्धमानः प्रतिभां पुनातु मे ॥ १ ॥

विचित्राणि नानाविधानि यानि यादित्राणि तेषां निनादः शब्द-
सेन रम्यो मनोऽज्ञः अकस्माद्वय आकस्मिको व्योमन्याऽकाशे दिव्य-
१८ नादो देवशृन्दकोलाहलगनितो दिव्यध्वनिः, शब्दायमानान् वेद-
ध्वनिरूपं शब्दं कुर्वणानपि यायजूकान् यज्ञकर्तृग्राणान् उर्ध्वा-
वदोके उच्चैर्विलोकने प्रयतांस्तपरान् चकार शृतवान् । शब्दे-
११ त्यादि । शब्दं कुर्वन्तीति विश्रदे ‘शब्दपैरकल्प-’ (३।१।१७)

इत्यादिना क्यद्व, ततः शानच् । यायजूकानिति । ‘इज्याशीलो
यायजूक’ इति हैमः । अस्मिन् सर्गे इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजातिछन्दांसि,
तद्वक्षणानि च प्रथमसर्गे एवोक्तानि ॥ १ ॥

नमस्तलं पुष्कलमप्यमुष्माद् ग्रामादपापानगर्हीं च यावत् ।
सम्वाधमैक्षिष्ट महाविमानैश्चित्रीयमाणोऽत्र समस्तलोकः ॥ २ ॥

अत्रास्मिन्नवसरे चित्रीयमाणः आश्वर्यं प्रामुखन् समस्तलोकः ६
पुष्कलं प्रचुरमपि नमस्तलमाकाशममुष्मादसाद् गुर्वराभिधानाङ्गामात्
अपापानगर्हीं यावत् । महाविमानैः सम्वाधं सङ्कीर्णै ऐक्षिष्ट हृष्टवान् ।
पुष्कलमिति । ‘प्राज्यं प्रभूतं प्रचुरं बहुलं बहु पुष्कल’मिति हैमः । ९
चः पादपूरणे । सम्वाधमिति । ‘सम्वाधः सङ्कटे योना’वित्यने-
कार्थः । सङ्कटं सङ्कीर्णै चित्रीयमाण इति चित्रं करोति चित्रीयते,
विसयते इत्यर्थः । ‘नमोवरिवधिंत्रः क्यप्’ (३।१।१९) अंत्र १२
क्यप् विधानमीत्यार्थं, दित्करणं तु तदर्थं, ततः शानच् ॥ २ ॥ १०
उद्गीवमुत्प्रेपितचित्तनेत्राः सविसयाः संस्तरकारलोकाः ।
हविः सुचोपाचमपि प्रदातुं हविर्भुजे न प्रभवो वभूतुः ॥ ३ ॥ १५

तदा तत् ऊर्ध्वा ग्रीवा यत्र तद् उद्गीवं यथा स्याचया क्रियाविशे-
पणमिदम् । उत्प्रेपितानि ऊर्ध्वं प्रहितानि ‘चित्तनेत्राणि भनोनयनानि
यैस्ते तथोक्ताः, यतः सह विसयेन आश्वयेण वर्तन्ते इति सविसयाः, १८
एवंविधाः संस्तरकारलोका यज्ञकारकजनाः सुचा यज्ञपात्रेण उपार्चं गृ-
हीतमपि हविर्ब्यद्रव्यं हविर्भुजे वहये प्रदातुं प्रभवः समर्था न वभूतुः ।
संस्तरेत्यादि । ‘संस्तरः सप्तरनुश वितानं वर्हिरध्वर’ इति हैमः ।
संस्तरं कुर्वन्तीति संस्तरकाराः । कर्मण्यन्, ततः कर्मधारयः ॥ ३ ॥ २२

१ चित्तानि च नेत्राणि च चित्तनेत्राणि, यदा चित्तेर्युच्छनि नेत्राणीति समाप्तः ।

सदैक एवोदयमेति सूर्यः

श्रुतौ श्रुता वा व्यधिका दशैव ।

आः ! कोटिशोऽहर्पतयः कुतोऽमी

संशेरते सोति जनास्तदानीम् ॥ ४ ॥

तदानीं तस्मिन्नवसरे जना लोका इति संशेरते स इति संशर्य
दधुः । इतीति किं तदाह—सदा निरन्तरं एक एव सूर्य उदयमेति
प्रामोति, वा अथवा श्रुतौ शाल्के द्वाभ्यामधिका व्यधिका दश द्वौदशैव
सूर्याः श्रुताः, सन्तीति शेषः । आ इति आश्चर्य, ‘अमी साक्षाद्विः
९ लोक्यमानाः कोटिशोऽहर्पतयः सूर्याः कुतः समेताः ?’ इति संदेहं
दधुरित्यर्थः । कोटिश इति वीप्सायां शस् । संशेरते इति ।
संपूर्वात् शीढः कर्चरि लह ॥ ४ ॥

१२ नित्याऽन्तरिक्षब्रह्मिखेदखिनं

ज्योतिष्कचक्रं भुवमापतेत् किम् ? ।

इत्यं मुहुः संशयशैलभृजारोहा-

१५ वरोहे जनताऽऽकुलाऽभृत् ॥ ५ ॥

‘नित्यं निरन्तरमन्तरिक्षे आकाशे या भ्रमिर्भ्रमणं तया उत्पन्नो यः

खेदखेन सिन्नं ज्योतिष्कचक्रं ज्योतिर्मण्डलं किं मुवं पृथ्वीमापतेत् ?’

१० इत्यं जनता जनसमूहो मुहुर्वीर्बारं संशय एव शैलशृङ्गं पर्वतशिखरं
तत्र आरोहा वरोहे आरोहणाऽवतरणे आकुलाऽभृत् । आरोहेत्यादि ।

पूर्वेणारोहः पश्चादवरोह आरोहावरोहः । ‘पूर्वकालैकसर्वजरत्—’

२१ (२११४९) इत्यादिना समाप्तः ॥ ५ ॥

७५८

दृश्येत गन्धर्वपुरं किंत्रो-

त्पातस्तर्षं थुतविश्रुतं धा ।

एवं वितर्के वहुभिर्नृलोकः स्वास्थ्यं

न लेभेऽङ्गुतभीतियोगात् ॥ ६ ॥

अत्र किं गन्धर्वपुरं व्यन्तरनगरं दृश्येतः । वा अथवा श्रुते सिद्धान्ते विश्रुतं प्रसिद्धं किमेतदुत्पातस्तर्षं दृश्येतः । एवमसुना प्रकारेण अङ्गु-६ तभीतियोगात् जाश्वर्यसंयोगाद्वहुभिर्वितर्कंविक्वैर्नृलोको मनुष्यलोकः स्वास्थ्यं स्वस्यचिरतां न लेगे न प्राप्तवान् । अङ्गुतेल्यादि । ‘विस-यधित्रमङ्गुत’मिति हेमः । अङ्गुतं च भीतिश्वाङ्गुतभीती तयोर्योग ९ इति समाप्तः ॥ ६ ॥

इत्थं तथाऽस्वास्थ्यपथावतीर्णात्

जनानवार्दीङ्गुरिन्द्रभूतिः ।

ऋतोरनालोच्य महाप्रभाव-

महो ! मुधा तर्क्यताऽनुतं किम् ? ॥ ७ ॥

तथा तेन प्रकारेण अस्वास्थ्यपथमस्यरचित्ततामार्गम् अवतीर्णात् १५ प्रविष्टान् जनान् इन्द्रमृतिर्गुरुरत्यमवार्दीत् एवमुक्तवान् । इत्थं कथ-मित्यर आह—‘अहो लोकः । ऋतोर्यजुस्य महाप्रभावमनालोच्य अविचार्य मुधा यूथाऽनृतमसत्यं किं तर्क्यत ?’ यूयमिति कर्तृपदं क्रियामि-१० संवन्धार्थं ग्राहम् ॥ ७ ॥

वर्दि किमिदमकल्पास्यमायातीत्याशङ्कानिरासार्थं गौतम आह—

रम्योऽयमुच्चेनितरज्ञमाभिर्विडम्बयञ्छक्षरासनामाम् ।

सहस्रपत्राङ्गुतिरमपीठप्रतिष्ठितः स्तम्भसहस्रशोभी ॥८॥ २२

^१ ‘मिदमकल्पास्यमायातीत्याशङ्कानिरासार्थं’ इति चर्चीमुदितपाठ्यविन्द्वः ।

सुजातजालाकलितः समन्तात्
 पाञ्चालिकाविग्रमलोभनीयः ।
 ३ चन्द्रोपलघोतितचन्द्रशालः
 स्फुरत्पताकैः शिखरैः स्पृशन्त्वम् ॥ ९ ॥
 प्रफुल्लसन्ध्याप्रसमैर्वितानै-
 ४ नद्दच्छदिश्चित्रितचारुभित्तिः ।
 प्रलम्बहाराच्चितनागदन्तो
 मुक्तामणीजाललसद्वलीकः ॥ १० ॥
 ५ मृदङ्ग-वीणा-पणवा-उत्तराद्वै-
 धण्टानिनादैर्निभृतान्तरिक्षः ।
 आयाति नो मत्रनिमत्रितो य-
 ६ दिवो भुवं देवविमानवारः ॥ ११ ॥
 चतुर्भिः कलापकम् ।

अहो लोकाः । यथसात्कारणात् अयं साक्षादुपलभ्यमानो रम्यो
 १५ मनोशो नोऽसाकं मन्त्रैर्निमत्रितो देवविमानानां वारः समूहो दिवः
 सर्गाद्वुवं पृथ्वी आयातीत्यन्वयः । अथ विशेषणानि—अयं किं
 कुर्वन् । उत्तेजितानि शाणादिना उहीसीकृतानि यानि रलानि तेषां
 १८ भाः प्रभास्त्राभिः शक्तशरासुनस्य इन्द्रधनुषं आमां प्रभां विडम्बयन्
 तिरस्कुर्वन् । पुनः कीदशोऽयम् । सहस्रपत्रस्य कमलविशेषस्येवाकृतिरा-
 कारो येषां तानि एवंविधानि यानि तेषु प्रतिष्ठितः पुनः स्तम्भानां
 २१ सहस्रैः शोभते तच्छीलः स्तम्भसहस्रशोभी ॥ ८ ॥ तथा सुजातै-
 देवप्रभावात् सुनिष्पन्नैर्जालैर्गवाक्षेरासमन्तात् कलितो युक्तः, पुनः
 २४ समन्तात्सर्वेदिक्षु पाञ्चालिकानां पुत्रिकाणां विग्रमैर्विलासैलोभनीयो

जनानां मोहोत्पादकः, पुनश्चन्द्रोपलैश्चन्द्रकान्तरलैघ्योंतिराश्चन्द्रशालाः
शिरोगृहाणि यस्य स तथोक्तः । पुनः पुनः स्फुरन्त्यश्चलन्त्यः पताका
घजा येषु ते तैः शिखरैः खमाकाशं सृष्टान् ॥ ९ ॥ तथा प्रकुल्ला ३
विकसिता या सन्ध्या तस्यां यानि अग्राणि वार्द्धलनि तैः समास्तुल्याः
तैर्वितानैश्चन्द्रोदयैर्नद्या बद्धा छदिरुपरितनमागो यस्य स तथोक्तः ।
पुनश्चित्रिताश्चारबो भनोहरा भित्तयो यस्य स तथोक्तः । पुनः प्रलभ्वैर्लभ्व-६
मानैर्हरैरच्चिताः प्रशस्ता नागदन्ता भित्तिस्कीलका यस्य स तथोक्तः ।
पुनर्मुक्ताश्च मण्यश्च मुक्तमण्यस्तासां मौक्तिकानां मणीनां च अधितानां
जालैः समृद्धैर्लसन्ति शोभमानानि वलीकानि नीत्राणि छदिःप्रान्तानि ९
यस्य स तथोक्तः ॥ १० ॥ तथा मृदज्ज्वीणापणवानां वाथविशेषाणा-
मारवैः शब्दैराद्याः समृद्धः । पुनर्घटानां निनादैः शब्दैर्निर्तरां मृत-
मन्तरिक्षमाकाशं येन स तथोक्तः । अग्रेतनपादद्वयस्यान्वयः प्रागुक्त १२
एव नवमश्लोके—पाञ्चालिकेत्यादि । ‘पाञ्चालिका च पुत्रिके’ति
हैमः । लोभयतीति लोभनीयः ‘लुम विमोहने’ एतन्तादसात् ‘कृत्य-
स्तुटो वहुलम्’ (३।३।११३) इति कर्त्तरि ‘अनीयर’ । ‘चन्द्रशाला १५
शिरोगृह’मिति हैमः । दशमश्लोके—वितानैरित्यादि । ‘अद्योऽस्त्रोच्चो
वितानं कद्योऽपि च । चन्द्रोदये’ इति हैमः । ‘पटलच्छदियी
समे । नीवं वलीकं तत्थान्त’ इति च ‘नागदन्तास्तु दन्तका’ इति १६
च (हैमः) । एकादशो श्लोके—वार इति । ‘वारः सूर्यादिवासरे ।
महे स्तराऽवसरयोर्द्देशु कुलाख्येपादपे’ इत्यादि अनेकार्थः ॥ ११ ॥

पुनर्गीतम आह—

ध्यानैर्जपैर्वा वहुभिस्तपोभिः

समेऽपि यान् द्रष्टुमलं न मर्त्याः ।

तानद्य देवानिह सप्ततन्तौ

प्रत्यक्षतः पश्यत नः प्रसादात् ॥ १२ ॥

३ वहुभिर्धर्यनैः सरणैर्वहुभिर्वैर्मज्जादिपाठैर्वहुभिस्तपोभिरुपवासादिः
भिर्मत्त्वा मनुष्या यान् देवान् स्वप्नेऽपि द्रष्टुं विलोकयितुं नाऽलं न
समर्थाः, तान् देवान् अद्य अस्मिन् दिने इहास्मिन् सप्ततन्तौ यज्ञे
६ नोऽस्माकं प्रसादात् प्रत्यक्षतः पश्यत यूयं । सप्ततन्ताविति । ‘यज्ञो
यागः सबः सत्रं स्तोमो मन्त्रुर्मखः क्रतुः । संस्तरः सप्ततन्तुथे’त्यादि
हैमः ॥ १२ ॥

५ ततः सुराणामिह याज्ञिका भोः ।

स्तुतौ सप्तयोऽपनतौ यतद्वम् ।

दुराप एषोऽवसरो नराणां

क लभ्यते सङ्गम ईश्वराणाम् ? ॥ १३ ॥

१२ ततस्त्वसात्कारणात् भो याज्ञिकाः । इह प्रस्तावे सुराणां देवानां
स्तुतौ स्तुतिकरणे, पुनः सप्तर्याः पुष्पादिपूजायाः उपनतौ
१५ समीपनयने प्रगुणीकरणे इत्यर्थः, यूयं यतध्वं यज्ञं कुरुध्वं । नराणां
मनुष्याणामेषोऽवसरो दुरापो दुर्लभः, अस्तीति शोपः । यत् ईश्वराणामै-
श्वर्यवतां सङ्गमः संसर्गः क लभ्यते ? यथा तथा न लभ्यते इत्यर्थः ।
१८ नराणामिति । शेषे पष्ठी, न तु ‘कर्तृकर्मणोः कृति’ (२।३।६५)
इति, ‘न लोकाव्यय—’ (२।३।६९) इति निपेधात् ॥ १३ ॥

इत्युक्तयाक्येन गुरोः सहर्षा-

स्तरणिष्टकास्तुषुपुरेतमेव ।

भगो नमले तव चंव शक्ते-

राहुष्टदेवा यदिदाभियन्ति ॥ १४ ॥

इतीत्यं गुरोर्गांतमस्य उक्तवाक्येन कथितवाक्येन सहर्षा हर्षवन्त-
स्तत्सण्डिकाद्यस्य गौतमस्य शिष्या एते गौतममेव तुष्टुः स्तुवन्ति सम् ।
कथं तुष्टुरित्याह—हे भगो ! हे पूज्य ! ते तुम्हां नमोऽस्तु यद्य-३
सात्कारणात् तवैव शक्तेराकृष्टा देवाः इह गत्यलोकेऽभियन्ति
आगच्छन्ति, अभिपूर्वादिणः कर्चरि लहू । ‘हणो यण्’ (६।४।८१)
इति यण् ॥ १४ ॥

अश्रौप्म यन्मध्यमहाप्रभावा-
द्यागेषु देवागमनं पुराऽभूत् ।
तत्साम्प्रतं दर्शितमागमस्य
ग्रामाण्यमसाद् गुरुणा त्वयैव ॥ १५ ॥

पुरा पूर्वं यागेषु यज्ञेषु मध्याणां महाप्रभावात् देवानामागमनममूर्
इति यद्यमश्रौप्म शृणुमः स्त, तत्साम्प्रतमधुना आगमस्य वेदस्य ॥२
प्रामाण्यं प्रमाणत्वमस्तान् प्रति त्वयैव गुरुणा साक्षादर्शितम् । इह
यज्ञे साक्षादेवागमदर्शनादिति भावः ॥ १५ ॥

इत्थं वदत्सेव तदा द्विजेषु
ग्रामं तपुष्टुष्य कलम्बगत्या ।
यपुः सुराः सत्त्वरयानसंस्याः,
क वा विलम्बो महतां मुषा स्यात् ? ॥ १६ ॥ १०

तदा तस्मिन्नवसरे द्विजेषु ग्रामेषु इत्यमनेन प्रकारेण वदत्सु
कथयत्सु सत्ये एव सत्त्वरयानसंस्याः वेगवद्वाहनस्तिताः सुरा देवाः
फलम्बगत्या चाणसद्वगत्या तं प्राममुष्टुष्य ययुरप्रतो यान्ति सम् ।
वाऽयया, सुक्तोऽयमर्थः—महतां भद्रात्मनां मुषा वृथा विलम्बः क २२

सात् ३ न कार्पीत्यर्थः । कलम्बेति । ‘कलम्बो नालिकाशाके पृष्ठके नीपपादपे’ इति अनेकार्थः ॥ १६ ॥

४ निरीक्ष्य तानाशुगतिप्रवृत्तान्
स्वच्छात्रवृन्दावृतगौतमस्य ।
हर्षस्यां शोकरूपावभूतां
गते इव क्षौद्रघृते विपत्त्वम् ॥ १७ ॥

आशु शीघ्रगतौ, अन्यत्र गमने प्रवृत्तान् तान् देवान् निरीक्ष्य दृष्टा, सितस्येति शेषः । स्वच्छात्राणां स्वशिष्याणां वृन्दैः समूहैरावृतस्य ९ वेष्टितस्य गौतमस्य हर्षस्यां प्रमोदमानौ शोकरूपौ खेदकोषौ अमृताम् । उत्तेजते—क्षौद्रघृते भयुहविष्ये विपत्तं गते प्राप्ते इव ‘संयुक्ते मध्वाज्ये विपरूपे भवत’ इत्युक्तेरुत्तेजेयम् । स्याविति । १२ ‘मानश्चिचोन्नतिः स्य’ इति हेगः ॥ १७ ॥

१५ वैवर्ण्यमास्याय तदेन्द्रभूतिः
उत्त्रो गतद्रव्यं इवात्मवृत्त्या ।
निर्दीरितार्थादिवरत् किमेव-
त्वावर्ततेति स्थिया निदध्यौ ॥ १८ ॥

तदा तस्मिन्द्वयसरे इन्द्रमूर्तिर्गांतमो विवरणं स्य भाषो वैवर्ण्यं विच्छा-
१८ यत्प्रमास्याय प्राप्य गतं द्रव्यं यस्य स गतद्रव्यं इव सिन्नः शोकात्मुरुः
एन्, आत्मवृत्त्या समनोव्यापारेण निर्दीरितो निश्चयीकृतो योऽर्थ-
स्मृत्तादिवरदन्यद् विपरीतं किमेवत् फार्यं प्राशर्वत शृणुं सज्जात-
मित्यर्थः । इतीत्यं स्थिया स्वुच्छां निदध्यौ चिन्तयामास ।
२२ प्राशर्वतेति । ‘शुतु यर्तने’ प्रार्थीदलात्कर्परि लद् ॥ १८ ॥

जगादं चैवं जगदीश्वरीयं
हन्ताऽज्ञतैव प्रतिभाति विश्वे ।

नो चेदिदं यागपदं विमुच्य
आन्ताः कथं हन्यभुजो अमन्ति १ ॥ १९ ॥

च पुनर्गीतम् एवं जगाद् वदति स्म, हन्तेति विपादे विश्वे लोके
जगत् ईश्वरी जगदीश्वरी जगत्स्वामिनी इयमज्ञता मूर्खता एव प्रति-६
भाति प्रतिभासते, चेद्यदि एवं नो स्यात् तर्हि इदं यागपदं यज्ञस्थानं
विमुच्य त्यक्त्वा हन्यभुजो देवाः आन्तचिचाः सन्तः कथं
अमन्ति ? ततो देवानागप्यन्यत्र गमनाद् ज्ञायते जगदीश्वरी अज्ञ-९
तैवास्तीति भावः ॥ १९ ॥

विज्ञातुमिच्छन्ति परोक्षमर्थं
येभ्यो जनाः काऽपि हि सन्दिहानाः । १२
प्रत्यक्षमप्यर्थमिमे विदुर्न
ज्ञातं । तदेपां विवृथाभिधानम् ॥ २० ॥

हीति निश्चितं, कापि कस्तिन्नपि अर्थे सन्दिहानाः सन्देहं विग्राणा १५
जना लोका येभ्यो देवेभ्यः परोक्षमप्यक्षमर्थं विज्ञातुमिच्छन्ति, ते इमे
देवाः प्रत्यक्षमप्यर्थं यज्ञलक्षणं न विदुर्न जानन्ति, तत्साकारणादेपां
देवानां विशेषेण बुध्यन्तीति विवृथा इत्येवंख्यमभिधानं नामयेऽ १८
ज्ञातं ।, वृथैपैपामेतज्ञामेत्यर्थः । विशेषार्थापरिज्ञानादिति भावः ॥२०॥

कैरप्यमर्च्याऽरिभिरुद्धर्तुर्वा
प्रसदा नीयन्त उतान्यतोऽभी । २१
मेघाः समीरैस्त्वि, विम्बवन्ति
थेयांसि शश्वत्खंडु सम्मवन्ति ॥ २१ ॥ २३

उतेति वितके, वाऽथवाऽमी देवाः कैरपि उद्धैः प्रवलैरमर्त्यानां
देवानामरिभिर्विरिभिः, दानवैरित्यर्थः । प्रसह वलात्कारेण अन्यतो
अन्यत्र प्रदेशे नीयन्ते प्राप्यन्ते । कैः के इव? समीरैर्वायुभिर्मेधा इव ।
यथा समीरैर्मेधाः प्रसह अन्यत्र नीयन्ते तथेत्यर्थः । युक्तोऽयगर्थः—
सद्गुरवधारणे, श्रेयांसि श्रेयोभूतानि कार्याणि शाश्वतिरन्तरं विभवन्ति
अन्तरायसुक्तानि सम्भवन्त्येव, अतोऽत्रापि मङ्गलकार्ये देवागमने
किमपि विभ्रमभूदिति भावः ॥ २१ ॥

बृथाऽधवाऽनेन विमर्शेनेन

१२ सुरं यतः प्रत्युत सप्रभोदाः ।

दृश्यन्त एते, खलु चित्तवृत्ति-

र्लङ्घयेत लिङ्गेरिह देहभाजाम् ॥ २२ ॥

१२ अयवाऽनेन बृथा विमर्शेन व्यर्थचिन्तनेन सूरं पर्यासिं यत एते
देवाः प्रत्युत सप्रभोदाः सहर्षा दृश्यन्ते । खलु निश्चितं, इह लोके
देहभाजां प्राणिनां चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो लिङ्गेश्चिह्नर्लङ्घयेत ज्ञायेत,
१५ सुषीभिरिति शेषः । अतो नैपां वैरिकृतोपद्वितिसम्बव इति भावः ॥२२॥

तथा हि चीणाकणनं मृदङ्ग-

ज्ञानस्तथा किञ्चरगीतनादः ।

१० नृत्यत्सुरस्त्रीजननूपूरणां

ज्ञनिः कथञ्चारमृते प्रभोदात् ॥ २३ ॥

तथा हि रान्येव मगोदचिद्वानि दर्शयति—इह सावद्वीणानां
षणनं शब्दः शूयते, मुनर्मृदङ्गागां ध्यानो ज्ञनिराकर्ष्यते, तथा तेनैव
२२ प्रकारेण किञ्चरणां देवविदेषणां गीतनादो गानध्वनिः श्रुतिपर्यं

समाप्ताति, पुनर्नृत्यतां नृत्यं कुर्वतां मुखीजनानां देवाऽङ्गनालोकानां
यानि नूपुराणि चरणाऽऽभरणानि तेषां धनिर्निशम्यते, प्रमोदाहृते
प्रमोदं विना एते भावाः कथङ्कारं ।, कथं मवन्तीत्यर्थः । अतः ३
सप्रमोदा एवैते देवा दृश्यन्ते इति भावः । ‘अन्यथैवं कथम्’ इत्यादिना
सिद्धप्रयोगे कृओ णमुल् ॥ २३ ॥

‘प्रभो ! चिरं जीव चिरं विधेहि
त्रैलोक्यराज्यं जयतात्त्वमेव’ ।

आशिष्यते कोऽयमुदाचग्नीर्भि-
र्षुद्धः सुरैः संप्रति गीतिपूर्त्तौ ? ॥ २४ ॥

‘हे प्रभो ! हे सामिन् ! त्वं चिरं बहुकालं जीव जीवतात्, पुनश्चिरं
त्रैलोक्यस्य राज्यं विधेहि कुरु, पुनस्त्वमेव जयतात् सर्वोत्कर्येण
वर्त्तस्त’, इत्यं उदाचग्नीर्भिरुचैर्वर्गमिः सम्प्रति अधुना गीतिपूर्त्तौ गान- १२
परिसमाप्तौ मुहुर्वर्त्तिवारं सुरैदेवैरत्यं कः पुमान् आशिष्यते आशी-
र्विषयः कियते ? ॥ २४ ॥

इति द्वित्येव तदा द्विजेन्द्रे
प्रादुर्घट्येति वचोविकासः ।

अदृष्टपूर्वं किमहो अपापा-

पुर्यन्तिके विस्यकारि वृत्तम् ॥ २५ ॥

तदा तस्मिन्नरसरे द्विजेन्द्रे वाक्षणेधरे गौतमे इतीत्यं द्विति
वदत्येव सति इत्येवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वचोविकासो वचसः स्फुटो-
आरः प्रादुर्घट्यमूर्त्ति । इतीति किं तदाह—‘अहो इति आशयेऽपापापुर्व्या
अन्तिके समीपे पूर्वेमद्युष्टं अदृष्टपूर्वं विस्यकारि आशयकारि किं २५

वृच्छम्, इति वाग् जनमुखात् प्रकटीवभूवेत्यर्थः । विकास इति ।
विकसनं विकासः, भावे घन् ॥ २५ ॥

३ उपाचवृचान्त इतो नियुक्तो
वार्त्तायनोऽप्येवमुदाजहार ।

४ सामिन् । प्रवृचामिह किंवदन्तीं
सत्यामवेहि प्रणिधेहि चित्ते ॥ २६ ॥

इतो अस्माद्वचःप्रादुर्भावात् परं उपाचो गृहीतो वृचान्तो येन स
उपाचवृचान्तो नियुक्तः स्यं व्यापारितो वार्त्तायनो हेरिकपुरुषोऽपि
९ गौतमं प्रति एवमुदाजहार उक्तवान् । कथमित्याह—‘हे सामिन् ।
इदं प्रस्तावे प्रवृत्तां किंवदन्तीं लोकवार्ता सत्यामवेहि जानीहि, चित्ते
प्रणिधेहि समाधेहि, स्यापयेति यावत् । वार्त्तायन इति । ‘हेरिको
१२ गूढपुरुषः * * * वार्त्तायनः स्पशश्चार’ इति च हैमः । किंवद-
न्तीमिति । ‘जनश्रुतिः किंवदन्ती’ इति च । अवेहीति । अवाइ-
पूर्णादिणो लोह । ‘ओमाढोश’ (६।१।९५) इति पररूपम् ॥ २६ ॥

१५ पुनस्तामेव प्रश्निं स हेरिकः प्राह—

वप्रत्ययान्तर्मणिपीठिकायां

१० सिंहासनेऽउये पुरुषः परात्मा ।

कोऽपि स्थितस्तप्रणिपातहेतो-

१५ रायान्ति देवा हि विमानसंस्थाः ॥ २७ ॥

१९ वप्रत्ययस्य प्राकारत्रयस्य अन्तर्मण्ये या मणिपीठिका तस्यामप्ये
प्रधाने सिंहासने कोऽपि परात्मा प्रकृष्टात्मा पुरुषः स्थितः, अस्तीति
शेषः । हीति निश्चितं, तस्य पुरुशस्य प्रणिपातहेतोः प्रणामनिमित्तं
२१ एते विमानसंस्था विमानस्थिता देवा आयान्ति ॥ २७ ॥

निर्दीर्घं तां नाहमवैमि मूढ-
स्तथापि जाने जगदीश्वरोऽयम् ।
रूपेण देवैरपि दुर्लभेण

ज्योतिर्भेणाऽपि खगातिगेन ॥ २८ ॥

हे स्वामिन् ! अहं मूढो मूखों यद्यपि निर्दीर्घं निश्चयं कृत्वा तं पुरुषं नाऽवैमि न जानामि तथापि देवैरपि दुर्लभेन रूपेण सौन्दर्येण ६ अपि पुनः खगमतीत्य गच्छतीति खगातिगेन, रूपातिशायिना ज्योतिर्भेण तेजःपुणेन अयं जगतामीश्वरो जगदीश्वर इति जाने जानामि खगातिगेनेति ‘अन्यत्रापि दृश्यते’ (वा०) इति गमेदः । ९ ‘सूर्योऽर्कः किरणो भगो ग्रहपुणः, पूषा पतङ्गः खगः’ इति हैमः ॥ २८ ॥

श्रुत्वेति वाचं चरकगर्भा-
दाचार्यधुर्यो मनसा विमृश्य ।

विवेकिनो नीतिविचारदक्षानु-

वाच सबे समवेतसूरीन् ॥ २९ ॥

आचार्येषु आचारयोग्येषु धुर्यो धुरीणो गौतमधरस्य हेरिकस्य १५ चक्रगर्भात् युखमध्यात् इत्युक्तप्रकारेण वाचं श्रुत्वा, पुनसां वाचं मनसा विमृश्य विचार्य, विवेकिनो विवेकवतः पुनर्नीतिविचारे दक्षान्, निषुणान्, सभे यज्ञे समवेगाः संसिलिगा ये सूर्यः पण्डिता १० व्यक्तादयस्थान् उवाच वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तव्यान् ॥ २९ ॥

यदुवाच तदाह—

व्रह्मा न विष्णुर्न हरोऽपि नो वा-
ज्वर्धीरयेयो मखमागमिष्टम् ।

१ 'सदीयप्रमाभरेण सूर्याविचारी व्येष अत एव जगतामीश्वर' इत्यर्थः ।

कोऽसौ स्वमायां बहुलं वितत्य
स्थितो जनानां वत् वश्चनाय ॥ ३० ॥

३ अयं ब्रह्मा न विष्णुर्न वाऽथवा हरो रुद्रोऽपि, न दृश्यते इति
शेषः । य इष्टं सर्वेषां देवानां वल्लभं मखमागं यज्ञांशमवधीरयेत्
तिरस्कुर्यात् । वतेति खेदे, जनानां वश्चनाय प्रतारणाय बहुलं प्रजुरां
४ स्वमायां वितत्य विश्लार्य स्थितोऽसौ, को विद्यते? इति शेषः ॥ ३० ॥

आः! एष मायी कुहनेन्द्रजाल-
क्रियापद्मर्मविलोपहेतुः ।
९ नो चेदिदानीमवधानहानि
कुर्यात्कथं सामग्र्याजकानाम् ॥ ३१ ॥

आः इति सन्तापे, एषः कश्चित् कुहनया कपटेन परिविसापनार्थ
१२ मिद्याकल्पनया या इन्द्रजालक्रिया तस्यां पटुश्चतुरो मायाऽस्यास्तीति
मायी कपटी पुमान् धर्मविलोपस्य यज्ञधर्मविनाशस्य हेतुः कारणं,
समुपेत इति शेषः । नो चेत् यदेवं न स्याचर्हि इदानीं साम्प्रतं साम-
१५ वेदं गायन्तीति सामग्रा ये याजका यज्ञकर्चारस्त्रेषां अवधानस
समाधानस्य हानिः कथं कुर्यात्? । 'आ' इति सान्तो निपातः ।
‘आः सन्तापमकोपयो’रिति जनेकार्थः । कुहनेति । ‘कुहना
१० दंभचर्या चेति हेतुः ॥ ३१ ॥

एतेषु च व्योमचरेषु कार्म
सत्यं गुरुत्वं न वर्यं प्रतीमः ।
मायाविनां यज्ञनवश्चकानां
माया दुर्ज्ञेति दि किं न विद्यः ॥ ३२ ॥

चं पुनः कामं यथेच्छं व्योमनि आकाशे चरन्तीति व्योमचरान्तेषु, पृतेषु देवेषु वर्यं सत्यं सुरत्वं देवत्वं न प्रतीमो न श्रद्धामः । यदस्मात् कारणात् हीति निश्चितं, जनवश्चकानां मायाविनां धूर्तानां ३ माया दुःखेन अन्तो यस्याः सा दुरन्ता दुर्जनेत्यर्थः, इति किं वर्यं न विद्मो न जानीमो ?, विद्य पृतेत्यर्थः । पृतावता एतेन मायिनैव स्वमायया पृते देवा अपि कल्पिता इति ज्ञायन्ते इति भावः । प्रतीम ६ इति । प्रतिपूर्वादिणः कर्त्तरि लद् ॥ ३२ ॥

मुग्धेषु लोकेषु कुतो विवेको
ज्ञासन्ति हा हा ! प्रभुमेनमेव ।
किं ज्ञायते शासनमस्य कीदृश् ?
सोपद्रवः सञ्जिगमो हि भूतः ! ॥ ३३ ॥

मुग्धेषु तत्त्वज्ञानहीनेषु विवेको योग्याऽयोग्यत्वनिर्णयः कुतः ? ५३
कुतोऽपीत्यर्थः । ततश्च हा हा ! इति खेदे, मुग्धलोका एनमेव मायिनं प्रमुँ जगत्त्वामिनं ज्ञास्यन्ति । तथा किं ज्ञायते अस्य शासनं घर्मोपदेशः कीदृश् अस्ति ?, ततो हीति निश्चितं, सञ्जिगमः सद्वर्ममार्गः ५५ सोपद्रवः उपद्रवयुक्तो भूतः सज्ञातः । ‘अध्या पन्या निगमः सृतिः’ इति हैमः ॥ ३३ ॥

धर्मे हु धर्मे जगतो गतिः का ?

यतोऽस्य तत्कोऽपि विमर्शनीयः ।

क्रतुक्रिया तिष्ठतु रावदेत्-

ज्ञायाम्युपायो नियतो विधेयः ॥ ३४ ॥

हु इति विशेषे । धर्मे धर्मे सति जगतो विश्वस्य का गतिः ?, न कार्यात्मर्थः । उरस्मात्कारणादस्य कार्यस्य कोऽपि यतो विमर्शः ५६
८ पौ० छा०

नीयो विचार्यः । तर्हि किं कार्यमित्याशङ्क्याह—करुक्रियाः यज्ञक्रिया
तिष्ठतु आस्तां तावत् प्रथमं नियतो निश्चित एतस्य धर्मच्छवंसकर्तुर्जे-
इयस्लाऽभ्युपायो विदेयः कर्तव्यः ॥ ३४ ॥

विद्यावत्तामेप न दृष्टपूर्वो
नापि श्रुतः कापि सुदूरदेशे ।

विहायसो वा पतितोऽत्र भूमौ

किं वाऽवतीर्णो ननु भूमिगर्भात् ॥ ३५ ॥

एष पुरुषो विद्यावत्तां विदुपां मध्ये पूर्वं दृष्टो दृष्टपूर्वो न, पूर्वं
९ कदापि विद्वत्सु न दृष्ट इत्यर्थः । न पुनः काऽपि सुतरामल्यन्तं दूर-
देशोऽपि श्रुतो वेत्युत्पेक्षायाम् । एष विहायस आकाशादत्र भूमौ
पतितः । किं वा—ननु निश्चितं (वितर्के !) भूमिगर्भाऽद्भूमध्यादक-
१२ सादत्रावतीर्णो ?, न ज्ञायते सद्यः कुतः समेतोऽयमिति भावः ॥ ३५॥

आयातु यात्वेप यतस्ततो वा
स्वार्थं समाराधयतां सुखेन ।

दुःखाय नः किंतु भवेत्प्रकामं

लोकेऽस्य लोकेश्वरताप्रसिद्धिः ॥ ३६ ॥

एष यतस्ततो वा प्रदेशात् आयातु आगच्छतु, यत्र तत्र या यातु,
१८ अथवा सुखेन स्वार्थं सप्रयोजनं समाराधयतां साधयतु, नाऽस्लाङ्कं
किमपि दुःखायेति वाक्यशेषः । किंतु लोके याऽस्य लोकेश्वरतायाः
प्रतिद्विः सा प्रकाममल्यन्तं नोऽस्लाङ्कं दुःखाय भवेत् ॥ ३६ ॥

गर्जत्वयं तापदुदाचयोपो

गर्वं दधात्वीश्वरताऽभिपिक्तम् ।

यावन्न चाऽसाद्वर्दृष्टियोगं गतो
गजो व्याघ्रभिश्चाऽनवेक्ष्य ॥ ३७ ॥

अयं पुरुषः उदाचो महान् घोषः शब्दो यस्य स उदाचयोषः ३
सन् तावद्वर्जतु । पुनरीश्वरता ऐश्वर्येण अभिषिद्यते स्मेति ईश्वरता-
भिषिक्तं ऐश्वर्यजनितं गर्वमहङ्कारं तावद्वधातु धारयतु यावदस्मा-
द्वशानामसत्तुत्यानां द्वष्टोर्नेत्रयोर्योगं सम्बन्धं न गतो न प्राप्तः । क ५
इव । व्याघ्रं शार्दूलमनवेक्ष्य अप्रेक्ष्य स्थितो गज इव । यथा गजस्ताव-
दुदाचयोषो गर्जति, तावच्च स्वमहत्त्वगर्वं दधाति यावद्याघं न प्रेक्षते
तथा अयमपीत्यर्थः । उदाचेति । ‘उदाचो दातृमहतोर्हृषे च स्व- ६
मिदपि’ इति अनेकार्थः ॥ ३७ ॥

शैलालिनां सिद्धिरुतेन्द्रजाले

प्रस्तावसम्पादिवस्तुयोगात् ।

विद्यावतामत्र तु कापि नाऽस्तस्या

मृपाविधौ न प्रतियन्ति वुद्धाः ॥ ३८ ॥

उतेति वितर्के, शैलालिनां नदानां प्रस्तावे अवसरे संपादितं १५
निष्पादितं यद्वस्तु कौतुककारिपदार्थस्तस्य योगात् इन्द्रजाले कुहके,
सिद्धिरक्षीति शेषः । विद्यावतां तु अत्रेन्द्रजाले कापि आस्ताऽपेक्षा
नं, कोऽप्यादरो नास्तीत्यर्थः । कथमित्याह—यतो वुद्धाः पण्डिता १०
मृपाविधौ मिथ्याकार्ये न प्रतियन्ति न प्रतीति कुर्वन्ति । इन्द्रजालस्य
मिथ्याकार्यत्वात् तत्रः विदुपामादर इति भावः । ‘नटः कृशाश्वी
शैलाली’ इति हैमः । आस्येति । ‘आस्या यत्तालम्बनयोरसानाऽपेक्ष- ११
योरपि’ इति अनेकार्थः । प्रतियन्तीति । प्रतिपूर्वादिणः कर्चरि
लद् ॥ ३८ ॥

वादाय नैव प्रभविष्णुरेपो-

इसाभिः समं निधित्वेतदस्ति ।

नागाधिराजोऽपि विष्णुं विमुच्चन्

किं वैनतेयेन समं समर्थः ? ॥ ३९ ॥

एष पुमान् अस्साभिः समं सार्द्धं वादाय वादं कर्तुं नैव प्रभ-
विष्णुः समर्थो विद्यते एतज्जिक्षितं निश्चयीकृतमस्ति । एतमेवार्थं
मर्यान्तरन्यासेन द्रदयति—नागाधिराजः सर्पेन्द्रो विष्णुं विमुच्चन्नपि
परपीडनार्थं मुखाद्विर्निष्कासयन्नपि वैनतेयेन गरुडेन समं सह,
योद्युमिति शेषः, किं समर्थो भवेत् ? न भवेदेवेत्यर्थः । यादा-
येति । ‘क्रियार्थोपपदस्य’ (२।३।१४) इति चतुर्थी ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा पुनर्गाँतिमस्तानाह—

१२ निर्जित्य तं यावदुपैमि गेहं विद्वद्वैस्तावदिहाऽसितव्यम् ।

पुरोग एवारिवलं जयेत् वृत्तं तदा पृष्ठगच्छक्वारैः ॥ ४० ॥

अहो ! विद्वांसो । यावत्तं पुरुणं निर्जित्य जहं गेहुपैमि गृहमाग-

१५ च्छामि, तावद्विद्वद्वैरिवद्वल्लु प्रधानैर्भवद्विः इह आसितव्यम् अत्रोप-

येष्टव्यम् । उक्तेऽप्येऽर्थान्तरं न्यस्यति—वेदादि पुरोग एव सैन्याग्रगामी

मुमट एव अरिवलं वैरिसैन्यं जयेत् अभिमवेत्, तदा पृष्ठगच्छ-

१८ वारैः पृष्ठगमिसैन्यमुभैः शृतं, सतमित्यर्थः ॥ ४० ॥

इति सरभसमुद्घन्माननागाधिरूपः

शरभिरशुरशिष्यैर्वर्द्धिर्गतिसाहसारः ।

समवसरणमैश्च द्रष्टुमाथव्यहृतुं

मागादमिमुखं द्रागिन्द्रभृतिः प्रतस्ये ॥ ४१ ॥

इति अमुना प्रकारेण सरमसं सत्वरं मुच्यन् प्रादुर्मवन् यो मानों
गर्वः स एव चागो हस्ती तमधिरूढ़ आरूढः । पुनः शरा वाणा
अर्थात्पञ्च, तैः मितानि प्रभितानि यानि शतानि पञ्चशैतानीत्यर्थः । ३.
तावन्तो ये शिष्याश्छात्रासैर्विर्द्धिर्तो वृद्धिं नीत उत्साह एव सारो बलं
यस्य स तथोक्त एवंभूत इन्द्रभूतिगौतमः आश्र्वर्यहेतुं विसयकारणं
ईशस्य भगवत् इदं ऐशं समवसरणं ब्रह्मं विलोकयितुं द्वाक्ष शीत्रं ६
भगवतोऽभिमुखं संमुखं प्रतस्ये चचाल । सरमसमिति । ‘रमसो
चेगर्हर्थ्यो’रित्यनेकार्थः । ‘वेगो रहस्त्वरा वे’ति तदृचिः । अधिरूढ
इति । ‘गत्यर्थ—’ (३।४।७२) इत्यादिना कर्हरि कः । प्रतस्ये ९
इति । प्रपूर्वात्साधातोः कर्हरि लिट् । इदं मालिनीवृत्तं; तत्त्वज्ञणं तु
‘न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकै’रिति ॥ ४१ ॥

इति गौतमविपादोत्साहवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥ १२

इतीति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रकाशख्यातां गौतमीयमहाकाव्यचाख्यायां
पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

१५

पठः सर्गः ।

प्रस्थितोऽथ वरुणराह्याद्वामतो वनदिशं दशौ क्षिपन् ।

गौतमो विवुधखण्डकैर्वृतो दिव्यदैवरचनामुदैसुत ॥ १ ॥

यस्य चारुरचनाविराजिवं दिव्यघाम मुरत्तराजिनिर्मितम् ।

इन्द्रभूतिरभिवीक्ष्य विसयं प्राप सोऽस्तु जिनपुङ्कयो मुदे ॥ १ ॥

अथ यज्ञगृहात् प्रशानाऽनन्तरं वरुणराह्यात् ‘वरुणीर’ नामका-
द्यमतः प्रस्थितश्यलितो विवुधः पण्डिता ये सण्डिकाः स्थिष्यासैर्वृतो २२

वेदितो गौतम इन्द्रमूतिर्वनदिशं प्रति दृश्यौ दृष्टी क्षिपन् प्रेरयन् दिव्या
मनोज्ञा या देवानां समूहो दैवसेन कृता रचना समवरणस्था
३ तां उदैक्षत उच्चैर्विलोकितवान् । अस्मिन् सर्गे रथोद्धतादृचं, तलश्चणं
च ‘राज्ञरा-विह रथोद्धता लगा’विति ॥ १ ॥

इयामलच्छविविभासितं वनं तावदस्य नयने व्यलोभयत् ।
६ पूर्वमेव महिमानमैश्वरं ज्ञापयत्कुमतमोहितानिव ॥ २ ॥

तावदमथमं इयामला इयामा या छविः प्रभा तया विभासितं
दीप्यमानं वनं, अस्य गौतमस्य नयने चक्षुपी व्यलोभयत्, विमोहिते
९ चकार । वनं किं कुर्वदिव । पूर्वमेव प्रथममेव कुमतेन कुर्दर्शनेन
मोहितान् लोकान् ईश्वरस्याऽयमैश्वरः तं महिमानं महत्त्वं ज्ञापयदिव ।
‘स्याद्रामः इयामलः इयाम’ इति हैमः ॥ २ ॥

१२ एतदेव महसेनकं वनं दृश्यते किमथवाऽत्र नन्दनम् ? ।
श्रीरम्प्य जनिताऽद्भुता कथं संनिधाय स हृदीत्यचिन्तयत् ॥ ३ ॥

अत्र प्रदेशो एतत् महसेनकं महसेननामकमेव वनं दृश्यते ऽथवा
१५ किं नन्दनं वनं दृश्यते ? अथ चेन्महसेनवनमेवैतत्तर्हि अमुप्य अस्य
वनस्य श्रीः शोभाऽद्भुता आर्थर्यकारिणी कथं केन प्रकारेण जनिता
उत्पादिता ! मालाकारादिभिरिति शेषः । इत्यमुना प्रकारेण स
२० गौतमः संनिधाय यनरामीपुं प्राप्य हृदि गनसि अचिन्तयत् चिन्तयत्
यति ल ॥ ३ ॥

पुनर्गौतमो यदचिन्तयत्तदाह—

चिर्यमेव उद्धरं विलोक्यते स्तम्भयोगमपहाय कारणम् ।
२२ रसभूमिरियसुश्रुता यतो व्योम्यहो । गुरुतरा प्रतिष्ठिता ॥ ४ ॥

एतत् अपरं चिन्माश्वर्यं विलोक्यते, यतः—कारणं प्रतिष्ठानहेतु-
भूतं सम्भयोगं सम्भसम्बन्धमपहाय त्यक्तवा इयं उन्नता सार्द्धकोश-
द्धयोच्चा गुरुतराऽतिमहती, योजनप्रमितेत्यर्थः । एवंविधा रत्नमूर्मिः ३
रत्नमयी पृथ्वी व्योम्नि आकाशे प्रतिष्ठिता, निराधारा स्थितेत्यर्थः ।
अहो ! इति पादपूरणे, निपातानामनेकार्थत्वात् ॥ ४ ॥

आरुरुक्षुर्यं तां स उच्चकै रत्नवद्वरमणीयवर्त्मना । ५
प्राणिनीक्ष्य जलपूर्णदीर्घिकां स्नेरपश्चसचिवां विसिष्मिये ॥ ५ ॥

अथोनन्तरं उच्चकैरुक्षतेन रक्षयद्वं यद्रमणीयं भनोजं वर्त्म मार्गसेन
तां रत्नमूर्मिं आरोहुमिच्छुरारुक्षुः स गौतमः प्राक् पूर्वं सेराणि ९
विकसितानि पद्मानि कमलानि सचिवाः सहाया यस्यास्ताम्, विकच-
कमलयुक्तामित्यर्थः । एवंविधां जलपूर्णदीर्घिकां जलमृतवार्पीं निरीक्ष्य
द्वद्वा विसिष्मिये विस्तयं प्राप्तवान् । ‘सचिवः सहायेऽमात्ये’ इति हैमः । १२
विसिष्मिय इति । ‘मिह ईपद्वसने’ विपूर्वादसात्कर्चरि लिट् ॥ ५ ॥

विसयप्रकारमाह—

दीर्घकालमपि शिल्पकल्पिता नेदशी भवति दीर्घिका पुनः । १५
साऽधुनैव रचिता ततः स्फुटा देवताकृतिरियं प्रतीयते ॥ ६ ॥

दीर्घकालमपि यावत् शिल्पभिः कलादद्विः कल्पिता रचिता
दीर्घिका वापी ईदशी न भवति, येयं मया दृष्टा सा पुनर्वीपी तु १०
अधुनैव रचिताऽस्ति तत इयं स्फुटा प्रकटा देवताकृतिरेवक्रिया
प्रतीयते, ज्ञायते, न मनुष्यकृतिरियमित्यर्थः ॥ ६ ॥ २०

१ ‘दीर्घकालमपि यावत् शिल्पभिः कल्पिता नेदशी भवति’ इति
धर्मसुदितमूलगाढ़द्वयोमन्तवर्त्मनीचीनः ।

सोऽय मोक्षमिव गन्तुमुन्मुखो वप्रसंमुखमितः समुद्ययौ ।

संमुखीकृतविशुद्धबोधतः प्राप्य शक्तिमिव चोर्ज्ञगमिनीम् ॥७॥

३ अथाऽनन्तरं स गौतमो मोक्षं गन्तुमुन्मुख इव इतोऽसाद्वापीपदे-
शाद्वप्संमुखं समवसरणप्रकाराभिमुखं समुद्ययौ सम्यक्प्रकारेण ऊर्ज्ञं
ययौ । किं कृत्वेव । संमुखीकृतो यो विशुद्धबोधो निर्मलज्ञानं तस्मात्
६ ऊर्ज्ञगमिनीं शक्तिं प्राप्येवेत्युपेक्षा, च पदपूरणे ॥ ७ ॥

वप्रगोपुरपुरः स्थतोरणं लभ्वमानमणिहारभूषणम् ।

गन्धलुभ्यमधुपावलीमिलत्पुष्पदामसुमशेखरात्तिवतम् ॥ ८ ॥

९ लोचनातिथिमवाप्य लोभित-

स्तच्छ्रया स मतिमत्र सन्दधे ।

पूर्वकल्पितविकल्पजल्पना

मामिका विषटितेव भासते ॥ ९ ॥—युग्मम् ।

इह इति शब्दोऽध्याहार्यः ततश्चैवमन्वयः—लंबमाना ये मणि-
हारा मणिमया हाराख एव भूषणानि यस्य तत्त्वोक्तं, पुनः पुष्पदामानि
१५ पुष्पमालाः सुमशेखराणि पुष्पशेखराणि तेषां द्रन्दः, गन्धे लुभ्या
या मधुपावली अमरथ्रेणिस्तपा मिलन्ति संसर्गवन्ति यानि पुष्पदाम-
सुमशेखराणि तैरचितं प्रशस्तं एवंविधं वप्रगोपुरस्य भाकारस्य पुरोऽप्ते
२० तिष्ठतीति वप्रगोपुरपुरः स्तं यजोरणं तक्षोचनयोरतिधिं नेत्रयोगोचर-
मवाप्य प्राप्य तस्य तोरणस्य विद्या शोभया लोभितो विमोहितः
२१ स गौतमोऽप्तं प्रस्तावे इति मतिं बुद्धिं संदधे घारयामास । इतीति किं
तदाह—मगेयं मामिका पूर्व कल्पिता विहिता ये विकल्पज्ञा विम-
र्द्धान्तेषां जस्पना विषटिता इव अन्यथामृता इव भासते मद्रिकस्तितेन्द्र-
२२ जालस्ताश्रोऽदर्शनादिति गावः । तुमेति । ‘प्रदूरं कुसुमं सुम’मिति

हैमः । माभिकेति । असदोऽपि ममकादेशः, ‘टिष्ठाणन्’ (४।१।१५) इति ढीप् प्राप्तावपि ‘केवलमामफ्’ (४।१।३०) इति नियमात् टाप्, ककारस्यादेशावयवत्वेन प्रत्ययस्यत्वामावात् इकाराऽप्राप्तावपि ३ ‘मामकनरकयोः’ (वा०) इत्युपसद्यानात् इत्यम् ॥ ८ ॥ ९ ॥
कथमित्याह—

इन्द्रजालकुतुं कृशाभिनां दृष्टिसम्ब्रमकरं न चार्थकृत् । ९
अर्थकृत्त्वमपरोक्षमत्र तु प्रेक्ष्यते किमपरं परीक्षितुम् ? ॥ १० ॥

कृशाभिनां नदानां सम्बन्धे इन्द्रजालकुतुं इन्द्रजालकृतुं
दृष्टोर्नेत्रयोः संभ्रमकरं चमत्कारकरं चर्चते, परं न चार्थकृत्, कार्य-१
साधकं नास्तीत्यर्थः । अत्र तु अपरोक्षं प्रत्यक्षं अर्थकृत्त्वं विद्यते,
ततश्च अपरमन्यत् परीक्षितुं किं प्रेक्ष्यते किं विलोक्यते ? अपरपरी-
क्षाया अत्र किमपि प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः । कुतुकमिति । ‘कौतुहलं १२
तु कुतुक’मिति हैमः ॥ १० ॥

राजती वरणभित्तिरीटशी वीरुदु(यु१) छिद्वितमक्तिभूपिता ।
मूर्भि हैमकपिशीर्पमण्डिता देवकृत्यमतिरिच्य न कचित् ॥ ११ ॥ १५

ईदृशी पर्वविधा वीरुदां विद्यावद्वालीनां उल्लिखिताभिर्मिति-
मिर्मूपिता शोभिता मूर्भि मष्टके हैमैः स्वर्णमयैः कपिशीर्पिः मण्डिता
रजतसेयं राजती रूप्यमयी वरणभित्तिः प्राकारभिरिदेवानां कृत्यं १८
कार्यमतिरिच्य एषकृत्य, देवकृत्य विनेत्यर्थः । न कचिद् दृष्टेति
शेषः । अतो निधित्वं देवकृत्यमेवेदं न त्विन्द्रजालमिति भावः ।
वीरुच्छब्दो धान्तः ॥ ११ ॥ २१

दर्शनीयमिह नास्ति यन्म चतुर्दशमेव किञ्चित्प्रियं चिच्छारकम् ।
निःप्रयोजनविलम्बनं परं यत्र चतुर्दशनो चरम् ॥ १२ ॥ २२

इह प्रदेशे यद्वस्तु तत् चिरहारकं मनोहरं विद्यते, परं मनसिनः
सुमनसः पुरुपस यत्र तत्र प्रदेशे निःप्रयोजनं निष्कारणं विलम्बनं
३ विलम्बकरणं न वरं न श्रेष्ठं, स्वकृत्यं साधनीयमिति भावः । मनसिन
इति प्रशंसायां विनिः ॥ १२ ॥

स ग्रविश्य विशिखां पुरस्ततः पश्यति सा सुविमानमालिकाः ।
६ सद्घृहृदयदेशशोभिता रत्नहारलतिका इवोडवलाः ॥ १३ ॥

ततस्तदनन्तरं स गौतमः पुरोड्ये विशिखां प्रतोलीं प्रविश्य
सुविमानमालिकाः शोभनविमानथेणीः पश्यति सा दृष्टवान् । का
९ इव । सद्धध्वा हृदयदेशे वक्षःस्थले शोभिता उज्जवला निर्मला रत्न
हारलतिका इव विविधमणिमयहारलता इव ‘प्रतोलीविशिखाः
समाः’ इति हैमः ॥ १३ ॥

१२ ततः किं जातमित्याह—

यो गमीरजलवाहगर्जितं हेपयन् प्रसरति सा सर्वतः ।

श्रीजिनेन्द्रहृदयाननोद्भवः शुश्रुवे स मधुरो महाध्वनिः ॥ १४ ॥

१५ यो ध्वनिर्गमीरं गम्मीरं यज्जलवाहस्य मेघस्य गर्जितं तत् हेपयन्
लज्जयन् सर्वतः सर्वासु दिक्षु प्रसरति सा विसृतवान् । स श्रीजि-
नेन्द्रस्य वीरप्रभोर्हृदयाननाभ्यां हृदयमुखाभ्यां उद्भवो ध्वनिः सुतो
१८ मधुरो महाध्वनिः शुश्रुवे शूयते सा, तेन गौतमेनेति शेषः । हेप-
यमिति । ‘ही लज्जायां’, देवुगणिजनन्तादसाहटः शत्, ‘अर्चिही-’
(७।३।३६) इति पुक् । शुश्रुवेति । शुपात्रोः कर्मणिलिद् ॥ १४ ॥

१९ भगवद्वार्णी श्रुत्या गौतमेन यदचिन्ति तद्वाह—

११ ११ यस्य कर्णगुखदः प्रवर्तते

१२ देवतूर्यनिनदोपरि ध्वनिः ।

स. त्वचिन्त्यमहिमाऽनुमीयते
कोऽपि संप्रति विनाऽपि दर्शनम् ॥ १५ ॥

कर्णयोः सुखं ददातीति कर्णसुखदो यस्य ध्वनिर्देवतूर्याणां देव-३
वादित्राणां निनदस्य शब्दस्योपरि प्रवर्चते, स तु संप्रति अधुना दर्शनं
विनाऽपि कोऽपि अचिन्त्यो महिमा प्रभावो यस्य सोऽचिन्त्यमहिमा
पुमान् अनुमीयते ज्ञायते । माडः कर्मणि लट् ॥ १५ ॥ ६

ततः स्वर्णवप्रमालोक्य तेन यच्चिन्तितं तदाह—

मानुभानुभिरुपैधित्युतिर्भात्यहो ! कनकभित्तिरप्रतः ।

वप्र एप मणिशृङ्गसङ्गतः स्वर्णशैलसुपमामिवोद्धहन् ॥ १६ ॥ ७

जहो इति आश्रये, भानोः सूर्यस्य मानुभिः किरणैरुपैधिता वृद्धिं
गता युतिर्दीप्तिर्यस्य स तथोक्तः, पुनः कनकस्य स्वर्णस्य भित्तिर्यस्य
स कनकभित्तिः, पुनर्मणिशृङ्गमणिमयकपिशर्यैः सङ्गतो मिलितः १२
अप्रत एवंविध एप वप्रः प्राकारः स्वर्णशैलस्य मेरुपर्वतस्य सुपमां
शोभां उद्धहन्निव धारयन्निव भाति शोभते । ‘सुपमा तु सात्परम-
शोभायां कालभिद्यपि’ इति अनेकार्थः ॥ १६ ॥ १५

गोपुरं च रुचिरं सतोरणं दीप्यमानमणिभाप्रभासितम् ।

शक्तचापकमलाऽपहारकं भन्मनो नयति पद्मुतामिव ॥ १७ ॥

च पुनर्दीप्यमानानां मणीनां भामिदीप्तिभिः प्रभासितं विराजितं १८
अत एव शक्तचापस्य इन्द्रधनुपः कमलाया लक्ष्म्या अपहारकं एवं-
विधं रुचिरं भनोजं सतोरणं तोरणसहितं गोपुरं सर्वप्राकारद्वारं कर्तुं, २०

१ ‘गोपुरं रुचिरं सतोरणं’ इति वारीसुदितः पाठः, स च छन्दोनुरेषादप्य-
स्तरसः ।

मन्मनो मचिचं पहुतां पहुलतामिव नयति प्रापयति, एतत्त्यक्षवा-
अप्तो गन्तुं न शक्यते इति भावः ॥ १७ ॥

३ इन्द्रजालरचना विवक्ष्यते चेदिहाप्यभिनिवेशमोहितैः ।

वहिं सत्पथकथावधारणे सर्वमप्युदितमप्रमाणकम् ॥ १८ ॥

अभिनिवेशो जानत एवाऽसदाग्रहस्तेन मोहितैर्मूढचितैः पुलै-
६ रिहापि चेद्यदि इन्द्रजालरचना विवक्ष्यते वक्तुमिष्यते तर्हि सत्पथस्
सन्नार्गस्य कथाया चार्चाया अवधारणे निध्यकारणे शाक्षादौ
उदितमुक्तं सर्वमपि अप्रमाणकं प्रामाण्यरहितं, सादिति शेषः । इह
९ सर्वेसापि सन्दूतवस्तुन एव दर्शनादिन्द्रजालकल्पनाया अनृतलमिति
भावः । अवधारणे इति । अवधार्यतेऽनेनेति विग्रहे करणे
स्युद् ॥ १८ ॥

१२ 'अस्तु मे गमनमग्रतः' पुनश्चेतसेति विमृशन् द्विजोत्तमः ।

प्राविशत्कनकवप्नगोपुरं प्रेक्षणाय पुरुषोत्तमश्रियः ॥ १९ ॥

पुनः 'मे मम अप्तो गमनमस्तु' इति चेतसा हृदयेन विमृशन्

१५ विचिन्तयन् द्विजेषु उत्तमो द्विजोत्तमो गौतमः पुरुषोत्तमस्य श्रीवर्द्द-
गानसामिनः श्रियोऽशोकादिप्रतिहार्यलक्ष्म्याः प्रेक्षणाय दर्शनार्थं
कनकवप्नस्य सर्णीमाकारस्य गोपुरं द्वारं प्राविशत् प्रविशति स ।

१० विशेष्योदादिकात्कर्चिरि लङ् ॥ १९ ॥

जानुदागुणुमोघयस्तुतां भूमिषुदुखुगन्यसंभृताम् ।

तत्र सुन्दरवरां निरीक्ष्य स स्वर्गलोकगुरुमन्वयोगवीत् ॥ २० ॥

११ तत्र सर्णीमाकारे जानुः प्रमाणमसेति जानुदमो यः कुमुमोघयः

पुण्यसमृद्धेन स्वृगामाच्छादिर्ता अत एव उद्धुर उत्कटो यः समु

१२ द्वोग्नो गन्धस्तेन संभृतां पूर्णं पुनः सुन्दरतरामतिमनोऽनी पूर्वविभा-

भूमि निरीक्ष्य दृष्टा स गौतमः स्वगलोकस्य सुखं अन्वयोमवीत्
अतिशयेन अनुभवति स । जानुदमेति । जानुशब्दात्माणेऽर्थे 'दम्भव्'
प्रत्ययः, सुन्दरतरामित्यत्र 'तसिलादिप्वाकृत्स्यसुचः' (६।३।३५) ३
इति पुंवद्वावः । अन्वयोमवीदिति यद्गुणान्ताद्ववतेः कर्चरि
लह्व ॥ २० ॥

तत्र वप्तवलये समन्ततोऽपश्यद्द्वृतमतीव चक्षुपा । ६
यद्विहाय चुलशशुतां मिथः सङ्गताः स्वलचराश्च पत्रिणः ॥२१॥

तत्र तसिन् स्वर्णमये वप्तवलये प्राकारवलये समन्ततः सर्वप्रदेशोपु
गौतमशक्षुपा अतीवाऽत्यन्तमद्वृतमाश्र्वयमपश्यत् दृष्टवान् । किमा-६
श्र्वयमित्याह—यदस्तात्कारणात्तत्र स्वलचरा गोव्याप्रादयश्च पुनः
पत्रिणः पश्चिणः काकोदकादयो मिथः परस्परं कुलशशुतां कुलं
संबन्धवैरिता, जातिविरोधमित्यर्थः । विहाय त्यक्ता सङ्गता मिलिताः १२
सन्ति, इदमेवाश्र्वयमऽपश्यदित्यर्थः ॥ २१ ॥

ततो गौतमेन यदनिन्ति तदाह—

ये विवेकविकला भयाकुलाः

प्रायशो गिरिवनाधिवासिनः ।

राँस्तिरथ इह शत्रवोजितान्

भारती भगवतो व्यधात्किल ॥ २२ ॥

किलेति संभावनायां, ये तिर्यशो विवेकविकला विवेकहीनाः
पुनर्भयेन आकुला व्यग्राः पुनः प्रायशो चाहुत्येन गिरयश्च चनानि
च गिरिवनानि चानि अधिवसन्तीति तच्छीलात्मनिवासिन इत्यर्थः ।
सन्तीति शेषः । चान् तिरथस्त्रिर्यग्नीवान् इह प्रदेशो शत्रोर्भावः २२

शाश्रवं शशुता तेन उज्जितान् रहितान्, भगवतो भारती वाणी
व्यधात् करोति स इति संभाव्यते इति भावः ॥ २२ ॥

३ तद्वनेर्मधुरियाऽतिमोहितं द्वीपिनं हरिणयूथमध्यगम् ।
च्याघकण्ठमुपसृत्य संसिता मोहिता मृगमृगीर्ददर्श सः ॥२३॥

तत्र प्रदेशो स गौतमः तस्य भगवतो ध्वनेर्वाण्या मधुरिम्णा
६ माधुर्येण अतिमोहितं द्वीपिनं चित्रकं हरिणयूथस्य मृगसमूहस्य
मध्यगं विरोधत्यागेन मध्यवर्तिनं ददर्श, तथा च्यापस्य कण्ठमुपसृत्य
तत्समीपे गत्वा संसिताः सम्यक् प्रकारेण सिता मोहिता इव
९ मोहिता मृगाश्च मृगयश्च मृगमृग्यस्ता ददर्श ॥ २३ ॥

शम्बरोऽपि मृगराजसन्निधाबुज्जहाविह तदुद्धवां भियम् ।

एष एव महिमा महात्मनः कापि येन न कुतः पराभवः ॥२४॥

१२ इह प्रदेशो शम्बरोऽपि पशुविशेषो मृगराजस्य सिंहस्य सक्षिप्तौ
समीपे तदुद्धवां सिंहादुत्पन्नां भियं भीर्ति उज्जहौ तत्याज । एपोऽस्य
महात्मनो महापुरुषस्यैव महिमा माहात्म्यं, प्रभाव इति यावत् ।

१३ दृश्यते इति शेषः । येन कारणेन इह कापि जीवे कुतः कल्सादपि
जन्तोः पराभवस्तिरस्कारो न नाति । तदेतत्सर्वमस्यैवं गाहात्म्यमिति
भावः । इति गौतमश्चिन्तितवानिति वाक्यशेषोऽन्न बोध्यः । उज्ज-

१४ हाविति । उत्पूर्वात् ‘ओहाकृ त्यागे’ असात्कर्त्तरि लिह । तदु-
द्धवामिति । उद्धवस्यसादित्युद्धवः, स सिंह एव उद्धव उत्पत्ति-
कारणं यस्या इति विग्रहः । भियमिति । ‘भयं भीर्भीतिरातङ्क’ इति
१५ द्वैमः ॥ २४ ॥

सारमेयशृपदंशुकं पुनः श्रोतुमीश्वरगिरः समाहितम् ।

१६ मृक्खवैरमिति जातसौहृदं गौतमः स्थितमऽपदियदेकतः ॥ २५ ॥

पुनस्तत्र गौतमः ईश्वरस्य भगवतो गिरो वाणीः ओतुं, समाहितं समाधियुक्तमेकचिचमित्यर्थः । अत एव मुक्तं त्यक्तं वैरं येन तम्मुक्तवैरं, ततश्च जातमुत्पन्नं सौहृदं मैत्री यस्य तज्जातसौहृदमिव ३ एकत एकत्र प्रदेशे स्थितं सारमेयवृपदंशकं शानमार्जारमपश्यत् दृष्ट्वान् । सारमेयेत्यादि । सारमेयश्च वृपदंशकश्चेति येषां च विरोधः शाश्वतिक इति समाहारे द्वन्द्वः ‘अस्मिमुग्र मपणः सारमेयः ६ कौलेयकः शुन’ इति हैमः । ‘विडाल ओतुर्मार्जारो हीकुश वृपदंशक’ इति च ॥ २५ ॥

आलुलोकदपचापलं प्रभोर्भारतीश्वरणतः स वानरम् । ९
मौनधारिणमिवार्यमानवं क्षामणापरमिवैडकाजकात् ॥ २६ ॥

पुनः प्रभोर्भारत्या वाण्याः अवणत आकर्णनात् अपगतं चापलं चपलत्वं यस्य तमपचापलं, अत एव आर्यमानवमिव सत्पुरुपमिव १२ मौनधारिणं तूष्णीकं स्थितं एवंविघवानरं भर्कटं स गौतम एडकाऽजकात् भेण्टक-वर्कराम्यां क्षामणापरं क्षामणां कुर्वणमिव आलुलोकत् पश्यति स । आइपूर्वोलोक्यातोश्चुरादिष्पन्तात्कर्त्तरि छह । १५ अल्लोपित्वाक्षोपथादस्तः । एडकेत्यादि । एडकश्चाऽजकश्चेति द्वन्द्वे ‘विभाषावृक्षमृग—’ (२१४।१२) इत्यादिना वा एकवद्वावः ॥ २६ ॥

सिंहपृष्ठिमुपधाय लभ्नितप्रीयमत्र गवयः पिवन् गिरम् । १०
निर्भयस्तानुमचालयन्निजां गौतमेन दद्यते मनस्यिना ॥ २७ ॥

अत्र प्रदेशे गवयो वनगवः पञ्चविशेषो लभ्निता ग्रीवा यत्र तस्मितप्रीयं यथा स्याहया सिंहस्य शुष्ठिं एषुपदेशमुपधाय आश्रित्य गिरं भगवद्वाणीं पिवन् निर्भयः सन् निजां तनुं देहमचालयन् अप्तः २१

कम्पयन् मनसिना सुमनसा गौतमेन दद्दशे हृष्टः । दद्दशः कर्मणि
लिट् । 'गवयः स्याद्वनगव' इति हैमः ॥ २७ ॥

३ वोधिदध्वनिविमोहितं शर्शं तस्य मित्रमिव चित्रकं स्थितम् ।
शान्तमेकमपरं च निर्भयं गौतमो द्वगतिर्थि विनिर्भमे ॥ २८ ॥

वोधिदस्य मगवतो ध्वनिना विमोहितं शर्शं मूदुलोमकं पशुं
६ विशेषं तथा तस्य शशस्य मित्रमिव स्थितं चित्रकं शार्दूलं तयोर्मध्ये
एकं चित्रकं शान्तं गतकोषं च पुनरपरमन्यं शर्शं निर्भयं एवंविर्थं
तत्पशुद्वयं तत्र गौतमो दद्दशेनेत्रयोरतिर्थि प्राघूर्णकं गोचरमित्यर्थः ।
९ विनिर्भमे कृतवान् । वोधिदेति । वोधिं सम्यक्त्वं ददातीति विगृहे
'आतोऽनुपसर्गे' (३।२।३) इति कः । विनिर्भमे इति । विनि-
पूर्वान्माडः कर्त्तरि लिट् ॥ २८ ॥

१२ श्येन-गृष्ठ-शकुनिकमान्तरे

रक्तलोचन-शुकादिपत्रिणः ।

सालभिचिपु गिरोऽनुभावतो

१५ वीक्षते स स निराकुलोचलान् ॥ २९ ॥

स गौतमः सालभिचिपु प्राकारभिचिपु श्येन-गृष्ठ-शकुनीनां श्येन-
गृष्ठ-पक्षिणीं ऋमान्तरे चरणमध्ये स्थितान् रक्तलोचनशुकादिपत्रिणः
१० पारापत-कीरादिपक्षिणो गिरोऽनुभावतो भगवद्वाण्याः प्रभावात् निरा-
कुलं उचलं चिरं येषा ते तान् ताहशान् वीक्षते स ददर्श ।
'द्वेषो दृदयं चिरं शान्तं गृदपथोचले' इति हैमः ॥ २९ ॥

एवदक्षुतमुदीर्घ्य तद्रत्वं गौतमोऽय विमर्श्य मानसे ।

११ योऽय कोऽपि पुरुषो भट्टेयरलस्य चैष मद्दिमाऽवधार्यते ॥ ३० ॥

एतदनन्तरोक्तं तद्गतं सर्णप्राकारसं अद्भुतमाश्रयं उदीक्ष्य दृढ़ा
अथानन्तरं गौतमो मानसे हृदये विमर्शं चिन्तयामास । किं विम-
मर्शेत्याह—चशब्दो वाक्यालङ्कारे, अत्र प्रदेशो यः कोऽपि महे-३
धरः पुरुषो विद्यते एप तस्य महिमा माहात्म्यं अवधार्यते ज्ञायते ॥३०॥

शम्भुकोणविनिविट्मार्हतं

सद्ग कल्पतरुमालिकावृतम् ।

चित्तमस्य हरति स किं मनो-

हारि नैव जगदीश्वरास्पदम् ॥ ३१ ॥

तत्र प्राकारे एवं शंभुकोणे ऐशान्यां विदिशि विनिविटं सितं ९
पुनः कल्पतरुमालिकाभिः कल्पवृक्षपुष्पमालभिर्वृतं वेष्टितं अर्हत इदं
आर्हतं सद्ग गृहं देवच्छन्दकमित्यर्थः । अस्य गौतमस्य चित्तं हरति
स । युक्तोऽयमर्थः—जगदीश्वरस्य भगवत् आस्पदं स्यानं किं मनो- १२
हारि नैव भवेत् १३ मवेदेवेत्यर्थः । नैवेति । अत्र एवशब्दोऽनव-
धारणार्थस्थेन ‘एवे चाऽनियोगे’ (वा०) इति परख्यम् । इत्यमेव
शास्त्रान्तरोप्यपि ‘रूप्यक्षेय यानानि स्वर्णक्षेये तिर्यक्षो देवच्छन्दकं चे’ति १५
दृश्यते । यदुक्तं श्रीजिनप्रभसूरिभिर्विधिप्रपायां नन्दिरचनाधिकारे
“र्यायपायारंतरे अहिन्नउल-मय-मयाहिवाइतिरियाणां, तद्वयपायारंतरे
दिघजाणाईणं उवणेति” ॥ (सुद्रित० पृ० ३०) श्रीयशोभदस्त्रि- १६
कृतमाधीनसमवसरणस्त्रोत्रेऽप्युक्तं च ‘वहिवप्ये जाणार्द, वीर सत्तू-
वि मिदमावगया । तिरिया मणिमयद्वन्द्वो ईसाणे रयणवप्यवहिति’ ॥
एवं द्वितीये समवसरणस्त्रोत्रेऽपि बोध्यम् ॥ चत्ताठस्तु द्वितीयसर्ग-
पृष्ठायेय (अत्र पृ० ६१) लिखितोऽस्तीति न पुनर्लिख्यते ॥ ३१ ॥ २२
१ गो० दा०

रत्नवप्रसमणीयरोचिषो रागरञ्जितमिवास्तिलं नमः ।

पश्यतो द्विजवरस्य धीरभूद्रागिणी जिनवरोपसर्पणे ॥ ३२ ॥

३ रत्नवप्रस्य यद्मणीयं रोचिज्येतिस्तस्य रागेण रञ्जितमिवाऽस्तिलं
समखं नम आकाशं पश्यतो द्विजवरस्य गौतमस्य धीर्द्विजिनवरस्य
भगवत उपसर्पणे समीपगमने रागोऽस्त्यस्या इति रागिणी अभूत् ॥ ३२ ॥

४ स प्रविश्य वरतोरणेन तं भास्यरं वरणगर्भमैक्षत ।

विश्वनाथमहसाऽभिपूरितं निर्मलाऽद्विरिव संभूतं सरः ॥ ३३ ॥

स गौतमो वरतोरणेन तं मणिवप्रं प्रविश्य विश्वनाथस्य भगवतो
९ महसा ज्योतिपाऽभिपूरितं भूतं अत एव भास्यरं दीसिमन्तं वरणस्य
प्राकारस्य गर्भं मध्यभागं ऐक्षत दृष्टवान् । ईक्षतेः कर्चरि लङ् । किमिव ।

निर्मला या आपो जलानि ताभिः संभूतं पूरितं सर इव भगवन्महसो
१२ निर्मलजलेनौपम्यम्, प्राकारमध्यस्य सरसा औपम्यम् ॥ ३३ ॥

१ दिव्यचतुष्कनिगमाऽऽगतामरैः पूर्व्यमाणमरुचत्तदङ्ग्यम् ।

सिन्धुनाथ इव वेगपातिभिः सर्वतः प्रसृतसिन्धुवारिभिः ॥ ३४ ॥

१५ .. दिग्गां चतुष्कस्य ये निगमा मार्गस्तानागताः प्राप्ता यैऽमरा
देवास्तैः पूर्व्यमाणं श्रियमाणं तस्य प्राकारस्याङ्गणं तदङ्गणं अरुचत्
शोभते सा । क इव । वेगेन पतन्ति तच्छीलानि वेगपातीनि तैः,

१६ सर्वतः सर्वासु दिक्षु प्रसृतानि विसृतानि यानि सिन्धुवारीणि गङ्गा-
० दिनदीजलानि तैः पूर्व्यमाणः सिन्धुनाथः समुद्र इव, यथा स शोभते
तथेदमर्पात्यर्थः । अरुचदिति । हृचिषातुरालमनेपदी धारासुहुङ्गि

११ 'युज्ञो लुहि' (११३१९१) इति परस्तीपदं युतादित्वात् च्छ्लेरह् ॥ ३४ ॥

रसीठमय मध्यराजितं तुङ्गशृङ्गमिव मेरुसङ्गतम् ।

१२ आहुरोद स विमोदसुद्भवन् ध्यानपद्मतिमिवास्तिवो मुनिः ॥ ३५ ॥

अथानन्तरं ध्यानपद्धतिं ध्यानमार्गं आस्थित आलम्ब्य स्थितो
मुनिरिव विमोहं विमृद्धत्वं व्यग्रचित्तत्वमिति यावत्, उद्धमन् परि-
त्यजन् स गौतमो मेरुणा सर्णाचलेन सङ्गतं मिलितं मेरुसम्बन्धी- ३
त्यर्थः । तुङ्गमुवतं शृङ्गं शिसरमिव मध्ये रक्षप्राकारसाऽभ्यन्तरे
राजितं शोभितं रक्षपीठगारुरोह आरुद्वान् ॥ ३५ ॥

आतपत्रमिव दण्डमण्डितं सत्प्रवालकुसुमैः करम्भितम् । ६
छाययाऽन्न विनिवारिताऽत्तपतं स न्यभालयदशोकपादपम् ॥ ३६ ॥

सन्ति समीचीनानि यानि प्रवालाश्च नंत्रकिसल्यानि कुसुमानि च,
पुष्पाणि तैः करम्भितं मिश्रितं पुनश्छायया विशेषेण निवारित ९
आतपो येन स विनिवारिताऽत्तपतं पत्राणामतिसान्द्रत्वादिति भावः ।
अत एव दण्डेन मण्डितं शोभितं आतपत्रं छत्रमिव स्थितं एवंविधं
अशोकपादपमशोकवृक्षं स गौतमोऽन्न रक्षपीठे न्यभालयत् पदयति १२
स । ‘ननु ‘भल निरूपणे’ अस्य चौरादिकस्याकुद्धमीयत्वेनात्मनेपदि-
त्वांछडि न्यभालयतेति रूपं स्यात्, ततश्च कथमत्र परस्पैपदप्रयोग
इति’ चेत्-सत्यं, परमत्र निमालनं निमालः भावे घञ्, तमकरोदिति १५
विगृह्य ‘तत्करोति’ (ग०) प्यन्ताछडिति नोक्तदोषः । करम्भित-
मिति । ‘करम्भः कवरो मिश्र’ इति हैमः ॥ ३६ ॥

तत्र मूलमनुकृत्य काञ्चने रोरुचन्मणिविचित्रं आसने । १०
गौतमोऽनुपमदीसिद्धिपितं वीक्ष्य नाथमपुनान्विजे दद्याँ ॥ ३७ ॥

तत्राऽशोकवृक्षे यन्मूलं स्फूर्यपदेशादादनुकृत्य पश्चात् कृत्वा, स्थिते
इति शेषः । कद्यनस विकारः काञ्चनं तस्मिन्, सर्णमये इत्यर्थः ।
तथा रोरुचन्तो देदीप्यमाना ये मणयः स्फृष्टिकाद्याद्यैर्विचित्रे एवं- ११

विधे आसने सिंहासने स्थितं, तथा न विद्यते उपमा यस्याः साऽनु-
पमा ईदृशी या दीक्षिः प्रभा तथा दीपितं नाथं 'श्रीवीरप्रभुं वीक्ष्य
इदृशा गौतमो निजे सकीये दृशौ नेत्रे अपुनात् पवित्रयति स ।
'पूज् पवने'. कैयादिकोऽसाहस्रं । रोरुचंदिति । अतिशयेन पुनः
पुनर्वा रोचन्ते इति रोरुचन्तः यद्गुणनतस्य परस्मैपदित्वात् शंख,
इ 'नाभ्यस्तस्याचि' (७।३।८७) इति लघूपञ्चगुणनिषेधः । भाष्यमते
तु—'अतिशयेऽर्थे रुचातोर्यद् न भवति । मृशं शोभते रोचते
इत्यादौ यद् नेत्युक्तत्वात्, तन्मतेऽत्र पौनःपुन्ये एव यद्,' दीपित-
मिति णिजन्तादीप्यतेः क्तः ॥ ३७ ॥

अस विश्वपतिदर्शनासहाऽवाइमुखी यदभवन्मृपांमतिः ।

तद्भव सुमतिस्तु संमुखी कुत्र न प्रकृतिमेद ईक्ष्यते ॥ ३८ ॥

१२ विश्वपतेर्भगवतो दर्शनं न सहते इति विश्वपतिदर्शनासहा अत
एवाऽवाइ मुखं यस्याः साऽवाइमुखी अधोमुखी, विपरीतेत्यर्थः;
एवंविधा यदस्य गौतमस्य सृषामतिर्मिद्याद्बुद्धिरमवत् । तु इति विशेषे,
३५ तत् संमुखी अविपरीता सुमतिर्वभूव । युक्तोऽयमर्थः—प्रकृतेः समा-
वस्य मेदो मिन्तत्वं, परावर्त इति यावत् । कुत्र न ईक्ष्यते न दृश्यते ?
कारणावासौ प्रायस्सर्वेष्वेक्ष्यते इत्यर्थः । अतोऽस्यापि सृषामतेः सुमति-
१८ तथा भवनं युक्तमेवेति मावः । दर्शनेत्यादि । सहते इति सहा
पचाद्यू, न सहाऽसहा, दर्शनरत्याऽसहेति पष्ठीतसुरूपः ॥ ३८ ॥

इत्थं यद्यगृहे जनस्य पुरतो यां च प्रतिष्ठां द्वां

२१ चक्रं तां तु पदे पदे शिखिलयनागत्य नायान्तिके ।

तस्यां तन्महमा जटीकृत द्वाश्रयोपभोगावयो

२२ याणीं मागवर्तीं पिवन् प्रसुमुदे विद्वचमो गीवमः ॥ ३९ ॥

इत्थमनेनोक्तप्रकारेण अतिशयेन विद्वानिति विद्वत्तमो गौतमो
यज्ञगृहे जनस्य लोकस्य पुरतोऽप्रतो यां च हृदां प्रतिज्ञां 'निर्जित्य तं
यावदुपैषि गेहम्' (अत्र पृ० १२६) इत्यादिकां चक्रे पुरा कृतवान्, ३
तां पदे पदे शिथिलयन् शिथिलीकुर्वन् नाथस्य श्रीवीरप्रभोः अन्तिके
समीपे आगत्य तस्य भगवतो 'महसा तेजसा जडीकृत इव स्तम्भित
इव तस्यौ अवतिष्ठते स्म । तत आश्वर्यस्य उपमोगोऽनुभवनं तेन ६
अवश्योऽनात्मवशः, पराधीन इत्यर्थः । एवंविधो गौतमो भगवत इयं
भागवती तां भगवत्संबन्धिनीं वाणीं पिवन् प्रसुमुदे प्रकर्पेण हर्षितो,
वभूव । शिथिलयन्निति । 'तत्करोति' (ग०) इति णिजन्ताल्लृटः ९
शत् । प्रसुमुदे इति । मुदः कर्चरि लिद् । इदं शार्दूलविक्रीडित-
वृत्तं, तलङ्कणं तु 'सूर्याश्वैर्मसजस्ताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडित'-
निति ॥ ३९ ॥ १२

इति गौतमस्याऽनुतावेशवर्णनो नाम पष्टः सर्गः ॥ ६ ॥

इति अनुतस्याश्वर्यस्य आवेशः आटोपस्तस्य वर्णनं यस्मिन्स
तयोक्तः, शेषं सुगमम् ॥ १५

इति धीगौतमीयप्रकाशाख्यायां श्रीगौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां
पष्टः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ।

१८

अथ विज्ञाय भगवांततत्त्वीर्थप्रवृत्तये ।

महसेनवनं क्षेत्रमपापायाः पुरोऽन्तिके ॥ १ ॥

पूर्वाद्विकाले वैशाखवल्क्षीकादशीतिथेः ।

द्रव्यं च गौतमाभिरुपं भावं चरमदेहिताम् ॥ २ ॥ २८

‘इन्द्रभूते ! त्वमायाही’त्यस्य नामोक्तिपूर्वकम् ।
वाक्येनालापयामास द्विजं मधुरया गिरा ॥ ३ ॥

विभिर्विशेषकम् ।

३ विशुद्धविशानकरं प्रसार्य द्विजेन्द्रभूतिर्भवसिंघुपद्यात् ।
समुदृतो येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै विशलात्मजाय ॥ २ ॥

४ अथ तत्स्तदनन्तरं भगवान् ज्ञानादिमहातिशयसम्पन्नो वीरप्रमु-
सीर्थपृथ्वे चतुर्विधसङ्घपृथ्व्यर्थमपापायाः पुरः अपापासंज्ञिकानगर्या
अन्तिके समीपप्रदेशे वर्वमानं महसेनवनं महसेनाख्यं काननं क्षेत्रं
५ विज्ञाय ज्ञात्वा तथा वैशाखवल्क्षैकादशीतिथे: माधवमासोज्ज्वलैकाद-
शीकर्मवाट्ट्वाः पूर्वाङ्गसमये, एतावता वैशाखसु(शु)द्येकादशीदिन-
पूर्वेभागं च कालं विज्ञायेत्यर्थः । तथा गौतमोऽभिरुद्या नाम यस
१२ तच्छाविधं च द्रव्यं विज्ञाय तथा पुनश्चरमदेहितां चरमशरीरित्वं भावं
विज्ञाय, एतेन द्रव्यक्षेत्रकालमावचतुष्यस्यापि योग्यतां ज्ञात्वा ‘हे
इन्द्रभूते गौतम । त्वं आयाहि आगच्छ’ इतीत्यंभूतेन वाक्येन वचनेन
१५ अस्य गौतमस्य नामोक्तिपूर्वकमभिधानोचारणपूर्वकं मधुरया मनोज्ञया
मृष्टा चा गिरा वाण्या द्विजमिन्द्रभूत्याख्यं ब्राह्मणमालापयामास
संमापयामास । अथेति । अथशब्दोऽत्र मङ्गलार्थो निपातः, स च
१८ मृदग्नध्वनिवत् सरूपेणीव मङ्गलं, यद्वाऽधिकारार्थं आरम्भार्थो वा, न
त्वनन्तरार्थः; ‘ततः’ शब्दस्य वैयर्थ्यापर्वतः । ‘अथो अथ समुद्दये
मङ्गले संशयाऽरम्भाऽधिकारानन्तरेषु च’ इत्यनेकार्थः । भगवानिति ।
२१ ‘पृथर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-वैराग्ययोध्यैव पण्णा
भग इतीक्ष्णना’ ॥ १ ॥ इति पठर्धवादको भगशब्दोऽत्र ग्राहः, स
२४ विषतेऽसेति ‘तदस्याति’ (पारा१४) इति मतुपृ, ‘मादु०’

(८।२।१९) इति भर्तुर्मस्य त्रः । पुर इत्यादि । ‘पूः स्त्री पुरीनगर्वें
वा’ इत्यमरः । ‘अन्तिकं पुनः पार्श्वे’ इति हैमः । ‘पूर्वाङ्गेत्यादि’ । अहः
पूर्वः पूर्वाङ्गः ‘पूर्वापर’ (२।२।१) इत्यादिना समाप्ते । ‘राजाहः-३
सखिन्यः-’ (५।४।९।१) इति टच् । स चासौ कालश्च तस्मिन् ।
वैशाखेत्यादि । एकादशी चासौ तिथिश्च एकादशीतिथिः वलक्षा
चासौ एकादशीतिथिश्च वलक्षैकादशीतिथिः, वैशाखस्य वलक्षैकादशी-६
तिथिः वैशाखवलक्षैकादशीतिथिस्याः । ‘वलक्षो ध्वलोऽर्जुन’
इत्यमरः । ‘तिथिः पुनः कर्मवाटी’ इति हैमः । चरमेत्यादि ।
चरमश्चाऽसौ देहश्च चरमदेहः, सोऽस्ति अस्येति चरमदेही, तस्य ९
भावस्तुच, तां मत्वार्थिकेनन्ताङ्गावे तत्त्वं । आयाहीति । आङ्गपूर्वात्
याधातोलोऽ । नामेत्यादि । नाम उक्तिः कथनं सा पूर्वा यत्र कर्मणि
तत्, क्रियाविशेषणमिदं, ‘शेषाद्विभाषा’ (५।४।१५४) इति कप् । १३
‘आपोऽन्यतरस्याम्’ (७।४।१५), इति द्वसः । आलापयांमासेति ।
‘लप परिभाषणे’ हेतुमणिजन्तादसादाम् । मधुरस्तु प्रिये
स्वादा’ विति हैमः (अनेकार्थः) । प्रिये मनोज्ञे इत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ १५

अथ स किं कृतवानित्याह—

संस्तुतोऽपि चिरं लोको दुर्लक्षो जनसङ्कुले ।

मामेप कथमज्ञासीदित्यसौ प्रत्यचिन्त्यत् ॥ ४ ॥

असौ इन्द्रमूतिद्विज इत्यमुना प्रकारेण प्रत्यचिन्त्यत् प्रतिचिन्त-
यति स । इतीति किम् । यत्थिरं चिरकालं संस्तुतोऽपि परिचितोऽपि
लोको जनैर्मनुष्यादिभिः सङ्कुले संकीर्णपदेशो दुर्लक्षो दुःखेन लक्ष-२१
णीयो भवति ततोऽपरिचितं पृष्ठं ‘जिनो भां’ कथमज्ञासीत् । केन
प्रकारेण ज्ञातवानिति चिन्तनपरोऽभूदित्यर्थः । संस्तुत इत्यादि । २३

‘संस्तवः स्यात्परिचय’ इति । संकीर्णे तु ‘सद्गुलमाकुल’मिति च
हैमः ॥ ४ ॥

५ पुनः किमऽचिन्तयदित्याह—

नामवेचा च लोकानां वेत्री वाऽत्र न दृश्यते ।

तदहो कथमहासीनामवादेन मामयम् ? ॥ ५ ॥

६ च पुनरत्रास्तिन् स्याने लोकानां नामवेचा नामज्ञाता वेत्री वा
वेत्रधारी पुरुषोऽपि न दृश्यते न विलोक्यते, तद् तसादहो इति
आश्वर्ये, अयं जिनो मां नामवादेन नामोच्चारणेन कथमहासीत् हृत-
वान् ? कथनमन्तरेणैव मरीयं नामाऽनेन कुतो ज्ञातमिति गावः ।
वेत्री वेति । ‘वेत्रं वेत्रदण्डोऽसालीति मतुवर्थे’ इनि, ‘द्वौचारिकः
प्रतीहारो वेत्युत्सारकदण्डिन’ इति हैमः । वाशच्छोऽप्यर्थः । अहा-
१२ सीदिति । आइ पूर्वात् हैमः कर्तरि छइ । नामेत्यादि । वदनं
वादः, नामो वादो नामवादखेन ॥ ५ ॥

गौतमेत्यमिधानं मे विदितं वर्तते जने ।

१५ आहृयन्ते महान्तो हि प्रायो गोत्रामिधानतः ॥ ६ ॥

इन्द्रभूतीति मे नाम विरला यहुसंस्तुवाः ।

विजानन्ति, ततोऽप्य तद् कथमाख्यात्यसंस्तुतः ? ॥ ७ ॥

१० द्वाम्या संयन्यः ।

मे मम ‘गौतम’ इत्येवंपकारममिधानं नाम जने लोके विदितं
प्रसिद्धं वर्तते । कथमित्याह—हि यतो महान्तो महापुरुषः प्रायो
२१ याहुस्येन गोत्रस्य निजान्वयस्य यदमिधानं नामः तसादाहृयन्ते,

१ अप्य ‘कथमहाश्रीत्’ इति आशीमुद्दितपाठः उपतिपिरष्टदरणीयः ।

गोत्राभिधानमुच्चार्यं संमाप्यन्ते इत्यर्थः । जनैरिति शेषः । परन्तु मे मम 'इन्द्रभूतिः' इत्येवं नामाभिधानं वहु अत्यन्तं संस्तुताः परिचिताः विरलाः केऽपि नना विजानन्ति, ततो अथमसंस्तुतोऽपरिचितोऽजिनस्तदिन्द्रभूतीर्ति मे नाम कथमाख्याति कथं वक्ति ? अत्र गौतमेति-इन्द्रभूतीति च पदद्वयं निर्विभक्तिकमेवोपाचमस्ति, गवित्ययमाहेत्यादिवत्, ततो दोपशङ्का न कार्या । आहूयन्ते इति । आहू पूर्वाद् हेत्रः कर्मणि लहू । अभिधानत इति । 'ख्यव्लोपे-' (वा०) इति कर्मणि पञ्चमी । आख्यातीति । 'ख्या प्रकथने' अदादिः, आहू पूर्वादसात्कर्त्तरि लहू ॥ ६ ॥ ७ ॥

शक्तं पदमपि स्वार्थं सङ्केतप्रहणं विना ।

नाभिधत्ते ततः कोऽत्र सङ्केतं ग्राहयेत् यः ॥ ८ ॥

तु इति विशेषे, शक्तमपि अर्थप्रतिपादनशक्तियुक्तमपि पदं सङ्केतं सङ्केतप्रहणं विना स्वार्थं स्वकीयाभिधेयं नाभिधत्ते न प्रतिपादयति इति नियमोऽस्ति, ततो यो जनः सङ्केतं ग्राहयेत् सङ्केतप्रहणं कारयेत् सोऽत्रासिन् स्थाने को विधते, न कोऽपीत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्— यथा 'गामानय' इत्यादौ गोपदं यदपि स्वनिष्ठार्थप्रतिपादनसमर्थमस्ति । तथापि इयं साक्षादिमती व्यक्तिगोपदवाच्येति सङ्केतो येन प्राग् न गृहीतस्तस्मै स्वार्थं बोधयितुं न क्षमं तथाऽत्रापि अयं द्विज इन्द्रभूति- पदवाच्य इत्येवं भूतो यः सङ्केतस्तदप्रहणं विना शक्तमपि इन्द्रभूतिपदं स्वार्थं गमयितुं न समर्थम् । यदि पुनः कोऽपि सङ्केतप्रहणं कारयेत् तदा तु एतदर्थोपपतिः स्वात्, परमत्र तु यः सङ्केतं ग्राहयति स २१ कोऽपि न दृश्यते, ततः कथमनेन चातम्यमेवेन्द्रभूतिरस्तीति ? । शक्तमिति । शक्तिरस्त्वसिन्निति अर्शआदित्यादत् । शक्तिमदि- २२

त्यर्थः । अभिवचे इति । अभिपूर्वो धात् कथनार्थः, असात्कर्दरि
लह । ग्राहयेदिति । हेतुमण्णजन्ताद्वातेलिङ्ग ॥ ८ ॥

३ प्रत्यक्षीकृतमैश्वर्यं प्रागेव गृहनिर्गमात् ।

सर्वज्ञताऽप्यनेनाऽस्य वाक्येनाऽविरभूत्पुनः ॥ ९ ॥

अस्य वीरजिनस्य ऐश्वर्यमीधरत्वं मया गृहनिर्गमोऽभिसरणं
३ तस्मात् प्रागेव प्रथममेव प्रत्यक्षीकृतं साक्षान्निर्णीतं ततः पुनरनेन
‘इन्द्रभूते ! त्वमायाहि’ इत्येवंभूतेन वाक्येन अस्य सर्वज्ञता सर्वज्ञत्वं
४ मप्याविरभूत् प्रकटीवभूत्, सर्वज्ञं विनाऽन्यः कोऽप्येवं वर्कुं न
५ शकोतीत्यर्थः । ऐश्वर्यमिति । ईश्वरस्य भाव इत्यर्थं व्यद् ।
६ निर्गमादिति । ‘अन्यारादितरचें’ (२।३।२९) इत्यादिना ‘प्राग्’
७ योगे पञ्चमी । सर्वज्ञतेति । सर्वं वस्तुजातं जानातीति सर्वज्ञस्तस्य
८ भावस्तुता भावे तद् ॥ ९ ॥

किंवा सर्वासिसान्निध्यात् श्रियः पुंसो न दुर्लभाः ।

सर्वज्ञता तु दुःप्रापा या परब्रह्मनिष्ठिता ॥ १० ॥

३५ किंवा सर्वासिसान्निध्यात् देवसाहाय्यात् पुंसो मनुप्यस्य
१ श्रियो लक्ष्म्यो न दुर्लभा न दुःप्रापाः, सुलभा एवैत्यर्थः । परं सा
२ सर्वज्ञता तु दुःप्रापा दुर्लभा । सा का इत्याह—येति । या सर्वज्ञता
३ परब्रह्मणि परमात्मनि निष्ठिता निःशेषेण स्थिता, अस्तीति शेषः ।
४ अयमर्थः—एतस्य किल वप्रत्रयादिका या ऋद्धिर्दृश्यते सा तु देवसा-
५ न्निध्यादपि संभवति परंतु या परमात्मनि स्थिता सर्वज्ञता साऽस्मिन्
६ फर्थं संभवेदिति । सर्वासीत्यादि । सरित्यव्ययं स्वर्गीर्थकम्, सः
७ सर्वगे यसन्तीति सर्वासिनो देवाः, संनिधेर्मावः सान्निध्यं, सामीप्य-

मित्यर्थः, सर्वासिनां सान्निध्यं सर्वासिसान्निध्यं तस्मात् हेतौ पञ्चमी ।
येति । या-शब्दसंबन्धाद्बुद्धोऽपि सा इति शब्दोऽध्याहार्यः । परे-
त्यादि । परं च तद्वक्ष च परत्रक्ष, तत्र निष्ठिता । परशब्दः परान्-३
धानैर्थर्थवद्वचनः ॥ १० ॥

सर्वज्ञताप्रतीतिर्वा न वाक्येनाऽमुना भवेत् ।

नामानि तु समाख्याति पिशाचीसाधकोऽयतः ॥ ११ ॥ ९

वाऽथवा अमुनाऽनेन प्रागुक्तेन वाक्येन सर्वज्ञतायाः सर्वेज्ञत्वस्य
प्रतीतिः प्रत्ययो न भवेत् । कथमित्याह—यतो यस्मात्कारणात् नामानि
तु अभिधानानि तु पिशाचीसाधकोऽपि जनः समाख्याति कथयति, ९
एतावता एतन्नामोक्तिमात्रज्ञानेनाऽत्य सर्वज्ञत्वं न प्रत्येमीति भावः ।
पिशाचीत्यादि । पिशाचो देवविशेषः, तदधिष्ठिता विद्या पिशाची-
स्युच्यते, तस्याः साधको जापादिना निष्पादक इत्यर्थः ॥ ११ ॥ १२

वर्णचूडामणिग्रन्थाऽऽम्नाताऽपि च तथा वदेत् ।

सरशास्त्रप्रवीणोऽपि तथा तु म्ब्रुचकवित् ॥ १२ ॥

च पुनः वर्णचूडामणिर्नाम यो ग्रन्थः शास्त्रं तस्यामागा अम्यास- १५
फारकोऽपि जनस्तथा तेन प्रकारेण वदेत् कथयेत् यथा अनेन मदीयं
नाम प्रोक्तं, तथा सोऽपि नामान्यभिधते इत्यर्थः । तथा सरशास्त्रे
सरसाधनग्रन्थे प्रवीणोऽपि निषुणोऽपि जनस्तथा वदेत् तथा पुनः १६
स्तु म्ब्रुचकं ग्रन्थविशेषं वेतीति तु म्ब्रुचकवित् सोऽपि तथा वदेत् ।
एतावता सर्वज्ञत्वं विनैव एतेषां शास्त्राणां बलादपि अज्ञातस्य नामा-
भिधानं संभवतीति भावः । आम्नातेरि । 'आ अम्यासे' आइपूर्वा-
दसात्कर्चरि वृच् ॥ १२ ॥

इत्येवं विमृशत्यसिन् भगवान् पुनरब्रवीत् ।

मयि सर्वज्ञतायां त्वं मा धा गौतम ! संशयम् ॥ १३ ॥

३ असिन् गौतमे इत्येवं प्रागुक्तप्रकारेण विमृशति विचारयति सति भगवान् सर्वज्ञो वीरप्रभुः पुनः अब्रवीत् पुनरपि कथयामास । किमब्रवीदित्याह—हे गौतम । मयि मद्विषये सर्वज्ञतायां सर्वज्ञत्वे त्वं ४ संशयं सन्देहं मा धाः मा धारय, मा प्रामुहीति यावत् । विमृशति ‘मृश आमर्शने’ विपूर्वादसात्कर्चरि लटः शत् । अब्रवीदिति । ब्रूजः कर्चरि लह । मा धा हति । ‘हुधान् धारणादौ’ माडि उप-९ पदेऽसात् ‘माडि लह’ (३।३।१७५) इति लह ॥ १३ ॥

ननु कथं सर्वज्ञत्वप्रत्ययो मे स्यादित्याशङ्कयाह—

यदहं संशयच्छेदी सर्वज्ञं मां प्रतीहि तत् ।

अन्यथाऽनुपपत्त्येवार्थीपत्तिमवधारय ॥ १४ ॥

१२ हे गौतम ! यद्यसात्कारणादहं संशयच्छेदी सन्देहमेदकोऽसि, तत्रसाद्वेतोर्मां त्वं सर्वज्ञं प्रतीहि जानीहि । एतदेवोपपादयति—१५ अन्यथाऽन्येन प्रकारेणानुपपत्त्यैव उपपत्तेरभावेनैव त्वं अर्थीपत्ति-भर्थस्य प्राप्तिमवधारय विचारय । इदमत्र तात्पर्यम्—यतः सर्वज्ञ-त्वामावे संशयोच्छेदकत्वानुपपत्तिः स्यात्, तत एव संशयोच्छेदकत्वेन १८ सर्वज्ञत्वमायातमित्यवधारय । एतेनार्थीपत्तिममाणमुक्तमथ तत्सल्पं स्पष्टया दर्शयते, यथा ‘पीनो देवदत्तो दिवा नं, भुङ्गे’ इति हृष्टे श्रुते वा पीनत्वाऽन्यथानुपपत्त्या रात्रिमोजनमर्थीपत्त्या कल्प्यते २१ तथा ऽत्रापि सकलजनमनोगतसंशयच्छेदी वीरजिनः कमपि कर्णमूर्लः मागत्य चिन्तिगार्थनिषेदकं देत्वा नाराधयतीत्यत्र सकलजनमनोगतः २४ संशयच्छेदित्याऽन्यथानुपपत्त्या सर्वज्ञत्वमर्थीपत्त्या स्मायातमिति ।

संशयेत्यादि । संशयं छिनतीत्येवंशीलः संशयच्छेदी, छिदेणिनिः ।
अतीहीति । प्रतिपूर्वात् 'इण् गतौ' इत्यस्मालोहृ । अवधारयेति ।
‘शृङ् धारणे अवपूर्वादसाणिन् ॥ १४ ॥

३

त्वमापृच्छस वा मा वा वेद्धि ते संशयानपि ।
परस्परविरुद्धार्थवेदवाक्यसमुद्भवान् ॥ १५ ॥

पुनरपि प्रमुदीक्षिः—हे गौतम ! त्वमापृच्छस प्रश्नं कुरु वा मा वा ६
प्रच्छस मा प्रश्नं कुरु वा अहं परस्परेण विरुद्धोऽर्थो येषां तानि तथा-
विभानि यानि वेदवाक्यानि तेभ्यः समुद्भव उत्पत्तियेषां ते तान् ते
तव संशयान् सन्देहानपि वेद्धि जानामि वेदवाक्यानामन्योन्याविरुद्ध-९
मप्यर्थं अमादृ विरुद्धत्वेनाशङ्कमानस्य ते हृदि संशयाः समुत्पत्ताः
सन्ति तानप्यहं जाने, त्वं निजेच्छया प्रश्नं कुरु मा कुरु वेति भावः ।
आपृच्छसेति । प्रच्छेः कर्त्तरि लोहृ । 'ननु 'प्रच्छ जीप्सायाम्' इत्यस्य १२
परस्परदित्वात्क्यमत्रात्मनेपदप्रयोगः ? इति चेत्'—उच्यते—पदब्य-
वस्यायाम् 'आङ्गि नुपच्छज्ञोः' (वा०) इति स्मृतेणादपूर्वात् प्रच्छे-
रात्मनेपदविभानात्र दोषः ॥ १५ ॥

१५

अविरुद्धोऽपि मोहाचे विरुद्धोऽर्थोऽवभासते ।
यद्यो विरुद्धवर्णर्यद्वीक्ष्यते तिभिरामयात् ॥ १६ ॥

अर्थसंबन्धादेववाक्यपदमध्याहार्यः; ततोऽयमर्थः—हे गौतम । १६
वेदवाक्यानामविरुद्धोऽपि विरोधरहितोऽपि अर्थो मोहादज्ञानाचे तव
विरोधवान् अवभासते प्रतिमाति । एतदेवार्थान्तरन्यासेन द्रढ- २०

१ अत्र 'वेदवाक्ये समुद्भवान्' इति काशीमुद्रितपाठोऽयमप्यसः । २ अत्र
'यद्यो विरुद्धवर्णो' इति काशीमुद्रितपाठः स च दीक्षाहृतामप्यमतः प्रतिमाति ।

यति—यत् यस्मात् कारणात् तिभिरामयात् काचकामलरोगात् शङ्ख-
कम्बुर्विश्वद्वर्णवीक्ष्यते विलोक्यते, नरेणोति शेषः । एतावताः यस्य
३ नेत्रयोत्तिभिररोगोत्पत्तिर्जायते स नरः श्वेतवर्णमपि शहूं विरुद्धैः
पीतादिवर्णः पश्यतीत्यर्थः । मोहादिति । ‘मोहो भूचर्ढ्विपर्यया’ विति
हैमः (अनेकार्थः) । विपर्ययो विपरीतज्ञानमित्यर्थः । वीक्ष्यते इति ।
६ विपूर्वादीक्षते: कर्मणि लद् । तिभिरेत्यादि । तिभिरं चासादामयश्च
तिभिरामयस्तस्मात् हेतौ पञ्चमी । ‘तिभिरं तु दृष्टिरोगान्धकारयो’ रित्य-
नेकार्थः । ‘स्त्री रुग् रुजा चोपतापरोगाव्याधिगदामया’ इत्यमरः ॥१६॥

९ अथ वीरस्त्रावतदीयस्तान्तगतं संशयं प्रकटयतीत्याह—

तावदात्मनि सन्देहस्तव चेतसि चर्चते ।

जीवः किमस्ति वा नास्ति गुहुर्विमृशसीति यत् ॥१७॥

१२ हे गौतम ! तावत्प्रथमं तव चेतसि त्वदीये मनसि आत्मनि
सन्देहो जीवविपयकः संशयो वर्तते विद्यते । कथमित्याह—जीव
इत्यादि । यदसाद्वेतोः किं जीव आत्माऽस्ति विद्यते ? याऽध्यवा
१५ नास्ति न विद्यते इत्येवं मुहुर्यारं वारं त्वं विमृशसि विचारयसि,
ततोऽसामिग्रायते ते हुदि आत्मविपयकः सन्देहोऽस्तीत्यर्थः ।
चिमृशसीति । ‘मृग आमर्शने’ कर्हरि लद् ॥ १७ ॥

१८ नन्यं केन हेतुना जीवस्त नास्तित्वं चिन्तयति ? केन चास्ति-
त्वम् ? इत्यागद्वय तायग्रास्तित्वे हेतूनाह—

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन ग्रहीतुं नेत्र शक्यते ।

इन्द्रियग्राप्ताऽभावात्साक्षास्ति खपुत्पवत् ॥ १८ ॥

२० इन्द्रसाऽत्मनो लिङ्गं चिदमिन्द्रियं चक्षुरादि, ग्रहीतुं योग्यो ग्राहः,

इन्द्रियेण आद्य इन्द्रियग्राह्यः तस्य भाव इन्द्रियग्राह्यतां, तस्या अभाव इन्द्रियग्राह्यताऽभावस्तस्मात् चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यत्वाऽभावोदेष आत्मा प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षागिधानेन प्रमाणेन ग्रहीतुं ज्ञातुं न शक्यते, तस्माद्वेतोः ३ स्वपुष्पवदाकाशकुसुमवदसायात्मा नास्ति, एतावता चक्षुरादीन्द्रियमेव प्रत्यक्षप्रमाणमुच्यते, तेन च योऽग्राह्यः स नास्ति, यथा स्वपुष्पं तथा-उसावपीति । अयमत्र प्रयोगः—नास्त्यात्मा प्रत्यक्षेणात्यन्तमगृह्य-६ माणत्वात्, इह यदत्यन्ताप्रत्यक्षं तत्त्वोके नास्त्येव, यथा स्वपुष्पं यज्ञास्ति तत् प्रत्यक्षेण गृह्यते एव, यथा घट इत्यसौ व्यतिरेक-दृष्टान्तः । अण्वोऽपि ह्यप्रत्यक्षाः, किंतु घटादिकार्यतया परिणताः ९ सन्तसे प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति, न पुनरेवमात्मा कदाचिदपि प्रत्यक्ष-भावमुपगच्छति, अतोऽत्रात्यन्तविशेषणमिति सूत्रेऽपि इन्द्रियग्राह्यताभावादित्यतः प्राक् अत्यन्तमिति पदमनुकमपि वाच्यम् । ग्रत्य- १३ क्षेणेति । अक्षि अक्षि प्रति प्रत्यक्षं वीप्सायां यथार्थत्वेन समाप्तः । यद्वाऽक्षणामाभिमुख्यमित्यर्थे लक्षणेन ‘अभिप्रति’ (१३।८०) इति समाप्तः । ‘प्रतिपरसमनुभ्यऽक्षणः’ (सिद्धांतकौ०) इति समा- १५ सान्तष्टैः । वृचिविपयेऽशिशब्द इन्द्रियमात्रपरः न तु चक्षुर्मात्रपरः । प्रत्यक्षलक्षणं तु अग्रे मूले एव वक्ष्यति । प्रमाणेनेति । ‘प्रमाकरणं प्रमाण’मिति तत्त्वशणं, प्रमा यथार्थज्ञानं । प्रपूर्वान्माडः करणे स्युह । १६ ग्राहेति । ग्रहेरहेऽर्थे प्यत् ॥ १८ ॥

‘एवं च मन्यसे स्वं किमित्याह—

कृशानोर्द्धमविद्धिर्हं किमप्यस्य न लभ्यते ।

यत्सम्बन्धेन जीवोऽयमद्दणेऽप्यनुमीयते ॥ १९ ॥ २२

कृशानोर्वहेद्भूमवत् अस्यात्मनो लिङ्गं चिह्नं किमपि न लभ्यते न
प्राप्यते, यथा वहेश्चिह्नं घूमः साक्षात्त्वभ्यते तंयोऽस्य किमपि नेत्यर्थः ।
६ ननु लिङ्गस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—यदित्यादि । यस्य लिङ्गस्य
सम्बन्धेन लिङ्गिना सादृं सम्बन्धसमरणेन अहटोऽपि अनवलोकितो-
ऽपि अयं जीवोऽनुमीयते अनुमानगोचरः क्रियते, ताहां लिङ्गं
इकिमपि न लभ्यते इत्यर्थः । कृशानोरिति । ‘कृशानुः पावकोऽनलं’
इत्यमरः । लिङ्गमिति । ‘लिङ्गवते गम्यते ऽतीन्द्रियार्थोऽनेन’ इति
लिङ्गम् । अनुमीयते इति । अनुपूर्वान्मादः कर्मणि लहू ॥ १९ ॥
७ अस्तु वा चेतना लिङ्गं सम्बन्धस्त्वनयाऽस्य च ।
प्रत्यक्षो नेत्रितः क्षापि प्राक् ततः काऽनुमेयता ? ॥ २० ॥

वाऽथवा चेतना चेतन्यस्तरूपं लिङ्गं चिह्नमस्तु । आत्मानुमित्ता-
१२ विति शेषः । परं अस्यात्मनोऽनया चेतनया सह प्रत्यक्षः साक्षात्तूरः
सम्बन्धः संसर्गस्तु प्राक् पूर्वं क्षापि कुत्रापि प्रदेशो नेत्रितो न हृष्टं-
स्तरस्तसात्कारणादस्य काऽनुमेयता किमनुमेयत्वम् ! अनुमानविषय-
१५ त्वमिति यावत् । प्रत्यक्षपूर्वकं हि अनुमैनं प्रवर्चते इति भावः ।
अनयेति । सहार्थस्य गम्यमानत्वात् । ‘सहयुक्ते—’ (२।३।१९) इति
तृतीया, अस्य चेत्यत्र चः पादपूरणे । प्रत्यक्ष इति । प्रत्यक्षं ज्ञानमहि
१८ अस्येति मतुवर्येऽर्थाद्यन् । ईशित इति । ‘ईक्ष दर्शनादौ’ कर्मणि
क्षः । अनुमेयतेति । अनुमानं योग्योऽनुमीयतेऽसाविति वाऽनुमेयः ।

१ जीवग्राथदेतोः । २ उत्तिना=जीवेन । ३ अनु-देतुष्ट्रहणसुम्भव-
मवरणयोः पथान्मीयते परिच्छिष्ठते ऽप्योऽनेत्रेण अनुमानम्, प्रदण्डात्र हेतुष्ट्रपदोः
एम्बन्धस्य, तत्र प्रदृशं प्रख्यातामध्यम्, उत्र एवं तयोऽलिङ्गात्रिभिर्भावोऽ-
र्थादते ।

माढः ‘अचो यत्’ (३।१।२७) इति यत् । ‘ईद्यति’ (६।४।६५)
इति ईकारे गुणः । तस्य मावस्तवा ॥ २० ॥

धूमाम्योरपि सम्बन्धो गृहीतो हि महानसे । ३
पश्चात्सरणतः शैले धूमोऽमिं प्रतिपादयेत् ॥ २१ ॥

हीति निश्चये, धूमश्चाऽमिश्च धूमामी, तयोर्धूमवह्योरपि लिङ्ग-
लिङ्गिनोः सम्बन्धः कार्यकारणमावादिकः संसर्गो येन केनापि नरेण हैं
यदा पूर्वं महानसे पाकस्याने गृहीतः साक्षात्कारेणोपात्तो भवेत्
तदेव तं नरं प्रति पश्चात् कदापि सरणतः प्राग्गृहीतसम्बन्धसरणात्
शैले पर्वते धूमोऽमिं प्रतिपादयेत् ज्ञापयेत्, अप्नोः प्रतिपर्चि कुर्यादि-९
त्वर्यः । इदमत्र तात्पर्यम्—पूर्वं यत्र धूमस्त्र वह्यिरिति महानसादौ
वह्यधूमयोर्लिङ्गलिङ्गयोर्व्यासिं गृहीत्या तत उचरकालं क्वचित्पर्वतादौ
गगनावलम्बिनीं धूमलेखामयलोक्य प्राग्गृहीतं सम्बन्धमनुसरति, १२
तथ्यथा—‘यत्र यत्र धूमस्त्र तत्र प्रागहं वह्यमद्राक्षं, यथा महानसादौ,
धूमश्चात्र दृश्यते, तसाद्वह्यिनाऽपीह भवितव्यम्’ इत्येवं लिङ्गप्रहण-
सम्बन्धसरणान्यां तत्र प्रमाता वह्यमयगच्छति, न चैवमात्रमनो लिङ्गि-१५
नशेतनया लिङ्गेन सादै प्रत्यक्षेण सम्बन्धः सिद्धोऽस्ति, यतस्तत्सम्ब-
न्धमनुसरतः पुनस्तलिङ्गदर्शनाजीवे संप्रत्ययः स्यात्, किंच यदि
पुनर्जीवलिङ्गयोः प्रत्यक्षरूपा सम्बन्धसिद्धिः स्याचदा जीवस्यापि प्रत्यक्ष-१८
त्वापत्त्याऽनुमानवैयर्थ्यं स्याचत एव तत्सिद्धेरिति । एतेन अस्तु येति
धूमाम्योरिति च छोकद्वयं सममेव भावितं । महानस इति ।
‘पाकस्यानं महानस’मिति हेमः । प्रतिपादयेदिति । ‘पद गती’
प्रतिपूर्वः द्वेषुमण्डिजन्वादसालिङ्ग ॥ २१ ॥

२२

^१ प्रतिपत्ति=ज्ञानमित्यर्थः ।

सामान्यतोऽपरत्रापि यद्वा व्यास्या गृहीतया ।
 संसाधयेदनुमितिं क्वापि स्थानेऽनुमितिस्ते ॥ २२ ॥

३ यथा स्थानान्तरप्राप्तिं पुंसो गत्याऽवलोक्य च ।
 रवेदेशान्तरप्राप्त्या गतिं लोकोऽनुमानयेत् ॥ २३ ॥

४ तथा सामान्यतो व्याप्तिं जीव-चैतन्ययोः पुरा ।
 ५ गृहीता केन ?, तसान्नाऽनुमानं त्वस्य साधकम् ॥ २४ ॥

त्रिभिः संक्षिप्तः ।

१ यद्वाऽथवा सामान्यतः सामान्येन अपरत्रापि अनुमितिस्तादन्यत्रापि
 २ आपाततो गृहीतया व्याप्त्या साध्यसाधनयोर्नियतसाहचर्यलक्षणया क्वापि
 कसिक्षिप्ति अनुमितिस्तेऽनुमानुमिते स्थानेऽनुमितिं संसाधयेत् अनु-
 मितेः सिद्धिं कुर्यात्, जन इति शेषः । कथमित्याह—यथेत्यादि ।

३२ यथा लोको जनः पुंसो गत्या गमनेन पुरुषस्य स्थानान्तरप्राप्तिं विवि-
 क्षितस्थानादितरस्थानप्राप्तिमवलोक्य द्विष्टा, देशान्तरप्राप्त्या अपरस्थान-
 प्राप्त्या रवेः सूर्यस्य गतिं गमनमनुमानयेत् । रवेर्गतिमत्त्वासाधकमनुमानं
 ३५ कुर्यादित्यर्थः । 'बन्वेवं जीवस्यापि सिद्धिर्भविष्यति' इत्यत आह—
 तथेत्यादि । तथा तेन प्रकारेण पुरा पूर्वं सामान्यतो जीवचेतनयो-
 लिंक्रिलिङ्गयोर्व्याप्तिः केन दृष्टान्तेन गृहीता ?, न केनापीत्यर्थः ।

४० तसाद्देतोरनुमानमनुमानात्यं प्रमाणं तु अस्य जीवस्य साधकं नाति ।
 अनेन प्रमाणेन तु जीवसिद्धिर्न स्थादित्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—'यथा
 गतिमान् आदित्यो देशान्तरप्राप्तेऽदेवदत्त्वदिति सामान्यतो दृष्टादनु-
 ४१ मानादाऽदित्यगतिः सिद्ध्यति—'तथा सामान्यतो दृष्टादेवानुमान-

१ यत्राऽश्लयस्त्रे उत्तिष्ठित्वान्तोः एम्बन्पे, केनविद्येन उत्तिष्ठ एगाम्याद-
 प्रज्ञातो उत्तिष्ठी गम्यते तत् सामान्यतो दृष्टमनुमानम् ।

जीवोऽपि सिद्ध्यती'ति तु न वक्तव्यं, यतो हन्त देवदर्चे दृष्टान्तधर्मिणि
सामान्येन देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां प्रत्यक्षेणैव निश्चित्य सूर्येऽपि तां
त्रैव प्रमाता साधयतीति युक्तं, न चैवमत्र क्वचिदपि दृष्टान्ते जीव-१
सद्ग्रावेनाविनामूलः कोऽपि हेतुः प्रत्यक्षेणोपलक्ष्यते इति, अतो न
सामान्यतो दृष्टादप्यनुमानाचस्तिसद्विरिति । संसाधयेदिति । 'साध
संसिद्धी' संपूर्वात् णिजन्तादस्मालिङ्ग । अनुभित्सिते इति । अनुपूर्वा-६
स्सन्नन्तान्माडः कर्मणि कः । स्थानान्तरेत्यादि । अन्यत् स्थानं स्थाना-
न्तरं, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः [मयूरव्यंसकादयश्च (२।१।७२)]
एवमन्यो देशो देशान्तरभित्यपि बोध्यम् । अनुमानयेदिति । अनु-९
मानशब्दात् 'तत्करोति' (ग०) इत्यर्थं णियू, ततो लिङ्ग ॥२२-२३॥

न चागमगम्योऽपि जीव इति दर्शयति—

स्थादागमोऽप्यदृष्टार्थविषयो सामनिर्णयात् ।

१२

प्रमाणं, कः स चात्राऽऽसः प्रत्यक्षं योऽमुमीक्षते १ ॥ २५ ॥

हीति निश्चये, अदृष्टः साक्षादनुपलब्धो योऽर्थः स्वर्गनार-
कादिपदार्थः स विषयो गोचरो यस्य स तथामूल आगमोऽपि १५
शब्दोऽपि प्रमाणं स्थात् । कुत इत्याह—आसेत्यादि । आसो
यथार्थवक्ता, तस्य निर्णयो निश्चयस्तस्मात् आसेन निर्णीतस्वात् ।
यद्यप्येवं तर्हि अनेनैव जीवोऽपि सिद्ध्यतीत्याशद्व्याह—क इत्यादि । १६
यद्यप्येवं तथापि योऽमुमात्मानं प्रत्यक्षं साक्षाद्रूपमीक्षते पद्यति स
चाऽत्र अस्मिन् लोके आसः कोऽस्ति : न कोऽपीत्यर्थः । पृतावता न
एवंमूलमात्मां कमपि पद्यामो यस्याऽत्मा प्रत्यक्ष इति । तद्वचन-
इति । तद्वचनमागम इति प्रतिपदेमहीति भावः ॥ २५ ॥

२२

१ नियतसद्वारी इत्यर्थः ।

परस्परविरोधिन्यागमानामपि भारती ।

बृहस्पतिर्हि भूतातिरिक्तं जीवं न मन्यते ॥ २६ ॥

३ किंच, आगमानामपि भारती आगमसम्बन्धिनी अपि वाणी परस्पर-
विरोधिनी अन्योन्यविरुद्धा विद्यते । एतावता तीर्थिकानां सम्बन्धिनः
सर्वेऽप्यागमाः परस्परविरोधिनः स्तु, अतोऽपि संशय एवात्मनो
इयुक्तो न तु निश्चय इति भावः । अथ केषांचिदागमानामात्मनो
नास्तित्वप्रतिपादनेन, केषांचिच्च अस्तित्वप्रतिपादनेन यथा विरोधतंद्वावै
तथा सार्वपद्भूकैरस्पदर्शयति । बृहस्पतिरित्यादि । हि यतो बृह-
९ स्पतिर्बृहस्पतिनामा नास्तिकमतप्रवर्चकक्रियिः भूतेभ्यः पृथिव्यस्तेजोवा-
य्याकाशलक्षणेभ्यः पञ्चभ्योऽतिरिक्तं पृथग्भूतं जीवमात्मानं न मन्यते
नाश्चीकरोति । यत् स्तु भूतपञ्चकं तदेवात्मा न तु ततोऽन्य इति
१२ मन्यते इत्यर्थः । तथा च तदागमः—‘एतावानेव लोकोऽयं यावा-
निन्द्रियगोचरः । भद्रे । वृकपदं पश्य यद्वद[निति]न्त्यवहुश्रुताः’ (पद-
दर्शनसमुच्चय स्तो० ८१) ॥ इत्यादि । मन्यते इति । ‘मन ज्ञाने’
१५ दिवादिरसात्कर्त्तरि लट ॥ २६ ॥

विज्ञानधन एवेति वेदवाक्याग्नयोऽप्ययम् ।

संमाद्यते तथा हेष भू-जला-जनल-वायुतः ॥ २७ ॥

१६ विज्ञानधन उत्पद्य तान्येवानुविनशयति ।

प्रेत्येति परलोकेऽस्य कापि संज्ञा न लभ्यते ॥ २८ ॥—सुगमम् ।

“विज्ञानधन एवेते भ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनशयति न
२१ च प्रेत्यरुद्धाऽस्ती” त्येवं भूतं यद्वेदवाक्यं तस्याऽशयोऽभिपायोऽपि अर्थं

१ नालिलप्रतिपादनेन जीवविरोधः, अलिलप्रतिपादनेन जीवभाव इत्यर्थः ।

२ मुद्रितप्रमाणे अथगोठद्वूपः पाटः, य च विन्द्यः ।

जीवन्नस्तित्वलक्षणं एव संभाव्यते विचिन्त्यते, मयेति शेषः । कथ-
मेतत् ज्ञायते इत्यत् आह—तथा हीति । निदर्शनेऽव्ययमिदं,
तदेव दर्शयतीत्यर्थः, एष प्रत्यक्षविलोक्यमानो विज्ञानघनः पृथि- ३
व्यादिभूतानां विज्ञानलब्धसमुदायः पृथिव्यादिविज्ञानांशानां पिण्डरूप
आत्मेत्यर्थः । मूङ्जला-ङ्नल-वायुतः समुदितेभ्यः पृथिव्यतेजो-
वायवाकाशेभ्यो न तु व्यस्तेभ्यो, ज्ञानस्य तत्समुदायपरिणामाङ्गी- ६
कारादिति भावः । मध्यकारणेषु घातक्यादिषु मदभाव इव उत्पद्य
प्रादुर्भूय, न तु परभवादागत्य तत्स्तान्येव पृथिव्यादीनि भूतानि
विनाशमशुवानानि अनुलक्षीकृत्य स विज्ञानमात्ररूप आत्मा विनश्यति ९
प्रलयं याति । नस्यात्मवादिनामिवान्यमर्वं प्रयाति, अत एव ।
अत्येति । अस्य कोऽर्थः? परलोके लोकान्तरेऽस्यात्मनः कापि
संज्ञाऽभिरुद्या न लभ्यते न प्राप्यते, यत्सूर्वेभवे नरकादिजन्मनि १२
अभिघानमासीत्, तत्परभवे नास्ति, यदुताऽमुको नारको देवो मूल्या
इदानीं भनुन्यः संवृत्त इत्यादि । नारकादेः प्रागेव सर्वनाशं नष्ट्वा-
दिति भावः । एतेन सर्वथाऽस्यात्मनः समुत्पद्य विनष्ट्वात् भवाङ्गदा- १५
न्तरं कोऽपि यातीति तात्पर्यवृत्त्या निवेदितं, मूले विज्ञानघन एवेति
वाक्यैकदेशः समग्रवाक्योपलक्षको ज्ञेयः । संभाव्यते इति ।
संपूर्वाणिणजन्ताङ्गवतेः कर्मणि लट् । भूजलेत्यादि । भूश्च जलं १८
चानलक्ष्य वायुश्च एषां समाहारो भूजलानलवायु तस्मात् समाहारद्वन्द्व-
विधानात्समुदितानामेवैतेषां ग्रहणं, न तु व्यस्तानामिति भावः । इहा-
काशपदमनुकमपि संश्राद्यं, ‘पञ्चमूलमयो दात्मा’ इत्यादितच्छासोक्त- २१
त्वात् । तानीति । ‘लक्षणेत्यमूल-’ (१४१०) इत्यादिनाऽनोः
(अनु उपसर्गस्य) कर्मप्रदत्तीयसंज्ञात्, सद्योनो ‘कर्मप्रद-’ २३

(२१३।८) इत्यादिना द्वितीया, संज्ञेति 'गोत्रसंज्ञा नामदेवाऽऽ-
स्याऽहाऽभिख्याश्च नाम चेति हैमः ॥ २८ ॥

३ शून्यतामेव मन्वानाः सौगताः शून्यवादिनः ।
क्षणिकत्वात्सतोऽप्यन्ये बौद्धा जीवं न मन्वते ॥ २९ ॥

तथा सुगतो बुद्धो देवता एपामिति सौगता वौद्धदर्शनिनो मुनयः १
१ शून्यतां शून्यत्वमेव मन्वानाः स्त्रीकुर्वणाः सन्तः शून्यं निराकारं
बदन्तीति शून्यवादिनः, विद्यन्ते इति शेषः । ते हि सर्वं शून्यमे-
वास्ति, न तु किमपि तात्त्विकमिति सहदि अहधानाः सन्त एतदेव
२ जनानां पुरः प्रख्यपयन्तीति भावः । अयान्ये' केचित् बौद्धा बौद्धम-
तैकदेविनो विद्वांसः सतोऽपि विद्यनानस्यापि वस्तुनः क्षणिकत्वात्
क्षणमात्रावस्थायित्वात् जीवमात्मानं न मन्वते न स्त्रीकुर्वन्ति । ते हि
३ 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इति व्यासिमझीकृत्य सतोऽपि जीवस्य क्षणि-
कत्वात्तास्त्रित्वमेव प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । मन्वाना इति । 'मन ज्ञाने'
तानादिकाङ्गात्मकर्त्तरि लटः शानष् । सौगता इति । 'साऽत्म
४ 'देवता' (४।२।२४) इत्यण् । 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्ध' इत्यमरः ।
'शून्यवादी तु सौगत' इति हैमः । क्षणिकेति । क्षणिकस्य भावः
क्षणिकत्वं तत्त्वात्, 'द्वितीयक्षणैवृत्तिष्वंसपतियोगित्वं' क्षणिकत्वमिति
५ 'ददृक्षणम् । मन्वत इति । तानादिकान्मने कर्त्तरि लट् ॥ २९ ॥

१ एक एव पुरुषपदेष्य परन्तु तस्य दिप्याध्यतुविष्णा भिन्नमत्य आपान ।
२ तेषु पुरुषादिवानुदादिनः यदेव शून्यतावादिनः सर्वं क्षणिकं पन्वते । ३ शरण-
स्वतिद्वितीयदहने शूलिर्वस्य एवंविष्णो यो अंशो-नाशः तस्य प्रतिक्षेपिता
तद्वृद्धिः, वस्थामात्रस्य प्रतिक्षेपिता शः । तन्मते प्रथमक्षणे वस्तुन उत्पत्ति-
४ द्वितीयमहते तस्य नाशः ।

अस्तित्वपि जीवस्य संभवेद्वेदवाक्यतः ।

तथा हि जुहुयादग्निहोत्रं स्वर्गस्य कामुकः ॥ ३० ॥

वेदवाक्यतः श्रुतिवाक्यात् जीवस्य अस्तित्वं सद्गात्रोऽपि संभ-३
वेत् । क्यमित्याह—तथाहीति । तदेव दर्शयति—‘स्वर्गस्य कामु-
कोऽभिलापुको जनोऽग्निहोत्रं क्रियाविशेषं जुहुयात् यजेत्’ इति ।
असाद्वेदवाक्यात् जीवास्तित्वं संभवति, यतो जीवस्य सद्गावं विनाइ-४
स्वर्गप्राप्तिः कस्य भवेदिति भावः । जुहुयादिति । ‘हु दानादौ’
असाक्षर्चरि लिङ् ॥ ३० ॥

अश्वरीरं वसन्तं वा स्पृशतो न प्रियाऽप्रिये । ५

प्रियाऽप्रियपरित्यागः सशरीरस्य नास्ति हि ॥ ३१ ॥

तथा प्रियं चाप्रियं च प्रियाऽप्रिये रागद्वेषौ, नास्ति शरीरं यस्य
सोऽशरीरो निरुपाधिक आत्मा तं तथाभूतं वसन्तं तिष्ठन्तं प्रति न १२
स्पृशतो न स्पैर्यं कुरुतः । हीति निश्चये, सह शरीरेण वर्तते
इति सशरीरः, सकर्मक आत्मा तस्य प्रियाऽप्रिययो राग-द्वेषयोः
परित्यागो निर्मुक्तिर्गतिः । वाशब्दः पादपूरणे । एतावता ‘न है वै १४
सशरीरस्य प्रियप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न
स्पृशत्’ इति वेदवाक्यमपि आत्मनोऽस्तित्वप्रतिपादकमेव, अन्यथा-
ऽशरीरत्वेनावस्थानांभवादिति भावः ॥ ३१ ॥ १५

अकर्चा निर्गुणो मोक्षा चिद्रूपः पुरुषः स्मृतः ।

एवं विरुद्धार्थवादनिवदा आगमा यतः ॥ ३२ ॥

तथा करोतीति कर्चा न कर्चा अकर्चा॒क्रियाकारकः सथा निर्गता
गुणा रागादयो यस्मात् स निर्गुणो रागादिवर्जितस्तथा मुनक्ति १६

अनन्तसौरुह्यमिति भोक्ता परमानन्दसंपन्नस्तथा पुनश्चिद् ज्ञानमेव रूपं
स्वरूपं यस्य स चिद्रूपोऽनन्तज्ञानमयस्तथामूलः पुरुष आत्मा स्मृतः
इकथितः । एतेन 'अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूप' इत्यादि-
कापिलगमेऽपि जीवास्तित्वमेव प्रतिपाद्यते इत्यर्थः । एवं प्राणुक-
प्रकारेण यतो हेतोः आगमा आसोक्तयो विरुद्धो योऽसौ अर्थ-
वादोऽर्थकथनं तेन निवद्धा ग्रथिताः सन्ति, तस्मादागमानां परस्पर-
विरुद्धत्वान्नागमप्रमाणादप्यात्मसत्त्वसिद्धिरिति मावः ॥ ३२ ॥

उपमाप्रमाणगम्योऽप्यसौ न भवतीत्याह—

१ आत्मसादृश्यमाविग्रहत् प्रत्यक्षं न हि वस्तु तत् ।
यस्योपमाप्रमाणेन साधनीयोऽसुमान् भवेत् ॥ ३३ ॥

आत्मनो जीवस्य सादृश्यं तुल्यत्वमाविग्रहत् दध्यनं तत् प्रत्यक्षं
१२ प्रत्यक्षज्ञानविषयं वस्तु पदार्थो न हि अस्ति—यस्य वस्तुन उपमा-
प्रमाणेन सादृश्यप्रमाणेन असुमान् जीवः साधनीयो भवेत् साध्यः
स्यात् । इदमत्र तात्पर्यम्—उपमाप्रमाणमप्यस्य साधकं नास्ति, तत्र हि
१५ गोप्तव्यशो गवय इत्यादाविव सादृश्यमसत्रिकृष्टेऽर्थे चुदिसुत्पादयति ।
न चेदान्यः कथितिभुवनेऽप्यात्मसहशः पदार्थोऽस्ति, यद्दर्शनादात्मा-
नमयगच्छामः । 'ननु काल-ऽऽकाश-दिग्गऽऽद्यो जीवतुल्या विघ्नते
१० इति चेत्' । न । तेषामपि विवादाऽस्यदीर्घत्वेन तदंहियदत्त्वादिति ।
आविग्रहिति । आदपूर्वाह्वानः कर्त्तरि दटः शत्रृ । अगुमानिति ।
असवः प्राणाः यन्त्यसेति असुमान् 'जीवः सादृश्यमान् सत्त्व'मिति
हेतः ॥ ३३ ॥

१४ अर्थपतिराप्योऽपि नीको न भवतीत्याह—

उपपरिविनाऽऽत्मानं न भवेद्यस्य किं च तद् ।

यद्गुलात्साधयेदेनमर्थपत्त्या बुधो जनः ॥ ३४ ॥

च पुर्ण्यस्य वस्तुन आत्मानं विना जीवमन्तरेणोपपत्तिः समर्थनं ३
न मवेत्, तद्वस्तु किं वियत इति शेषः, यतो बुधो जनो विद्वज्ञनो
यद्गुलात् यत्य वस्तुनो वलात् एनमात्मानमर्थपत्त्याऽर्थापत्तिप्रमाणेन
साधयेत् । एतावत् न हि दृष्टः श्रुतो या कोऽप्यर्थं आत्मानमन्तरेण ६
नोपपत्तते, यद्गुलात् साधयाम इति भावः ॥ ३४ ॥

एवं प्रमाणाविषयो जीवो भावोऽस्ति वा न वा ।

संशेषे मनसीति से सर्वज्ञत्वात् वेद्यहम् ॥ ३५ ॥ ९

एवं प्रागुक्तनीत्या प्रमाणानां प्रत्यज्ञादीनामविषयोऽगोचरो जीव
आत्मा भावः सत्पदार्थोऽस्ति वा, न वा-नास्ति वा ? एतावता क्वप्या-
गमे एतत्सद्ग्रावप्रतिपादनादयमस्ति अथवा भावोपलभ्मकप्रमाणपञ्चकृ- १२
विषयतातीतलात् प्रतिषेधसाधकाभावाल्यपृष्ठप्रमाणविषय एवायं जीव
इत्यर्थः । हे गौडम, इत्यमुना प्रकारेण त्वं से निजे मनसि हृदये
संशेषे संदायं विद्यासि । ननु कुतो भवद्विरेवद् ज्ञातमित्याशङ्काह— १५
सर्वेत्यादि । सर्वं वस्तुजातं जानातीति सर्वज्ञः, तस्य भावस्तत्त्वं,
तत्त्वात्सर्वज्ञमावेन अहं वेभि, सर्वमिति त्वन्ननोगततंशयं जाना-
मीत्यर्थः । तुशब्दोऽवधारणे । संशेषे इति । संश्वर्वात् ‘शीङ् त्वम्’ २०
अलात्कर्त्तरि लह । इति पूर्वपद्धः ॥ ३५ ॥

श्रुत्वेति भगवद्वाचो गीतमोऽन्तश्चमत्कृतः ।

अहो ! सर्वज्ञ एषोऽस्तु दध्याविति विशुद्धर्थीः ॥ ३६ ॥

इतीत्यं भगवतो वीरजिनज्ञ वाचो वाण्डद्वाः शुत्वा निसन्ध्य २२

अन्तश्चिरमध्ये चमत्कृतश्चमत्कारं प्राप्तः, विस्तित इति यावत् ।
अत एव विशुद्धा निर्मला धीरुद्धिर्यस्य स तथाविधो गौतम इन्द्र-
३ मूर्तिः, अहो इति आश्रयेऽप्य वीरजिनः सर्वेजः सर्वपदार्थज्ञाता-
४ इत्तु मवतु इत्यमुना प्रकारेण दध्यौ चिन्तयामास । दध्याविति ।
'ध्यै चिन्तयाम' असात्कर्चरि लिट् ॥ ३६ ॥

५ पुनः किं दध्यावित्याह—

सन्दिग्धोऽर्थोऽप्रकाशयोऽयमासीच्छल्य इवोरसि ।

प्रतिष्ठालोपभीतेन मयाऽरुद्ध्यातो न कर्हिचित् ॥ ३७ ॥

६ अयं सन्दिग्धः सन्देहविषयीभूतोऽर्थं उरसि मदीये हृदि शल्य
इव अप्रकाशयोऽप्रकाशनीय आसीत् अभवत् । कथमित्याह—यतः
प्रतिष्ठाया गौरवस्य लोपो विनाशस्ताद्वीतेन दरितेन मया कर्हि-
१२ चित् कदापि न आद्यातो न निगदितः । एतावता यद्यमुं संग्रहं
विद्वल्यु प्रकटयिष्यामि तर्हि मे महत्त्वविधातो भविष्यतीत्यागङ्क्षया
अयमर्थः कदापि विदुयां पुरो न प्रकटीकृत इति भावः । प्रतिष्ठेति ।
१५ 'प्रतिष्ठा गौरवे स्थितावि'त्यनेकार्थः । मीतेनेति । 'दरितश्चकितो
भीत' इति हैमः ॥ ३७ ॥

यावद्विकल्पः सन्देहोऽवर्त्तिष्ठ मम मानसे ।

७८ तावद्विकल्पस्त्वधुनाऽभुनाऽर्यं प्रकटीकृतः ॥ ३८ ॥

मम मानसे मदीये चिते यावन्तो विकल्पः सङ्कल्पा यत्रेति
यावद्विकल्पः सन्देहः संग्रहोऽवर्त्तिष्ठ अवृत्तत्, तावन्तो विकल्पा
२१ यत्रेति तावद्विकल्पोऽर्यं सन्देहोऽधुना सम्प्रति अभुनाऽनेन धीरजि-

'अप्रदादयो य आसीत्' इति कामीयुद्धिष्ठाठयित्यः ।

नेन प्रकटीकृतः प्रादुष्कृतः । यथा मे हृदि सन्देहोऽभूत् तथैवानेन
साम्प्रतं स प्रकटितो न तु किञ्चिदन्यथेति भावः । अवर्त्तिष्ठेति ।
'कृतु वर्तने' असात्कर्त्तरि लङ् । तुः पादपूरणे ॥ ३८ ॥ ३

उपांशु स्थितमेतसान् हि किञ्चन विद्यते ।

ततः सर्वविदोऽसान्मे भवतात्तत्त्वनिर्णयः ॥ ३९ ॥

एतस्माद्वीरजिनादुपांशु प्रच्छन्नं स्थितं वर्तमानं किञ्चन किमपि ६
वस्तु न हि विद्यते न हि अस्ति । एतस्य सर्वमपि वस्तुजातं प्रत्यक्ष-
भेवांस्तीत्यर्थः । ततस्तसात्कारणात् असात्सर्वविदः सर्वज्ञानम् मम
तत्त्वनिर्णयः परमार्थनिश्चयो भवतात् सम्पद्यताम् । उपांश्चिति । ९
अव्ययगिदम् । 'रहस्यांशु' इति हैमः । किञ्चनेति । इदमप्यव्ययं ।
सर्वेत्यादि । सर्वं वेत्तीति सर्ववित् तसात्, किञ्चन्तः ॥ ३९ ॥

इति सङ्कल्पयन्तं तं विज्ञाय पुरुषोत्तमः । १२

आचष्ट पुनरप्येनं नयन्तु चरपक्षताम् ॥ ४० ॥

इत्येवं प्रागुक्तप्रकारेण सङ्कल्पयन्तं चिन्तयन्तं गौतमं विज्ञाय
शत्ता पुरुषोत्तमः पुरुषेष्ठो भगवान् एनं गौतममुचरपक्षतामुचरपक्ष- १५
भावं नयन् प्रापयन् पुनरपि भूयोऽपि आचष्ट अकथयत् । पुरुषे-
त्यादि । पुरुषेषु उत्तम इति विग्रहः । आचषेति । 'चकिइ-
व्यक्तार्थं वाचि' आदपूर्वादसात्कर्त्तरि लङ् ॥ ४० ॥ १६

किमाचेत्याह—

सुखदुःखे स्वसंवेद्ये प्रत्यक्षे भवतो यदि ।

शृणु गौतम! सन्देहविज्ञानं किं तथा न हि? ॥ ४१ ॥ २१

विज्ञानमय एवं हि प्रत्यक्षो जीव इप्यते ।

प्रमाणान्तरसाध्यंत्वमसत्यसिन् विचार्यते ॥ ४२ ॥ २२

हे गौतम ! हे इन्द्रभूते !, त्वं शृणु निशाभय—यदि भवतस्त्वं सर्सं-
 वेदे निजानुमवसिद्धे सुखदुःखे साग्रामाते प्रत्यक्षे प्रत्यक्षज्ञानविपय-
 ३ मृते विघ्ने तद्देहविज्ञानं संशयादिविज्ञानं तथा तेन प्रकारेण
 सर्सवेदनसिद्धम्, अत एव प्रत्यक्षं किं न हि अस्ति ? । अस्त्वेवे-
 त्यर्थः । ततः किमित्याह—विज्ञानेत्यादि । विज्ञानं सत्त्वप्रस्त्रेति
 ५ विज्ञानमय एवंविष एवायं जीव आत्माऽस्मामिः प्रत्यक्षं इष्ट्यते
 वाङ्छयते ननु विज्ञानातिरिक्तोऽन्यः कोऽपीत्यर्थः । तथाऽस्मिन्
 प्रत्यक्षेऽसति अविद्यमाने सति अन्यत्प्रमाणं प्रमाणान्तरमनुमानादि
 ९ तेन साध्यत्वं विचार्यन्ते विचिन्त्यते, सति प्रत्यक्षे यृथा प्रमाणान्तरोप-
 न्यास इत्यर्थः । यदाहुः मात्यव्याह्यातारः श्रीहेमद्वरयः पूज्याः—
 “गौतम ! भवतोऽपि प्रत्यक्ष एवायं जीवः किमन्येन प्रमाणान्तरोपन्या-
 १२ सेनः ‘ननु कोऽयं जीवो मम प्रत्यक्ष इति चेदु’च्यते—यदेतत् तवैव
 संशयादिविज्ञानं सर्सवेदनसिद्धं द्वदि स्फुरति स एव जीवः, संशया-
 दिज्ञानस्यैव तदनन्यत्वेन जीवत्वात् । यच्च प्रत्यक्षं तत्त्वं प्रमाणान्तरेण
 १५ साध्यं, यथा सद्वरीर एवात्मतंवेदनसिद्धाः सुखदुःखादयः । [ननु]
 ‘प्रत्यक्षसिद्धमपि सप्रामनगरं विश्वं शून्यवादिनं प्रति साध्यते एवेति
 चेत्’ नवं, निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् सप्रपत्ययवित्यादे-
 १९ सदुद्वयितवाप्कप्रमाणस्यैव तत्र निराकरणात् अत्र त्वात्मप्रादृप्रत्यये
 प्राप्कप्रमाणागमायादिति” (पितोपाय० षट्द्वयिं० गा० १५५४
 २० प० ८६६-७) ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

ईतश्चायं प्रत्यक्षो जीवः कुत इत्याह—

अहंप्रत्यय एकोऽपि क्रियां त्रैकालिकीं स्पृशन् ।

प्रत्यक्षो दृश्यते, जीवं विनाऽहंप्रत्ययः कुतः ? ॥ ४३ ॥

शरीर एव चेदेषः प्रत्ययो गृह्णते तदा ।

तदवस्थे शरीरेऽपि मृतस्य न भवेत्कथम् ? ॥ ४४ ॥

एकोऽपि अहंप्रत्ययस्त्रैकालिकीं मृत-भवद्-भावि-लक्षणकालब्रयो-
द्ध्रावां क्रियां स्पृशन् आश्रयन् प्रत्यक्षः साक्षात् दृश्यते विलोक्यते ।
ततः किमित्याह—जीवमित्यादि । जीवं विनाऽत्मानमन्तरेण अह-
मित्याकारकः प्रत्ययः कुतः कसाद्भवेत् ! जीवसद्भावे एव तत्संभवः १२
सात्, ततोऽस्त्वेव प्रत्यक्षो जीव इति । ‘नन्वयमहंप्रत्ययो देहे एवो-
त्यधते, न जीवे इत्याशद्भापूर्वं प्रतिविधानमाह—शरीर इत्यादि ।
चेद्यदि एषोऽहमित्याकारकः प्रत्ययः शरीरे एव गृह्णते स्त्रीक्रियते १३
तदा सा अवस्था यस्य तद् तदवस्थं, तस्मिन् तदवस्थे जीवितवत्
स्ति ते मृतस्य व्यापकस्य प्राणिनः शरीरेऽपि कथं न भवेत् । एतावता
जीवं विनाऽपि चेदहंप्रत्ययः साच्छिं हृ मृतशरीरेऽपि स युज्यते, १५
तस्माज्जीवविपयक एवायमित्यर्थः । यदाहुः पूज्याः—“[यतः]
‘कृतवानहं, करोम्यहं, ज्ञातवानहं, जानेऽहं, ज्ञास्याम्यहम्’ इत्यादि-
प्रकारेण योऽयं त्रैकालिकः कार्यव्यपदेशः, तद्विपये प्रयुज्यमानवया १६
तत्समुत्थो योऽयमहंप्रत्यय, एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवाऽयमात्मेति
प्रतिपद्यस । अयं हि अहंप्रत्ययो नानुमानिकः, अलैङ्गिकत्वात्; नाप्या-
गमादिप्रमाणसंभवः, तदनभिज्ञानां वालगोपालादीनामप्यन्तर्मुखतया-
इत्तमाहकत्वेन संविदितस्य तस्योत्पादात्, घटादौ चानुल्पादादिति । २२

१ इतः=वस्त्रमाणव्यरणात् । २ मरणारिथीहेमवद्दम्परिपादः ।

हे गौतम ! हे इन्द्रभूते ।, त्वं शृणु निशामय—यदि भवतद्वत् स्वसं-
 वेचे निजानुभवसिद्धे सुखदुःखे साताऽसाते प्रत्यक्षे प्रत्यक्षज्ञानविषय-
 ३ मूर्ते विद्येते तर्हि सन्देहविज्ञानं संशयादिविज्ञानं तथा तेन प्रकारेण
 स्वसंवेदनसिद्धं, अत एव प्रत्यक्षं किं न हि अस्ति ? । अस्त्येवे-
 त्यर्थः । ततः किमित्याह—विज्ञानेत्यादि । विज्ञानं सरूपमस्तेति
 ६ विज्ञानमय एवंविद्य एवायं जीव आत्माऽसामिः प्रत्यक्ष इप्यते
 वान्धव्यते नतु विज्ञानातिरिक्तोऽन्यः कोऽपीत्यर्थः । तथाऽस्मिन्
 प्रत्ययेऽसति अविद्यमाने सति अन्यतप्रमाणं प्रमाणान्तरमनुमानादि
 ९ तेन साध्यत्वं विचार्यते विचिन्त्यते, सति प्रत्यक्षे वृथा प्रमाणान्तरोप-
 न्यास इत्यर्थः । यदाहुः भाष्यब्याख्यातारः श्रीहेमद्भूरयः पूज्याः—
 “गौतम ! भवतोऽपि प्रत्यक्ष एवायं जीवः किमन्येन प्रमाणान्तरोपन्या-
 १२ सेनः ‘ननु कोऽयं जीवो मम प्रत्यक्ष इति चेदु’च्यते—यदेतत् तवैव
 संशयादिविज्ञानं स्वसंवेदनसिद्धं ह्यदि स्फुरति स एव जीवः, संशया-
 दिग्गानस्यैव तदनन्यत्वेन जीवत्वात् । यस्य प्रत्यक्षं तत्र प्रमाणान्तरेण
 १५ साध्यं, यथा स्वशरीर एवात्मसंवेदनसिद्धाः सुखदुःखादयः । [ननु]
 ‘प्रत्यक्षसिद्धमपि सप्राप्ननगरं विश्वं शून्यवादिनं प्रति साध्यते एवेति
 चेत्’ नेवं, निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् सप्तप्रत्ययविदित्यादे-
 १८ सुदुद्धावितवाधकप्रमाणस्यैव तत्र निराकरणात् अत्र त्वात्मग्राहकप्रलभे
 वाधकप्रमाणाभावादिति” (विशेषाव० वृहद्वृत्तिं० गा० १५५४
 २० पृ० ६६६-७) ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

१ तथा विशेषावश्यकमाभ्यम्—श्रीजिनमद्वग्निहस्ताधमणेविहितम्; तथाख्या-
 मलघारिधीहेमचन्द्रसूरिवैर्विहिता । काशी यशोविभयपन्यमालद्वारेण मुद्देश-
 पप्रमाणीतम् । २ जीवामिक्षत्वेन जीवक्षपत्वात् । ३ एवविहितः पाठ्ये-
 मुद्दितमन्ये लातिः ।

इतश्चायं प्रत्यक्षो जीवः कुत इत्याह—

अहंप्रत्यय एकोऽपि क्रियां त्रैकालिकीं स्पृशन् ।

प्रत्यक्षो दृश्यते, जीवं विनाऽहंप्रत्ययः कुतः ? ॥ ४३ ॥

शरीर एव चेदेषः प्रत्ययो गृह्णते तदा ।

तदवस्थे शरीरेऽपि मृतस्य न भवेत्कथम् ? ॥ ४४ ॥

एकोऽपि अहंप्रत्ययखैकालिकीं भूत-भवद्-भावि-लक्षणकालत्रयो-^६
द्वां क्रियां स्पृशन् आश्रयन् प्रत्यक्षः साक्षात् दृश्यते विलोक्यते ।
ततः किमित्याह—जीवमित्यादि । जीवं विनाऽत्मानमन्तरेण अह-
मित्याकारकः प्रत्ययः कुतः कस्माद्वेत् ? जीवसद्वावे एव तत्संभवः^७
स्यात्, ततोऽस्त्वेव प्रत्यक्षो जीव इति । ‘नन्वयमहंप्रत्ययो देहे एवो-
त्सघते, न जीवे इत्याचक्षापूर्वं प्रतिविधानमाह—शरीर इत्यादि ।
चेद्यदि एषोऽहमित्याकारकः प्रत्ययः शरीरे एव गृह्णते स्वीक्रियते^{१२}
तदा सा अवस्था यस्य तत् तदवस्थं, तस्मिन् तदवस्थे जीवितवत्
स्ति ते मृतस्य व्यापनस्य प्राणिनः शरीरेऽपि कथं न भवेत् । एतावता
जीवं विनाऽपि चेदहंप्रत्ययः स्वाच्छिं मृतशरीरेऽपि स युज्यते,^{१४}
तस्माज्जीवविषयक एवायमित्यर्थः । यदाहुः पूर्यौः—“[यतः]
‘कृतवानहं, करोम्यहं, ज्ञातवानहं, जानेऽहं, ज्ञास्याम्यहम्’ इत्यादि-
प्रकारेण योऽयं त्रैकालिकः कार्यव्यपदेशः, तद्विपये प्रयुज्यमानतया^{१५}
तत्समुत्थो योऽयमहंप्रत्यय, एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवाऽयमात्मेति
प्रतिपद्यस्य । अर्य हि अहंप्रत्ययो नानुमानिकः, अलैङ्गिकत्वात्; नाप्या-
गमादिप्रमाणसंगवः, तदनभिज्ञानां वालगोपालादीनामप्यन्तर्मुखतया-^{१६}
ऽस्मग्राहकत्वेन स्वसंविदितस्य तस्योत्पादात्, घटादौ चानुत्पादादिति । २२

१ इतः=यत्यमाणश्चरणात् । २ मलधारिधीदेमचन्द्रमैरिषादः ।

[किंच] हन्त कथमसति जीवेऽहमिति प्रतिपन्नं त्वया, 'विषयामावे विषयिणोऽनुरथानप्रसङ्गात्, 'देह एव अस्याहंप्रत्ययस्य विषय इति ३ चेन्न,' जीवविप्रमुक्तेऽपि देहे तदुत्पचिप्रसङ्गात् । सति च जीवविषये-ऽसिन्नहंप्रत्यये 'किमहमसि [वा]नासि' इति भवतः संशयः केन प्रकारेणोपजायते ? अहंप्रत्ययप्राप्त्यस्य जीवस्य सङ्घवादस्यहमिति ६ निश्चय एव युज्यते इति भावः । सति चासिन्नात्माऽस्तित्वसंशये कस्यायमहंप्रत्ययो युज्यते ? निर्मूलत्वेन तदनुरथानप्रसङ्गादिति" (विशेषा० दृह० ४० ६६७) ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

९ जीवामावे संशयविज्ञानमपि न युज्यते एवेति दर्शयन्नाह—
उत्पादः संशयस्यापि न स्याद् संशयिनं विना ।
विज्ञानाख्यो गुणो खेप विहाय गुणिनं कुतः ? ॥ ४५ ॥

१२ संशयोऽस्ति अस्येति संशयी संदेहवान् जीवस्तुं विना संशयस्यापि उत्पाद उत्पत्तिर्न स्यात् । कथमित्याह—चिज्ञानेत्यादि । हि यत एष संशयो विज्ञानमाख्या यस्य स विज्ञानाख्यो विज्ञाननामा गुणो-१५ ऽस्ति, स च गुणिनं विहाय गुणाश्रयं द्रव्यं मुक्त्वा कुतः संभवेत् ? अयमर्थः—यदि संशयी जीव एव आदौ नास्ति तर्हि अस्ति-नास्तीति संशयः कस्य मवतु ? संशयो हि विज्ञानाख्यो गुण एव । न च १८ गुणिनं विना गुणः संभवतीति ॥ ४५ ॥

नन्दन देह एव गुणस्तु इत्याशङ्क्य प्रतिविधानमाह—

मूर्च्छत्वाद्वा जडत्वाद्वा दंहोऽस्य न गुणी भवेत् ।

अमूर्च्छस्य गुणसानुरूपोऽमूर्तो गुणी यतः ॥ ४६ ॥

१२ मूर्च्छत्वान्मूर्च्छिमत्वात् वा पुनर्जडत्वादचेतनत्वादेदः शरीरोऽस्य

गुणी प्रत्यक्ष एव सादुणे प्रत्यक्षतां गते ।

रूपे गुणे हि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षः साद्वदो गुणी ॥ ४७ ॥

३ गुणे ज्ञानादौ प्रत्यक्षतां गते प्रत्यक्षभावं प्राप्ते सति गुणी गुणाऽऽध्रव
आत्मादिः प्रत्यक्ष एव लात् । केन दृष्टन्तेनेत्याह—रूपे इत्यादि ।
हि यतो रूपे हृष्णरक्तादिके गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी हृष्णरक्तादि-
४ लूपाश्रवो घटः प्रत्यक्षः स्वात् । अयमर्थः—प्रत्यक्ष एव गुणी जीव;
स्मृति-जिज्ञासा-चिकीर्णा-जिगमिषा-संयुक्तेत्यादिज्ञानविद्येयाणां उद्गु-
णानां सत्संबेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्, इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो
९ शब्दो यथा घटः, प्रत्यक्षगुणश्च जीवस्तस्यात्मत्यक्षोऽयं, यसाद् घटोऽपि
गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षः तद्वद्विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वाद्वा-
ल्पायि प्रत्यक्ष इति ॥ ४७ ॥

१२ अथोक्तार्थे दोपाविर्भावपूर्वं प्रतिविवानमाह—

शब्दे गुणे तु प्रत्यक्षे गुण्याकाशश्चित्या न किम् ? ।

मैवं मंस्याः, पौद्वलिकः शब्दो नाकाशगो गुणः ॥ ४८ ॥

१४ तुशब्दः प्रश्ने, ‘ननु शब्दे शब्दाभिधाने गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी
शब्दगुणाध्रय आकाशश्चित्या तेन प्रकारेण किं न शब्दत् प्रत्यक्षः?—
कथं नास्तीत्यर्थः?’ । एवममुना प्रकारेण हे गीतम् । त्वं माऽमंसा मा-
१८ मनस । कथमित्याद—पौद्वलिक इत्यादि । यतः शब्द आकाशगो
गुणो न भवति, किंतु पौद्वलिकः पुद्गलगुणोऽस्मि, पुद्गलश्च पत्व
एवेति न शब्दादेशोऽप्यत्र कार्यः । इदमेवादुः पूर्वाः—‘नन्व-
२१ नेकान्विकोऽयं, यज्ञाद्वासाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षोऽस्मि, न पुनराकाश-

१ महापर्वतीदेवतान्विताः विदेशो मृदुत्तमे

गुणी प्रत्यक्ष एव साद्गुणे प्रत्यक्षतां गते ।

रूपे गुणे हि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षः साद्गुणो गुणी ॥ ४७ ॥

३ गुणे ज्ञानादौ प्रत्यक्षतां गते प्रत्यक्षभावं प्राप्ते सति गुणी गुणाऽश्रव जात्मादिः प्रत्यक्ष एव स्यात् । केन हृष्टान्तेनेत्याह—रूपे इत्यादि । हि यतो रूपे कृष्णरक्तादिके गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी कृष्णरक्तादिः इरूपाश्रयो घटः प्रत्यक्षः स्यात् । अयमर्थः—प्रत्यक्ष एव गुणी जीवः स्मृति-जिज्ञासा-चिकीर्षा-जिगमिषा-संशयेत्यादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्, इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षोऽदृष्टो यथा घटः, प्रत्यक्षगुणश्च जीवस्तस्मात्प्रत्यक्षोऽयं, यस्माद् घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षः तद्विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वादात्मापि प्रत्यक्ष इति ॥ ४७ ॥

१२ अधोकथं दोषाविर्भावपूर्वं ग्रतिविधानमाह—

शब्दे गुणे तु प्रत्यक्षे गुण्याकाशस्तथा न किम् ? ।

मैवं मंस्याः, पौद्वलिकः शब्दो नाकाशगो गुणः ॥ ४८ ॥

१५ तुशब्दः प्रश्ने, ‘ननु शब्दे शब्दाभिष्ठाने गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी शब्दगुणाश्रय आकाशस्तथा तेन प्रकारेण किं न शब्दवत् प्रत्यक्षः ? कथं नास्तीत्यर्थः’ । एवमसुना प्रकारेण हे गीतम् । त्वं माऽर्मस्या मा १८ मनस्त । कथमित्याह—पौद्वलिक इत्यादि । यतः शब्द आकाशगो गुणो न भवति, किन्तु पौद्वलिकः पुद्वलगुणोऽस्मि, पुद्वलस्तु प्रत्यक्षं पूर्वेति न शब्दालेशोऽप्यत्र कार्यः । इदमेवाहुः पूज्याः—‘नन्व-१९ नेकान्तिकोऽयं, यस्मादाकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षोऽस्मि, न पुनराकाश-

१ मण्डपारिधीहेमचंद्रपूरिपादाः विशेषा० कृदृशो

गुणी प्रत्यक्ष एव सादृषे प्रत्यक्षतां गते ।

रूपे गुणे हि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षः सादृषो गुणी ॥ ४७ ॥

३ गुणे ज्ञानादौ प्रत्यक्षतां गते प्रत्यक्षभावं प्राप्ते सति गुणी गुणाऽऽशब्द
आत्मादिः प्रत्यक्ष एव सात् । केन वृष्टान्तेनेत्याह—रूपे इत्यादि ।
हि यतो रूपे कृष्णरक्षादिके गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी कृष्णरक्षादिः
४ रूपाश्रयो घटः प्रत्यक्षः सात् । अयमर्थः—प्रत्यक्ष एव गुणी जीव;
स्मृति-जिज्ञासा-विकीर्या-जिग्मिया-संशयेत्यादिज्ञानविशेषाणां वदु-
प्रानां सत्त्वेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्, इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षी
५ वृष्टो यथा घटः, प्रत्यक्षगुणश्च जीवस्त्वात्प्रत्यक्षोऽयं, यस्माद् घटोऽपि
गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षः तद्विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वादा-
लापि प्रत्यक्ष इति ॥ ४७ ॥

१२ अथोक्तार्थं दोपाविर्मावपूर्वं प्रतिविधानमाह—

शब्दे गुणे तु प्रत्यक्षे गुण्याकाशत्वथा न किम् ? ।

मैवं मंसाः, पौद्वलिकः शब्दो नाकाशगो गुणः ॥ ४८ ॥

१३ तु शब्दः प्रश्ने, ‘ननु शब्दे शब्दगुणिधाने गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी
शब्दगुणाश्रय आकाशत्वथा तेन प्रकारेण किं न शब्दत् प्रत्यक्षः
कथं नालीत्यर्थः’ । एवमसुना प्रकारेण हे गौतम ! त्वं माऽमंसा मा
१४ मनस्त । कथमित्याह—पौद्वलिक इत्यादि । यतः शब्द आकाशगो
गुणो न भवति, किंतु पौद्वलिकः पुद्वलगुणोऽस्मि, पुद्वलस्य प्रत्यक्ष
एवेति न शब्दसेत्योऽप्यव कार्यः । इदेवाहुः पूजयाः—‘नन्-
१५ नैकान्तिकोऽयं, यज्ञादुकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षोऽस्मि, न पुनरास्तु-

१ मत्पारिधीर्मचन्द्रसुरिदाः पितृया० मृदृतो

मिति । चक्षुपा गृह्णते इत्यर्थे विशेषे इत्यण् । निरित्यादि । निर्गत
उपाधिर्यसात्, 'खसमीपवर्चिनि खद्विधर्मसङ्कोमकत्व' मुषाधित्वमिति
३ तल्लक्षणम् ॥ ५० ॥

अधोपसज्जिह्वीर्षुराह—

इत्यात्मा देशतस्तेऽपि प्रत्यक्षः सर्वथा मम ।

६ अस्त्वलज्जानयुक्तत्वाद्भवतः संशयो यथा ॥ ५१ ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण हे गौतम ! स्वशरीरे तेऽपि तवापि देशते
एकदेशोन आत्मा प्रत्यक्षोऽस्ति, छब्दस्त्वेन भवतः सर्वस्यापि वस्तुनो
१ देशविप्रयत्वात् घटवद्, तथा हि—सर्वमपि स्वपरपर्यायतोऽनन्त-
पर्यायं वस्तु, छब्दस्त्वेन प्रत्यक्षेण साक्षात् तदेशमेव गृह्णाति, प्रत्यक्षेण
२ च प्रदीपादिप्रकाशोनेव देशतः प्रकाशिता अपि घटादयो व्यवहारतः
३ प्रत्यक्षा उच्यन्ते एव, सर्वात्मना च केवलिप्रत्यक्षमेव वस्तु प्रकाशयति,
४ अतो मम अस्त्वलज्जानयुक्तत्वादप्रतिहतानन्तज्ञानवस्त्वेन सर्वथा
५ सर्वात्मनाऽपि प्रत्यक्षोऽयमात्माऽस्ति यथा भवतस्त्वसम्बन्धी संशयः
६ सन्देहः । एतावताऽप्रतिहतानन्तज्ञानिनो मम यथाऽतीन्द्रियमपि
७ त्वस्त्रशयविज्ञानं प्रत्यक्षं तथा सर्वात्मनाऽयमात्माऽपि; इति प्रति-
८ पदस । अस्त्वलदित्यादि । अस्त्वलच तदू ज्ञानं च अस्त्वल-
९ ज्ञानं, एतेन युक्तोऽस्त्वलज्जानयुक्तस्त्रस्य भावस्तत्वं सलात् ॥ ५१ ॥

प्रद्युरीरे तर्हि कथमित्याह—

१० अनुमानाद्वृहाणैवमन्यदेहेऽपि चिन्मयम् ।

११ जीवमस्तीति प्रशृति-निशृतिभ्यां स्वरूप्यवत् ॥ ५२ ॥

१ यथा स्फटिके जपानुभुमरणता, अप्र जपानुभुमयमीपवर्तिनि स्फटिके
स-जपानुभुमृतिरच्चतपर्मसंकामरत्तम् उपाधिकमित्यवेः ।

यथा सदेहे एवमसुन्ना प्रकारेणान्यदेहे परशरीरेऽपि अनुमाना-
दनुमानप्रमाणेन चिन्मर्यं विज्ञानात्मकं जीवमात्मानं गृहणाऽवबृद्ध्यस्त-
कथमित्याह—अस्तीति । विज्ञानमय आत्मा विद्यते इति । अनु- ६
मानमेव सूचयन्नाह—प्रवृत्तीत्यादि । प्रवृत्ति-निवृत्तिभ्यां हेतुभ्यां
खलूपवत् यथा स्वरूपे इव इति । अयमर्थः—परशरीरेऽप्यत्ति जीवः
इष्टनिष्ठयोः प्रवृत्ति-निवृत्तिदर्शनात् यथा स्वरूपे स्वात्मनि, इह यत्रै- ७
इष्टनिष्ठयोः प्रवृत्ति-निवृत्ती दृश्येते तद् सात्मकं दृष्टं, यथा—
सशरीरं, तथा च प्रवृत्ति-निवृत्ती दृश्येते परशरीरेऽतस्तदपि सात्म-
कम् । आत्माभावे च इष्टनिष्ठप्रवृत्ति-निवृत्ती न भवतः यथा घटे, ९
इत्यनुमानात् परशरीरेऽप्यात्मसिद्धिरिति । चिन्मयमिति । चिद्
ज्ञानमेव स्वरूपमस्येति चिन्मयस्तं स्वरूपवदिति स्वरूपे इवेत्यर्थे
स्रासम्यन्ताद्वितिः ॥ ५२ ॥ १२

ननु लिङ्गलिङ्गिनोः पूर्वं सम्बन्धग्रहणात् लिङ्गाज्जीवोऽनुमीयते ॥
इत्याशङ्क्य तत्पतिविषयानमाह—

अगृहीत्वाऽपि सम्बन्धं पूर्वं लिङ्गेन लिङ्गिनः । १५

समं विधीयते चानुमानं लिङ्गेन तद्यथा ॥ ५३ ॥

हसनै रोदनैर्गनैर्भूतो गत्रेऽनुमीयते ।

अतो नैकान्तिकं पूर्वं सम्बन्धग्रहणं स्मृतम् ॥ ५४ ॥ १६

पूर्वं प्रथमं लिङ्गेन समं चिछेन सादृं लिङ्गिनसम्बन्धं अगृहीत्वाऽपि
अपरिगृह्णाऽपि लिङ्गेन अनुमानं विधीयते कियते । कथमित्याह—
तद् ददर्शते—यतो हसनैर्हस्यै रोदनैरसुमोचनैर्गनैर्गनैति ॥ २१
मिथुं हेतुभिर्गत्रे धरीरे भूतो देवनिदेषोऽनुमीयतेऽत्रोऽसाद्वत्रोः
पूर्वं लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धग्रहणमनैकान्तिकमनिधिर्वं स्मृतं कथितम् । २२

इदमत्र तात्पर्यम्—‘यतो यथा शशकेन समं शृङ्गं केनाऽपि न प्रागृहीतं
तथा न खलु लिङ्गैः कैश्चिदपि समं लिङ्गी जीवः कापि केनापि पुरा-
उपाचः ततो न लिङ्गादनुमेयोऽसौ जीव इति यन्मन्यसे त्वं’—तत्रोच्यते-
सोऽनेकान्तः, यस्मालिङ्गैः सममदृष्टपूर्वोऽपि भूतो देवविशेषः शरीरे-
हसन्-गान-रोदन-करचरणभूविक्षेपादिभूतलिङ्गदर्शनादनुमीयते इति-
बालानामपि प्रतीतमेवेति । आदपद्ये चशब्दः पादपूरणे । लिङ्गेनेति ।
हेतौ करणे वा तृतीया ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

अनुमानान्तरमप्यात्मसाधकमाह—

आदिमन्त्रियताकारा जातौ जातौ यतस्तनुः ।

कुलाल इव कुम्भस्य तत्कर्ता कोऽपि कल्प्यताम् ॥५५॥

यतो यसाद्देतोर्गोमहिषादिमेदमित्रायां जातौ जातौ तनुः शरीरम्
आदिमन्त्रियताकारा आदियुक्ता प्रतिनियताकारवती च दृश्यते । ततस्त-
स्यास्तनोः कर्ता निष्पादकः कोऽपि पदार्थः कल्प्यतां समर्थ्यताम् । कस्य
क इव ?—कुम्भस्य घटस्य कुलालः कुम्भकार इव । यथा कुम्भस्या-
दिमन्त्रियताकारत्वात्कर्ता कुलालो विद्यते तथेत्यर्थः, यथा तनोः कर्ता
स जीव एवेति । अयमर्थः—देहः सकर्तृकः, आदिमत्त्वे सति प्रति-
नियताकारत्वात्, घटवत् । इह यद्वस्तु आदिमत्प्रतिनियताकारं तत्
सकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यत्सुनरकर्तृकं तदादिमत् प्रतिनियताकार-
मपि न भवति, यथाऽप्रविकारः, यथाऽदिमत्प्रतिनियताकारो देह-
स्तः सोऽपि सकर्तृकः, यथा तस्य कर्ता स जीवः, प्रतिनियता-

१ अत्र ‘जातौ यतस्तनुस्तः’ इति पाणीसुद्धितपाठोऽस्तरणः, उन्दोमत्तदोप-
दुर्लाल शारस्यविरहात् ।

कारत्वं भेर्वादीनामप्यस्ति, न च तेषां कश्चित्कर्चा इति तैरनैकान्तिको
हेतुः सात्, अतोऽत्राऽऽदिमत्वविशेषणमुपौचमिति । आदीत्यादि ।
आदिर्विद्यते अस्याः साऽऽदिमती, नियतो निश्चित आकारो यस्याः ३
सा नियताकारा, आदिमती चासौ नियताकारा चेति कर्मधार्ये
पुंवद्वावः । तनुशब्दः शरीरवाची नित्यस्तीलिङ्गः ॥ ५५ ॥

ननु देहस्य कर्चा तु ईश्वरोऽस्ति, न तु जीवस्तो नैतदनुमान-६
मात्मसाधकमित्याशङ्क्याह—

ईश्वरो निर्गुणो यो वा न स कर्तृत्वमर्हति ।

कृतकृत्यत्वसाचिन्यान्निर्विकल्पत्वतोऽपि वा ॥ ५६ ॥ ९

हे गौतम ! ईश्वरो द्विविधः—निर्गुणः सगुणश्च । तत्र यो वा
निर्गुणो रागद्वेषादिगुणवर्जित ईश्वरः परमात्माऽस्ति सं तु कर्तृत्वं
कर्तृभावं नार्हति, न योग्यो भवति । कृत इत्याह—कृतेत्यादि । १२
कृतानि कृत्यानि येन सं कृतकृत्यो निष्पादितपयोजनस्तस्य भावः कृत-
कृत्यत्वं, सचिवस्य भावः साचिव्यं साहाय्यं, कृतकृत्यत्वस्य साचिव्यं
कृतकृत्यत्वसाचिन्यं तसात्, कृतार्थत्वसाहाय्यात् वा । पुनर्निर्विकल्प-१५
त्वतो विकल्परहितत्वादपि । एतावता नितिलकर्मक्षयान्मोक्षं प्राप्य
कृतकृत्यभूतोऽत एव विकल्पवर्जितो य ईश्वरस्तस्य पुनः कर्मकर्तृत्वम-
मुक्तमिति भावः । निर्गुण इति । निर्गता गुणा यस्मात्सः, निष्कान्तो १८
गुणीभ्य इति या ‘निरादयः कान्त्याद्येयं’ (वा०) इति पञ्चम्यन्तेन
समाप्तः । ‘सचिवः सहायेऽमात्ये’ इति हेमः (अनेकार्थः) ॥ ५६ ॥ २०

१ व्यभिचारपरपर्यायोऽनेकान्तनामाऽसी हेतुभावः, लभण-भेदाभ्यां तस्य
त्रैविष्यम्, अथ तु साधारणो व्यभिचारः, तङ्क्षयन्वा साध्यवदन्यशृतिःहेतुः । ॥

२ गेर्वादीना नासि आदिमता, उपां कर्यचित् धार्यतत्त्वात्-नित्यत्वात् ।

ईश्वरः सगुणो यस्तु त्वदुक्ष्या कर्तृतां गतः ।

नामान्तरेण तं जीवं विद्धि गौतम ! बुद्धिरः ॥ ५७ ॥

३ हे गौतम ! यस्तु त्वदुक्ष्या तव वचनेन कर्तृतां गतः कर्तृभावे
प्राप्तः, अत एव सह गुणै रागद्वेषादिभिर्वर्हते इति सगुण ईश्वरोऽस्मि
तं बुद्धितो बुद्ध्या नामान्तरेण अपरनान्ना जीवं विद्धि जानीहि । यं
४ सगुणस्मीश्वरं त्वं कर्तृत्वेनाङ्गीकरोपि स एवासाभिर्जीव उच्यते, अतो
अस्माकमिष्टसिद्धिरेवेति भावः ॥ ५७ ॥

अथोक्तानुमाने दोपमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

५ दृष्टान्ते मूर्च्छां वीक्ष्य दोपमात्मनि मा ग्रहीः ।

अदृष्टदेहसंयोगान्मूर्च्छत्वं तस्य निधितम् ॥ ५८ ॥

६ हे गौतम ! त्वं दृष्टान्ते कुलाललक्षणे मूर्च्छां मूर्च्छिमत्त्वं वीक्ष्य

७ दृष्ट्वा आत्मनि जीवे दोपं मूर्च्छत्वाभावलक्षणं मा ग्रहीः मा गृहण ।

कथमित्याह—अदृष्टेत्यादि । अदृष्टं शुभाऽशुभं कर्म, देहः शरीरं,

तयोर्जीवेन सह यः संयोगः सम्बन्धस्तसात् तस्य संसारिणो जीवस्य

१५ मूर्च्छत्वं मूर्च्छिमत्त्वं निधितमसन्दिग्धं, विधते इति शेषः । तथा च

सति न तद्वोपसंभवः । अयमर्थः—‘घटस्य कर्चा कुलालो मूर्च्छिमान्

१८ सद्वातरुपोऽनित्यादिस्वभावश्च वृष्ट इति, अतो जीवोऽप्येवंविध एव

सिद्ध्यति, एतद्विपरीतश्च किलाऽस्माकं साधयितुमिष्ट इत्येवं साध्य-

विरुद्धसाधकत्वात् दुष्टोऽयं देतु’रिति त्वं मन्यसे—तदेतदयुक्तं, यतः

२१ सद्वु संसारिणो जीवस्य साधयितुमिष्टस्याऽदोपोऽयं, स हि अष्टकर्म-

पुद्गलसद्वातोपगृहत्वात् शरीरत्वात् कथंचित् मूर्च्छत्वादिर्घर्मयुक्त एवेति

२२ न दोपलेयोऽपि शक्य इति ॥ ५८ ॥

१ ‘वृष्टेऽदेहसंयोगात्’ इति कार्यानुदितः पाठो न मनोरमः ।

ननु मूर्तोऽयं जीवस्तर्हि॒ घटादिवत्॒ साक्षात्किमिति॑ न दृश्यते॑ ३
इत्याशङ्कयाह—

अदृष्टत्वेऽपि किं चायोमूर्तत्वं नाभिलभ्यते॑ ? । ३

इत्थं चानुमितिग्राहो जीवः सद्ग्रावमशुते॑ ॥ ५९ ॥

चायोः पवनस्य अदृष्टत्वेऽपि साक्षादनुपलब्धत्वेऽपि किं स्वया॑
मूर्तत्वं नाभिलभ्यते न स्मीक्रियते॑ ? एतावता॑ साक्षादनुपलभ्यमानोऽपि॑ ४
वायुस्त्वया॑ मूर्तत्वेन स्मीक्रियते॑ एव, एवं चामुं जीवमपि स्मीकुरु इति॑
भावः । इत्थं च बद्ध्यमाणप्रकारेणापि अनुमित्याऽनुमानेन ग्राहो॑
जीवः सद्ग्रावमस्तित्वमशुते॑ प्राप्नोति॑ । अभिलभ्यते॑ इति॑ । अभिपूर्वात्॑
'लप कान्तौ' इत्यसात्कर्मणि लद् । अशुते॑ इति॑ । 'अशूहृ॒ वशासौ'॑
असात्कर्चरि लद् ॥ ५९ ॥

कथमित्याह—

अक्षाणां परतत्वात्करणत्वं विनिश्चितम् ।

ततोऽधिष्ठायकं सौम्य ! विना॑ जीवं कमिच्छसि॑ ? ॥ ६० ॥

हे गौतम ! अक्षाणामिन्द्रियाणां परतत्वात्पराधीनत्वात्करणत्वं॑ १५
साधनत्वं विनिश्चितं, निश्चयेन वर्तते॑ इत्यर्थः । ततस्तसात्॑ करणत्वात्॑
जीवं विना॑ अधिष्ठायकमिन्द्रियाणामधिष्ठातारं त्वं कमिच्छसि॑ ? एतावता॑
जीव एव तैषामधिष्ठाताऽस्तीत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम् ; अयमत्र॑
प्रयोगः—इन्द्रियाणां, अस्ति अधिष्ठाता, करणत्वात्, यथा चक्र-चीवर-॑
गृह-सूत्र-दण्डानां कुलालः, यच्च निरधिष्ठातृकं तत्करणमपि न भवति,
यथाऽकाशं, यश्चेन्द्रियाणामधिष्ठाता॑ स जीव इति॑ ॥ ६० ॥ २१

सन्दंशवदुपादानमक्षग्रामं प्रतीहि भोः ।

कर्मारवदुपादाता॑ विपयग्रहणेऽस्त्यगम् ॥ ६१ ॥ २२

‘प्रदणेऽस्त्वयम्’ इति॑ काशीमुद्रितः पाठः । २२

१ तथा भो गौतम ! अक्षग्राममिन्द्रियसमूहमुपादानं प्रतीहि जानीहि,
 उपादीयते गृष्णते वस्तु अनेनेति उपादानं, वस्तुप्रहणसाधनमित्यर्थः ।
 ३ किंवत् ? सन्दंशावत्, यथा सन्दंशमुपादानं जानासि तथेत्यर्थः । अथ
 विपया उपादेयाः शब्द-रूपादयखेपां ग्रहणे स्त्रीकारे उपादाताऽव्यं
 जीवोऽस्ति, उपादेचे इति उपादाता वस्तुप्राहक इत्यर्थः । किंवत् ?
 ५ इकर्मारवत्, यथा कर्मारो लोहकारो लोहादिभृहणे उपादाताऽस्ति
 तथेत्यर्थः । अयमत्र भावाथः - यत्र खलु आदानाऽदेयभावस्त्राऽ-
 वश्यमादाता समस्ति, यथा लोके सन्दंशकलोहानां लोहकारः, विद्यते
 ९ चेन्द्रियविपयाणमादानाऽदेयभावः, अतसेषामप्यस्याऽदाता स
 च जीवः, यत्र त्वादाता नास्ति तत्राऽदानादेयभावोऽपि न विद्यते,
 यथाऽकाशे इति । सन्दंशेति । ‘सन्दंशः स्यात्कङ्कमुख’ इति
 १२ हैमः । ‘सांडसी’ इति लोकप्रसिद्धो लोहकाराद्युपकरणविशेषोऽयम् ।
 उपादानमिति । उपाइपूर्वाद्याः करणे च्युह । कर्मारेति ।
 ‘ज्योकारः कर्मारो लोहकार’ इति हैमः । उपादानेति । कर्त्तरि
 १५ तृत् ॥ ६१ ॥

तनोः सद्वातरूपत्वात् भासी जीवोऽनुमीयते ।

भोग्यत्वाच्च शरीरस्य भोक्ता जीवोऽनुमीयते ॥ ६२ ॥

१० तथा तनोः शरीरस्य सद्वातरूपत्वात् सामी तत्त्वाथो जीव
 आत्माऽनुमीयतेऽनुमानगोचरः क्रियते, तदथा—देहादीनां, विद्यते
 सामी, सद्वातरूपत्वात् । उपलक्षणं द्वेतत्—तेन मूर्त्तिमत्वादैन्द्रिय-
 २१ कस्त्वाच्छाक्षुपत्वादित्यादयोऽपि अनैकान्तिकत्वपरिहारार्थं संमवद्विहित-
 विशेषणा द्वेततो योज्याः । यथा गृहादीनां सूक्ष्मपारादय इति
 २५ दृष्टान्तः । यत्युनरसामिकं तत्सद्वातादिरूपमपि न भवति; यथा

गंगनकुसुमं, सद्वातादिरूपं च देहादिकं तस्माद्विमानस्त्रामिकमिति ।
तथा पुनः शरीरस्य भोग्यत्वात् भोक्ता जीवोऽनुभीयते, तद्यथा देहा-
दीनां भोक्ता, समस्तभोग्यत्वात्, यथा शाल्यादिभक्तवस्थादीनां नरः, ३
यस्य च भोक्ता नाहि तद्वेग्यमपि न भवति यथा खरविषाणं,
भोग्यं च शरीरादिकं ततो विद्यमानभोक्तृकमिति ॥ ६२ ॥

अथ क्लोकत्रयेणापरमप्यात्मसाधकमनुमानमाह—

६

विहाय वस्तुनोऽस्तित्वं न सात्संशयसम्भवः ।

सरोर्हि स्थाणुपुंसोः स्यादरण्ये संशयोद्भवः ॥ ६३ ॥

हे गौतम ! वस्तुनः पदार्थस्याऽस्तित्वं सद्वावं विहाय त्यक्त्वा ९
संशयसंभव संशयस्य उत्पत्तिर्न स्यात्, वस्तुसद्वावे एव संशयोत्पत्ति-
रिति भावः । तथा हि—हि यतोऽवरण्येऽटव्यां सतोर्विद्यमानयोः
स्थाणुपुंसोः शङ्कुपुरुपयोः संशयस्य उद्भवः प्रादुर्भावः स्यात् । विद्यमान- १२
स्थाणुपुरुपविषयक एव संशयोऽरण्ये जनानां समुत्पद्यते, नाविद्यमान-
वस्तुविषयक इति भावः । विहायेति । विनाऽर्थेऽव्ययमिदम्, ननु
त्यवन्तमेव कर्तृत्वासंभवात् । तथा च श्रीहर्षप्रयोगः—‘विहाय १५
मैमीमपर्दयावाये’ति ॥ ६३ ॥

सन्दिग्धं यच्च तत्त्वान्यत्र वाऽस्तीति निश्चयः ।

शशीयमृद्ग्ननास्तित्वेऽप्यन्यत्राऽस्ति तदेव सत् ॥ ६४ ॥ १०

यच्च वस्तु सन्दिग्धं संदेहविषयीभूतं विद्यते तद्वस्तु तस्मिन्
प्रदेशे अन्यत्राऽन्यमिन्वा प्रदेशोऽस्ति विद्यते एवेति निश्चयो वर्तते ।
‘ननु यदि यत्र संशयस्तेनावश्यमेव भाव्यम्, ततः शशशृङ्गमस्तीति २१
प्राप्तं, तत्रापि कस्यचित्संशयसद्वावादि’त्यत आह—शशीयेत्यादि ।
शशस्य जन्मविशेषस्येदं शशीयं शशसम्बन्धि यत् शृङ्गं विषाणं तस्य २३

नास्तित्वेऽपि असद्ग्रावेऽपि अन्यत्राऽन्यसिन् प्रदेशो तत् शृङ्गरक्षणं
वस्तु सदेव विद्यगानमेवास्ति । एतावता शाशके एव तत् शृङ्गं
इनास्ति । अन्यत्र गवादावस्त्येवेति न कथिष्यमिचारः ॥ ६४ ॥

एवं संशयसद्ग्रावादात्माऽस्तीति प्रतीयते ।

वन्ध्यापुत्रस्य नास्तित्वे संशयोऽपि न कस्यचित् ॥ ६५ ॥

६ एवमसुना प्रकारेण संशयस्य सद्ग्रावात् आत्मा जीवोऽस्ति विद्यते
इति पतीयते ज्ञायते तथा वन्ध्यापुत्रस्य नास्तित्वेऽसद्ग्रावे संशयोऽपि
कस्यचिन्नं भवति । एतेन सदस्तुन् एव संशय इति सिद्धम् । उक्तं च
७ श्रीविशेषावश्यकवृत्तौ—“हे गौतम ! अस्त्वेव जीवः तव संशयतः,
संशयसद्ग्रावात्, यत्र यत्र संशयस्तत्र तदस्ति, यथा साणुपुरुषौ, संशयश्च
तव जीवे तस्मादस्त्वेवाऽयम् । तथा हि—साणुपुरुषयोरुद्धर्वत्वारोह-
१२ परिणाहाद्युभयसाधारणधर्मप्रत्यक्षतायां चलनशिरःकण्ठैवनवयोनिल-
यनवृत्त्यारोहणाद्युभयगतविशेषधर्माऽप्रत्यक्षतायां चोभयगतैतद्धर्मानु-
स्थरणे च सति एकतरविशेषपनिश्चयं चिकीपेः किमिदमिति विमर्श-
१५ रूपः संशयः प्रादुरस्ति । एवंमूर्ते च साणुपुरुषादिगतसंशये तत् साणु-
पुरुषादिकं वस्तु अस्त्वेव । अवस्तुनि संशयाऽयोगात्, एवमात्मशरीर-
योरपि प्राणुपलब्धसामान्यविशेषधर्मस्य प्रमातुस्तयोः सामान्यधर्म-
१८ प्रत्यक्षतायां विशेषधर्मप्रत्यक्षत्वेऽपि च तद्विषयानुस्मृतौ सत्यामेकतर-

१ तथा च चलन-शिरःकण्ठैवनादयः पुरुषगतविशेषधर्माः, चलनं-गतिः,
शिरःकण्ठैयन-हस्तेन इसाभ्यां वा शिरसः कण्ठैयनम्-सर्वजनमित्यर्थः, अपि
च वयोनिलयन-वृत्त्यारोहणादयो धर्माः स्थाणुगतविशेषधर्माः, वयोनिलयन-
स्थाणी वयसी-पक्षिणी निलयनं आश्रवस्थानमित्यर्थः, वहयारोहणं-वहीना-
आरोहणम् ऋष्येगल्यां गमनमित्यर्थः ।

विशेषोपलिप्तोः 'किमयमात्मा, किं वा शरीरमात्रमिदम्?' इति विमर्श-
रूपः संशयो जायते । अयं चात्मशरीरयोः सत्त्वे पदोपपद्यते, नैकतर-
साप्यमावे; अतोऽस्ति जीवः, अथैवं ब्रूपे—अरण्यादिपु साणुपुरुष-३
संशये तत्र विवक्षितप्रदेशोऽनयोरेकतर एव भवति, न पुनरुमयमपि,
तत्कथमुच्यते विद्यमान एव वस्तुनि संशयो भवति? इति, तदयुक्तम्—४
अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्, न हि वयमेवं ब्रूमः तत्रैव प्रदेशो तदुमयमप्य-५
स्मीति किंतु यद्वृतः सन्देहसदस्तु तत्रान्यत्र वा प्रदेशो मृत्वमस्त्येव ।
अन्यथा पष्टमृतविषयो संशयः स्यात्, तस्मात्संशयविषयत्वादस्त्येव
जीवः इति सितम्" (विशेषा० बृह० पृ० ६७३) इत्यादि ॥६५॥९

इत्यमात्मानुभित्यापि साध्यतां गौतम! त्वया ।

अथाऽविरुद्धवाक्यार्थं वेदस्यैवं विभावय ॥ ६६ ॥

हे गौतम! त्वया इत्थं प्रागुक्तमकारेण अनुभित्याऽपि अनुमान-१२
प्रमाणेनाऽपि अत्मा जीवः साध्यगम् । 'ननु प्रागुक्तविरुद्धवेदवाक्यार्थ-
मनुस्त्रितस्त्वयजतोऽपि भम संशयो'ऽतिविरापिताऽहितं इव पृष्ठं न
मुच्यति तर्किं करोमीत्यत आह—अथेत्यादि । अथानन्तरं वेदस्य १५
अविरुद्धो विरोधवर्जितो योऽसौ वाक्याथस्त्रमेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण
विभावय विचिन्तय । प्रागुक्तविरुद्धार्थे आग्रहं मा कार्पीरित्यर्थः ॥६६॥

कथमित्याह—

विज्ञानमूपयोगोऽत्र ज्ञानदर्शनयोः स्मृतम् ।

तत्सद्वावो यनस्तेन विज्ञानघन उच्यते ॥ ६७ ॥

उत्पचिमस्त्राद्वतेभ्यो घटादिभ्यो यथायवम् ।

स जीवद्रव्यपर्याप्यः समृत्याप्याऽनुनश्यति ॥ ६८ ॥

१ अहितदर्शनोऽस्त्रोऽरिः इति मात्रः पुनः दुनोऽस्ति इत्यप्यः ॥ ६९ ॥

ततः संज्ञाऽपि न प्रेत्याऽपरसंज्ञासमुद्भवात् ।
 एवं हि देहिपर्यायोत्पत्तिनाशौ विवक्षितौ ॥ ६९ ॥
 ३ अशरीरं वसन्तं वेत्यादिवेदोक्तिभिः स्फुटम् ।
 ध्रुवत्वं तस्य जीवस्य द्रव्यत्वेन प्रदर्शितम् ॥ ७० ॥
 चतुर्भिः संबन्धः ।

४ अत्राऽस्मिन् ‘विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु-
 विनश्यति न च प्रेत्यसंज्ञा’स्तीति वाक्ये ज्ञानदर्शनयोरुपयोगो विज्ञानं
 स्मृतं कथितं, विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानमिति तस्य विज्ञानस्य सम्भातः
 ५ समूहो घन उच्यते, तेन कारणेन जीवो विज्ञानघन उच्यते ॥ ६७ ॥
 अथ स विज्ञानघनो जीवद्रव्यस्य पर्याय, उत्पत्तिमत्त्वात् घटादिभ्यो
 मृतेभ्यो यथायथं यथायोर्भ्यं समुत्थाय उत्पद्य अनु पश्चात् अर्था-
 १२ न्तरेऽपि योगे सति नश्यति विनाशं प्राप्नोति ॥ ६८ ॥ तत-
 स्मृदनन्तरमपरसंज्ञासमुद्भवात् अपरोपयोगिसंज्ञायाः संभवतः प्रेत्य-
 संज्ञाऽपि नास्ति, प्राक्तनी ज्ञानसंज्ञाऽपि न विद्यते । हि इति निश्चये,
 १५ एवमसुना प्रकारेण देहिनां जीवानां ये पर्याया ज्ञानोपयोगादा-
 सेपामुत्पत्तिनाशौ उत्पादव्ययौ विवक्षितौ ॥ ६९ ॥ तथा ‘अशरीरं
 वसन्तं वा’ इत्यादयो या वेदोक्तयो वेदवाक्यानि ताभिः स्फुटं प्रकटं
 १८ तस्य जीवस्य द्रव्यत्वेन द्रव्यरूपतया ध्रुवत्वं नित्यत्वं प्रदर्शितमस्ति ।
 वेदोक्तिर्यथा—‘न ह वै सशरीरम्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति,
 अशरीर वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न सृष्टात्’ इति, यथा ‘अग्निहोत्रं
 २१ ऊहुयात् सर्गकामः’ इत्यादि । एतदर्थस्तु प्रागेवोक्तोऽतः पुनर्नोच्यते
 इति ॥ अथ स्तोकचतुष्टयस्य भावना विधीयते—इह विज्ञानपनो जीव
 २४ उच्यते, तथा हि—विज्ञानं ज्ञानदर्शनोपयोगः तेन सदाऽभिन्नत्वेन

घनत्वं निविदत्वं प्राप्तो विज्ञानघनो जीवः, यदि वा प्रतिप्रदेशग्रन-
न्ताऽनन्तविज्ञानपर्यायसहात्थटितत्वात् विज्ञानघनो जीवः । एवकारेण
तु विज्ञानघन एवाऽसौ न तु नैयायिकादीनामिव ‘सर्वपेण निर्विज्ञान-
त्वाज्जडोऽसौ बुद्धिस्तु तत्र समवेतैवे’ति नियम्यते । स हि गूतेभ्य
उत्पद्यते, गूतानि इह घट-पटादिज्ञेयवस्तुसरलपाणि अभिप्रेतानि,
तेभ्यो ज्ञेयमावेन परिणतेभ्यो ‘घटोऽयं पटोऽयम् इत्यादिज्ञानपर्याये-
णोत्पद्यते इत्यर्थः । ततस्यान्येव ज्ञानालम्बनमूतानि कालकमेण व्यव-
धानस्थानाऽन्यमनस्कत्वादिनाऽर्थान्तरोपयोगे सति विज्ञेयमावेन विना
समक्षुवानानि, अनु पश्चात् तच्छ्रूपोधपर्यायेण स विनश्यति । ‘ननु ९
किमित्यं सर्वथाऽयमात्मा विनश्यतीति चेत्’, नैवम्, एक एवाऽय-
मात्मा त्रिस्तमावः, तथा हि—अर्थान्तरोपयोगकाले पूर्वविज्ञानोप-
योगेनायं विनश्वरस्तमावः, अपरविज्ञानोपयोगतस्तु उत्पादस्तमावः, १२
अनादिकालप्रवृत्तसामान्यविज्ञानमात्रसन्तत्या पुनरयं विज्ञानघनो
जीवोऽविनष्ट एवाऽवतिष्ठते । एवमन्यदपि सर्वं वस्तु उत्पादव्ययध्रीव्य-
स्तमावमेव बोध्यम् । न च प्रेत्येति । न चाऽन्यवस्तूपयोगकाले प्राक्तनी १५
ज्ञानसंज्ञाऽस्ति । कुतः । साम्रतवस्तुविपयोपयोगात् । अयमर्थः—
यदा घटोपयोगनिवृत्तौ पटोपयोग उत्पद्यते, तदा घटोपयोगसंज्ञा
नात्ति, तदुपयोगस्य निवृत्तत्वात्किंतु पटोपयोगसंज्ञावाऽस्ति । तदुपयो- १८
गस्यैव तदानीमुत्पन्नत्वात्, तसाद्विज्ञानघनास्यो वेदपदेष्यमिहितोऽयं
जीवः । ततो गीतम् । प्रतिपद्यसेनमिति ॥ ७० ॥

अथ यत्सचत्कणिकमिति व्याप्तिवादिनां बोद्धानामेकान्तवादित्वं
दर्शयति—

क्षणनश्वरताबुद्धिवैद्वानां या श्रुते श्रुता ।

ज्ञानपर्यायमाश्रित्य साऽस्तु द्रव्यानपेक्षणात् ॥ ७१ ॥

३ वौद्वानां सौगतानां श्रुते शास्त्रे या क्षणनश्वरताबुद्धिः सर्वमपि
वस्तु जातं क्षणविनश्वरमस्तीत्येवंमूला मतिः श्रुता प्रसिद्धाऽस्ति, साँ
बुद्धिर्द्रव्यानपेक्षणात् द्रव्याऽपेक्षामविधाय, किंतु ज्ञानपर्यायमाश्रित्य
इस्तीकृत्य अस्तु भवतु । एतावता पर्यायनयाऽपेक्षया क्षणनश्वरत्वं सर्व-
पदार्थानामस्तीत्यर्थः । द्रव्येत्यादि । ‘स्यवृलोपे—’ (वा०) इति
पञ्चमी ॥ ७१ ॥

५ अथ नास्तिकादिमतं निराकुर्वन्नाह—

अनुमानात् स्वसाध्यं यः साधयन्नपि तं पुनः ।

खण्डयन्निह चार्वाकः सतां ग्राहयचाः स किम् ? ॥ ७२ ॥

१२ इहाऽस्मिन् लोके स चार्वाको नास्तिकः, किं सतां सत्पुरुषाणां
आप्यमुपादेयं वचो वचनं यस्य स प्राद्यवचो भवति ? न गवत्येवे-
त्यर्थः । स क इत्याह—अन्वित्यादि । यश्चार्वाकः सस्यात्मनः

१५ साध्यं नास्तित्वमनुमानादनुमानप्रमाणेन साधयन्नपि तं पुनरनुमानादि-
साध्यं जीवं खण्डयन् निराकुर्वन् वर्तते । एतावता यो येन प्रमाणेन
स्वसाध्यं सापयति तेनैव सिद्धं पदार्थान्वरं न स्तीकुरते । तस्याऽय-

१८ याधर्माविषो वचनं कस्य सत्पुरुषस्योपादेयं भवेदिति भावः ॥ ७२ ॥
शून्यतैव परं तत्त्वं येषां स्वाच्छून्यवादिनाम् ।

तेषां वाचोऽर्थशून्यत्वात् प्रतीताः स्युः फलाऽपि न ॥ ७३ ॥

२१ रथा तेषां शून्यवादिनां योद्देकदेविनां शून्यता एव परं प्रधानं
२३ तत्त्वं स्वात् विषते, तेषां वाचो गिरोऽर्थशून्यत्वादग्निपेयदीनत्वात् ।

दापि कस्मिन्नपि काले न प्रतीताः सुर्वं प्रतीतियुक्ता भवन्ति ।
अथर्वः—ये, खलु सर्वं शून्यमेवास्तीति बदन्ति तेषां वाचोऽपि
सर्ववस्त्वन्तर्गतत्वात् शून्या एव, ततश्चार्थशून्ये तद्वचने को विद्वान्प्र-
तीति कुर्वते ति ॥ ७३ ॥

वेदान्तिमतमाश्रित्य ब्रह्मैक्यं यद्यपि स्थितम् ।

तथाऽपि लिङ्गभेदेनाऽऽत्मभेदमवधारय ॥ ७४ ॥

वेदान्तिनां मतं वेदान्तिमतं, तदाश्रित्य यद्यपि ब्रह्मण आत्मन
ऐक्यमेकत्वं स्थितम्, तथाऽपि हे गौतम । लिङ्गस्य चिह्नस्य भेदेन
आत्मनो जीवस्य भेदं नानात्ममवधारय जानीहि । वेदान्तिमतं ताव-१
दिदम्—“एक एव हि भूतात्मा भूते भूतेभ्यवस्थितः ।” एकघा
बहुधा चैव दृश्यते बलचन्द्रवद् ॥ यथा विशुद्धमाकाशं तिषिठो-
पष्टुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥ तथेदममलं १२
ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया । कलुपत्तमिवापत्तं भेदरूपं प्रकाशते ॥ १३
इत्यादि ॥ ७४ ॥

ननु कथं लिङ्गभेदेनात्मभेद इत्याशङ्क्याह—
उपयोगो हि लिङ्गं स्वाचस्योत्कर्पाऽपकर्पतः ।
भेदास्त्वनन्तर्जीवानां मिन्नता तेन गृह्णताम् ॥ ७५ ॥

हीति निश्चयेन उपयोगो ज्ञानदर्शनोपयोगः, स च जीवस्य १८
लिङ्गं स्याद् विधते । तस्योपयोगस्य तु उत्कर्पापकर्पतः प्रतिशरीरमा-
धिक्यन्यूनभावात् जीवानां अनन्ता भेदाः सिद्धाः, तेन कारणेन हे-
गौतम । त्वया जीवानां मिन्नताऽनेकविधत्वं गृह्णतां स्त्रीक्रियतां, न
तु वेदान्तिवदेकत्वमिति भावः । एषां मिन्नतं तु संसारीतर(सिद्ध)-२२

स्थावरत्रससूक्ष्मवादरपर्यासाऽपर्यासादिमेदैरवसेयम् ॥ अत्र प्रयोगः—
 नैनारूपा मुवि जीवाः, लक्षणादिमेदात्, कुम्भादिवत्, यत्र न भिन्नं
 इन तस्य लक्षणमेदः, यथा नभसं इति । अपि च एकत्वे सति जीवानां
 मुखदुःखवन्धमोक्षादयो नोपपदन्ते सर्वेगतत्वान्नभस इव । यत्र तु
 सुखादयो न तत्सर्वं गतं, यथा देवदत्त इत्यादि । इत्यं चैकत्वे सुखा-
 इवनुपपरेनानात्मं जीवानामिति स्थितम् ॥ अत्र नैयायिकाः—‘भवतु
 तहिं जीवानां नानात्मं किंत्वैकैको जीवः सर्वजगद्यापकोऽस्तु इति
 बदन्ति’, तत्रोच्यते—जीवस्य सर्वजगद्यापकत्वं तावदसङ्गतमेव
 ५ प्रतिभावतः प्रतिभावति । अस्य हि शरीरमात्रावस्थायित्वस्यैव प्रमाणसिद्ध-
 त्वात् । तथा च प्रयोगः—देहमात्रस्यो जीवः तत्रैव तद्वृणोपलभ्यते,
 यथा स्वात्ममात्रे घट इति । अथवा यो यत्र प्रमाणैर्नैपलभ्यते तस्य
 १२ तत्राभाव एव, यथा भिन्ने घटे पटस्य, नोपलभ्यते च शरीराद्वहिन-
 जीवः, तस्मात्स्य तत्राभाव एव । इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ ७५ ॥

तदेवं केषांचिद्वेदपदानामर्थं व्याख्याय साम्प्रतमुपसंहरन् सर्वेषां
 १५ च वेदपदानां सहेपतोऽर्थमुपदर्शयन्त्राह—

एषां वेदपदानां यत्तमर्थं वेत्सि नैव तद् ।

क्रोपि संशयं जीवे, सर्वेषामध्यवा ध्युवम् ॥ ७६ ॥

अर्थः किं वा भवेच्छन्दो जातिर्दर्शं गुणः क्रियाः ।

विद्वानं वस्तुमेदो वाऽयुक्तोऽयं संशयस्तव ॥ ७७ ॥

१ परस्परमेइमात्रा इत्यर्थः । २ दुष्टिमतो नरात् । ३ पदाद् पूर्यकिञ्चित्पै
 घटे पटस्य यता नोपलभ्यते अत एव तदमात्रोऽनसीयते इत्यर्थः ।

वस्तुधर्मो न युक्तो हि अयमेव न वेत्यम् ।

सर्वं सर्वमर्थं चैव स्वात्मपर्याप्ततो यतः ॥ ७८ ॥

सर्वं विवक्षयाऽसर्वमयमप्यस्ति केवलम् ।

युक्तः पदार्थः सामान्यविद्येषपात्मा विवक्षया ।

वस्तुनो विश्वरूपो यत्पर्याप्तेषुपा समः ॥ ७९ ॥

पदपदीयम् । चतुर्भिः कलापकम् ।

हे गौतम ! यदलात्कारणात् एषां ‘विज्ञानधनं एव’ त्यादिपूर्वोक्तानां वेदपदानां योऽयोः मया दर्शितस्तुमर्थं न वेत्सि न जानासि, तत्त्वात्कारणादेव जीवे संशयं करोषि । अथवा सर्वेषामद्वैपवेदपदानाम् १२ पर्याप्त्युभ्यं निश्चितं तत्त्वं न जानासि, यस्मात्सर्वेषांपि वेदपदेषु विषये तदैवं मूरतः संशयोऽस्तीति संम्बन्धः ॥ ७९ ॥ १३ कथं मूरतः इत्याह— अर्थ इत्यादि । किमेतेषां वेदपदानामर्थः यद्वदो भवेत् ? यथा १२ भेरीपटहृष्टकादीनां शब्दस्य शब्दः पदार्थः ?, वा अथवा किं जातिरन् १४ मीपामयोः यथा गोशब्दे समुच्चारिते गोजातिरवसीयते, यदि वा किं द्रव्यमेषामयोः यथा दण्डीत्यादिषु दण्डादिमद्व्यर्थं, किं वा शुक्रकृष्णा-१५ दीनामिव शुक्रादिगुण एतेषामर्थः ?, अथवा धावतीत्यादीनामिव धाव-१६ नादिक्रियाऽमीपामर्थः, यदि वा यद्यादिशब्दे समुच्चारिते तदभिव्यार्थविषयं विज्ञानं भवद् दृश्यते तरेषामर्थः, किं वा घटशब्दे समु-१७ ल्लीरिते पृथ्युभोदरावाकारवान् घटलङ्घणोऽयोऽनेनोक्तो न तु पदादिरित्येवं यो वस्तुमेदः प्रतीयते स एषामर्थः इति—अर्थं च संशयः, १८ स चाऽयुक्तोऽन्याभ्यश्च ॥ ७९ ॥ कथमित्याह—यस्त्वत्यादि । हि यस्माद्यमेवास्ति वाऽथवाऽयं नैवान्ति इत्येवं कल्पापि वस्तुनो २२

१ अत्र ‘यत् पर्यामविवक्षया युमः’ इति दाशीमुद्रितपाठऽठन्दोऽनुहेषेन प्रानादिषः । २ अवचीयते इत्यप्याहार्यम् ।

घर्मोऽवधारयितुं न सुकः, शब्दोऽपि वस्तुनिशेष एव, तत एवंभूत-
 स्यैवार्थसायमभिधायको नैव वा ?, इत्यंभूतस्याऽर्थस्याऽर्थं प्रतिपादक
 ३ इत्येवमेतद्धर्मस्याप्यवधारणमयुक्तमेव । कुत इत्याह—सर्वमित्यादि ।
 यतो यसात्सर्वमपि वाच्यवाचकादिकं वस्तु स्वान्यपर्यायतः स्वपर-
 पर्यायैः सर्वमयं सर्वात्मकमेव विद्यते सामान्यविवक्षयेत्यर्थः ॥ ७८ ॥
 ६ तथा विवक्षया केवलस्वपर्यायापेक्षया सर्वं वस्तु असर्वमयमसर्वात्मक-
 मप्यस्ति । कीदृशमित्याह—केवलं विविक्तरूपं सर्वतो न्यावृत्त-
 मित्यर्थः । तसात्सर्वेषामपि पदानां विवक्षया विवक्षावशतः सामा-
 ९ न्यविदेषात्मा सामान्यमयो विशेषमयश्च पदार्थो युक्तः, न पुनरेक-
 कान्तेन । इत्यंभूत एव अनित्यंभूत एव वैति कुत इत्याह—
 वस्तुन इत्यादि । यदलात्समः सर्वोऽपि वाच्यस्य वाचकस्य वस्तुनः
 १२ स्वयावैः, पर्यायापेक्षया विश्वरूपो नानाविधो वर्तते, ततश्च सामान्य-
 विवक्षायां घटशब्दः सर्वात्मकत्वात्सर्वेषामपि द्रव्यगुणक्रियार्थानां
 , वाचकः । विशेषविवक्षायां तु प्रतिनियतद्वयत्वात् य एवात्मेह पूर्णु-
 १५ तु नोदराधाकारवानर्थो वाच्यतया रूढद्वास्यैव वाचकः, एवमन्योऽपि
 शब्दः विशेषविवक्षया यो यत्र देशादौ यस्यार्थस्य वाचकतया
 रूढः स तस्य वाचको द्रष्टव्यः । सामान्यविवक्षया तु सर्वः सर्वस्य
 १८ वाचकः सर्वं च सर्वस्य वाच्यमित्यनया दिशा सकलं मुघिया भाष-
 नीयमिति । सामान्येत्यादि । सामान्यं च विशेषश्च सामान्य-
 विदोपौ तौ जात्मा स्वरूपं यस्य सः । सम इति । अर्थसम्बन्धात्
 २१ समस्तार्थवाचकोऽप्यमन्त्र ग्रायो न तु तुल्यार्थकः ॥ ७९ ॥

इत्येवं मगदान्, इन्द्रभूतेः संशयं निराकृत्य पुनरपि प्रागुक्तं
सर्वेमेवार्थं द्रष्टव्यति—

प्रतीत्य मयि सार्वेश्यं सत्यं मन्यत्वं मद्बचः । ३
रागद्वेषमयातीतो न द्वासत्यं प्रमापते ॥ ८० ॥

हे गौतम ! मयि मद्विषये सार्वेश्यं सर्वज्ञत्वं प्रतीत्य सर्वज्ञोऽय-
मिति प्रतीतिं विघाय मद्बचो मर्दीयं वचनं सत्यमवित्तयं त्वं मन्यत्वं इ-
जानीहि । कुरु इत्याह—रागेत्यादि । हि यतो रागः प्रीतिद्वेषो-
ऽप्रीतिर्भयं साध्वसं तानि रागद्वेषमयानि अतीतोऽतिक्रान्तः पुमान्
असत्यमऽनृतवाचयं न प्रमापते न ब्रवीति, ईदृशश्चाहमित्यतो मद्बचनं ९
सत्यं मन्यत्वेत्यर्थः । अत्रैवं प्रयोगः—सर्वमपि मद्बचनं सत्यमनतिप-
पाति च बोध्यम्, रागद्वेषमयाऽज्ञानरहितत्वात् इह यद्यादिरहितस्य
चचनं तत्सत्यं दृष्टं, यथा मार्गज्ञस्य भयरहितस्य प्रष्टरि रागद्वेषरहि- १२
चस्य मार्गोपदेशवचनं, तथा च मद्बचः, उल्लाससत्यमनतिपाति चेति,
भूते रागद्वेषमये इत्यत्राऽज्ञानपदमनुकमपि सहायं, प्रकृतोपयोगि-
त्वात् ॥ ८० ॥ १३

तदेवं त्रिजगत्तत्पवेदिना मगदता श्रीमहावीरेण निःशेषपर-
प्रयोपनोपायकुशलतया निपुणयुक्तिप्रबन्धेन समाप्तपरमकल्याण-
सेन्द्रभूतेः सर्वसिन्नपि संशये मूलचित्ते सति किमसौ कृतवा- १५
नित्याह—

इत्थं संशयघातकानि वचनान्यार्पीय वीरप्रमोः

सर्वेत्वमिहाधिगत्य लगतामीश्वत्वमालोक्य च । २१
चार्णशुद्धात्रश्वरसौ परिवृतो मिद्यात्वमोहोऽन्धिर-
शारित्रं प्रविवेश सर्वदिरिति तीर्थाग्रणीर्गांत्रमः ॥ ८१ ॥ २३

इत्थं प्रागुक्तप्रकारेण संशयस्य जीवं विपयकसन्देहस्य घातकानि
 विनाशकानि वीरप्रभोः वर्द्धमानस्तामिनो वचनानि आपीय सादरं
 ३ श्रुत्वा, तथा इहास्मिन् वीरप्रभौ सर्वज्ञत्वं सर्वज्ञमावमधिगत्य विज्ञाय,
 च पुनरसिनेव प्रभौ जगताभीशत्वं विश्वेश्वरत्वमालोकय दृष्ट्वा, मिथ्या-
 त्वेन मिथ्यात्वोदयेन यो मोहो भौव्यमविवेकित्वमिति चावत्, तेन
 ६ उज्जितो मुक्तो मिथ्यात्वोदयजनितमूढत्वविमुक्त इत्यर्थः । तथा
 वाणैः पञ्चमिष्ठात्राणां शिष्याणां शतैः परिवृत्तो वेष्टितः छात्रयेष्वं-
 शतीसहित इत्यर्थः । एवं विधोऽसौ गौतम इन्द्रभूतिः सर्वविरतिः
 ९ सर्वविरत्याख्यं चारित्रं चरणं प्रविवेश प्रविशति सा । भगवत्तुं
 दीक्षां जग्राहेत्यर्थः । अत एव कीदृशोऽसौ गौतमः—तीर्थीग्रणीः
 तीर्थे चतुर्विधसहेऽग्रणीर्मुख्यो, भगवता दीक्षां दत्त्वा प्रथमगणधरं
 १२ त्वेन सापितल्वादिति भावः । आपीयेति । आदपूर्वात् ‘पीड पाने’
 ऽसात् कलाप्रत्ययस्तस्य स्यवादेशः । वाणैरिति । मदनस्य पञ्च वाणाः
 सन्ति, ततो वाणशब्देनाऽन फ्वेति सद्व्या परिग्राहेति । इदं च
 १५ शार्दूलविकीडितवृचम् । एतलक्षणं तु प्रागुक्तमेवेति ॥ ८१ ॥

इति कविस्त्वचन्द्रविरचिते श्रीगौतमीयमहाकाव्ये गौतमस्य
 संशयच्छेदानन्तरं प्रव्रज्याग्रहणवर्णनो नाम

१८ सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाख्यायां गौतमीयमहाकाव्याख्यायां
 सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

२२ इति प्रथमगणधर्यादः ॥ १ ॥

अष्टमः सर्गः ।

इन्द्रभूतिमय सोदरमर्य दीक्षितं जिनपदेन निश्चम्य ।

अग्निभूतिरपि रुद्रधुवन्बुर्भवाहुरिव खेदमवाप ॥ १ ॥

विशुद्धविद्वानकरं प्रसायोऽग्निवायुभूती भवसिन्दुमव्यात् ।

समुद्रवौ येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु वस्ते विश्वात्मजाय ॥ २ ॥

अथानन्तरं अग्ने भवमर्यं प्रथममित्यर्थः । सोदरं आतरं इन्द्रमूर्तिं ६

गौतमं जिनपदेन जिनवाक्येन दीक्षा जाता अस्येति दीक्षितस्तुं

निश्चम्य श्रुत्वा तस्येन्द्रमूर्तेर्वुवन्बुर्लब्धुत्राता अग्निभूतिरपि भग्नो वाहु-

र्यस्य स भग्नवाहुरिव खेदं शोकमवाप प्राप्तवान् । पदेनेति । ‘पदं ९

स्याने विमचयन्ते शब्दे वाक्येऽहवस्तुनोः’ इत्यादि हैमः । असिन्सर्गे

स्वागतावृत्तं, तलश्चाणं तु ‘स्वागतेति रनमादृरुयुग्म’ निति ॥ १ ॥

अथाऽसौ किं शुश्रोचेत्याह—

१२

यं वृहस्पतिरपि श्रुतिवादे जेतुर्मर्हति न युक्तिपृष्ठत्कैः । ।

सोऽपि केनचिद्द्वौ! निगृहीतो हन्तु! दैवरचितं हि दुरन्तम् ॥ २ ॥

वृहस्पतिरपि मुराचायोऽपि श्रुतीनां वेदानां वादे युक्तिपृष्ठत्कैः १५

पपचियाणैर्यं भद्रातरं जेतुं न वर्हति न योग्यो भवति, न श्रुको-

तीत्यर्थः । अहो इत्याश्रये, सोऽपि भद्राता केनचिद्वादिना निगृ-

हीतो निर्जितः । हि यस्मात्कारणात् हन्तेति विषादे, दैवेन यद्रचितं १६

वद् दुरन्तं दुरवसानं, भवतीति श्रोपः ॥ २ ॥

आतरं मम महान्तमज्ञपीदश्छलादिनिपुणः स च वादी ।

तत्र यत्किमपि संप्रति वृत्तं ज्ञायते न निखिलं तदगत्वा ॥ ३ ॥

च पुनः, यो वादी मम महान्तं ज्येष्ठं ग्रात्वरं गौतमं अजैपीत् जप्यति २२

स, स वादी छलादौ निपुणः प्रवीणो, दृश्यते इति शेषः । संप्रत्यधुना
यत्किमपि कार्यं वृच्छं सज्जातं तत्त्विलं समस्तं तत्र प्रदेशो न गत्वा
इगमनमकृत्वा न ज्ञायते, अतो ममापि तत्र गन्तव्यमिति भावः ॥ ३ ॥

यज्ञपाटकमतीत्य सुरा यन्निर्युक्तदभवद्विषरीतम् ।

मत्सहोदरपराजय एवं कोऽय दैव ! विपमो वत कालः ॥ ४ ॥

६ पूर्वं तु सुरा देवा यज्ञपाटकमतीत्य विलङ्घ्य यन्निर्युर्निर्यान्ति
स तद्विपरीतमभवत् । ततश्च एवमगुना प्रकारेण मम सहोदरसा
आतुः पराजयो विपरीतं कार्यमभवत् । बतेति खेदे, हे दैव ! अय
अस्मिन्नाहनि को विपमः कालः समयः समजनीति शेषः ॥ ४ ॥

कोऽस्त्यसौ सुखवैरपि सेव्यो यस्य चैप महिमा वरिवर्ति ।

दर्शनेऽस्य विहिते खलु पथात्तद्य मे भवतु यद्भवितव्यम् ॥ ५ ॥

१२ च पुनर्यस्य वादिन एष महिमा प्रभावो वरिवर्ति अतिशयेन
वर्णते । अयमसौ सुखवैरेवेन्द्रियपि सेव्यः कोऽपि, सांप्रतं तु खलु
निश्चिरं, अस्य वादिनो दर्शने विहिते कृते सति मे मम यद्भवितव्यं
१५ तद्भवतु । चः पादपूरणे । वरिवर्ताति । ‘वृत्तु धातोः’ यद्भुद्भन्ताल्लहृ,
पूर्वस्य रिगागमः ॥ ५ ॥

निर्यावयमपीति विमृद्य छात्रपञ्चशततत्र्यसमेतः ।

१० इन्द्रभूतिरिव विसयमृच्छनाप तीर्थपतिदर्शनदेशम् ॥ ६ ॥

अयममिभूतिरपि इति उक्तप्रकारेण विमृद्य विचिन्त्य छात्राणां
पञ्चशतानि छात्रपञ्चशतानि तान्येव तत्र परिकरसेन समेतः संयुक्तः
सन् निर्ययो गृहान्निर्गच्छति स । ततश्च इन्द्रभूतिरिव विसयमा-
१२ धर्यमृच्छन् प्रामुखन् तीर्थपतेः श्रीवीरमगवतो दर्शनस्य देशं प्रदेश-

माप प्राप्तवान् । तत्रेति । ‘तत्रोपकरणे अपी’ति हैमः । ऋच्छ-
न्निति । ‘ऋच्छ गत्यादौ’ जस्माहृष्टः शत् ॥ ६ ॥

एहि सूरिवर ! पावकभूते ! आतृवत्त्वमपि संशयमुज्ज्ञ । ३
तत्र तीर्थपतिनेति स उक्तो विसयं मनसि वाढमुवाह ॥ ७ ॥

हे पावकमूलेऽभिमूले ! सूरिवर विद्वद्वर ! एहि जागच्छ त्वमपि
आतृवद्गौतमवत् संशयं सन्देहं उज्ज्ञ परित्यज । इत्यमुना प्रकारेण तत्र ६
समवसरणे तीर्थपतिना श्रीवीरस्वामिना उक्तः सन् सोऽभिमूलिर्भनसि
वाढमत्यर्थं विसयमाश्र्वयमुवाह वहति स, धारयति सेति यावत् ।
वहेः कर्त्तरि लिद ॥ ७ ॥ ५

अग्निभूतिरपि वाक्यविचारे प्राविशद्वयमसौ सकलज्ञः ।
अन्यथा परमनोगतमेवं कः प्रकाशयति गूढविमर्शम् ? ॥ ८ ॥

अग्निभूतिरपि भगवदुक्तस्य वाक्यस्य विचारे विचारणे प्राविशत् १२
प्रविशति स । कथमित्याह—असौ जिनो ध्रुवं निश्चितं सकलज्ञः
सर्वज्ञो विवते इति शेषः । अन्यथा सर्वज्ञमन्तरेण एवममुना प्रकारेण
परस्य मनोगतं हृदयप्राप्तं गूढविमर्शं गुप्तविचारं कः प्रकाशयति प्रकटी- १५
करोति, न कोऽपीत्यर्थः । ततश्च निश्चितोऽयं सर्वज्ञ इति भावः ॥ ८ ॥
वेच्चि यः परमनोविचिकित्सां निर्णयोऽपि हि भवेत्तदधीनः ।
तं च वक्ष्यति ततोऽयमपृष्टो मौनमेव मम साम्प्रतमस्तु ॥ ९ ॥ १६

यः परस्यान्यस्य मनसो विचिकित्सां संशयं वेच्चि, हीति निश्चितं,
तत्संशयस्य निर्णयो निश्चयोऽपि तदधीनस्तदायत्तो भवेत्, ततखस्मा-
ल्कारणात् तं च सन्देहं सनिर्णयं अयमपृष्ट एव वक्ष्यति वदिष्यति । २१
भीम हु साम्प्रतमधुना मौनमेवास्तु । विचिकित्सामिति । ‘विचिन-
कित्सा च संशयः’ इति हैमः । वक्ष्यतीति । वचेः कर्तृ लद ॥ ९ ॥ २२

सर्ववित्संभविगम्य तदीयं

चित्तभावमध्य वाचमवोचत् ।

३ सौम्य ! वेत्सि विषयः करणानां

कर्म नो तदिदमस्ति न वेति ॥ १० ॥

अथाऽनन्तरं सर्वं वेचीति सर्ववित् सर्वेजः श्रीमहानीरखसामि-
६ मृतेरयं तदीयस्तं चित्तभावं हृदयाभिप्रायं समधिगम्य केवलज्ञानेन
ज्ञात्वा वाचं वाणीं अवोचत् अवादीत् । कथमिल्याह—हे सौम्य !
शान्तप्रहृते ! अग्निभूते ! क्रियते मिथ्यात्वादिहेतुयुक्तेन जीवेनेति
९ कर्म ज्ञानावरणादिकं, करणानामिन्द्रियाणां विषयो गोचरो नो
विद्यते, इन्द्रियगम्यं नास्तीत्यर्थः । तत्त्वसाक्तारणादिदं कर्म अस्ति
न वा ? इति त्वं वेत्सि स्वहृदये जानासि, परमयमनुचितस्तव संशय
१२ इति वाक्यशेषः ॥ १० ॥

तत्रोपपतिमाह—

यत्तदाऽप्रकटमस्ति तदेत-

५ द्वर्चते प्रकटमेव ममाऽत्र ।

केनचिच्छरभसिंहगजाद्ये-

द्रेष्टिताः किमु न ते खलु सन्ति ? ॥ ११ ॥

१० हे अग्निभूते ! अत्रालिङ्गवसरे यत्कर्मादिकं तत्र अप्रकटमस्ति
तदेतनाम प्रकटमेव यर्तते । अथ यदि भवतः प्रत्यक्षं कर्म तदिं ममापि
तत्प्रश्नं कलान् भवतीत्यादाह्नाह—केनेत्यादि । केनचित्पुरुषेण
२१ चेद्यदि शरभसिंहगजाः शरभोऽष्टापदः सिंहगजी प्रतीरी पूर्वविषयाः
पश्चातो न ईश्विता न दृष्टादृहि यत्तु निश्चितं ते जन्तवः किमु न
२५ सन्ति ?, सन्त्येत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—न हि यदेकत्वं फल्यचि-

प्रत्यक्षं तेनाऽपरस्यापि प्रत्यक्षेण भवितव्यम् । न हि शरभादयः सर्व-
स्यापि लोकस्य प्रत्यक्षाः, न च ते न सन्ति, बालादीनामपि तत्सर्वस्य
प्रसिद्धत्वात्, तस्मात् अस्ति कर्म सर्वज्ञत्वेन मया प्रत्यक्षीकृतत्वाद्व-३
त्संशयविज्ञानवत् इति, कार्यप्रत्यक्षतया च भवतोऽपि प्रत्यक्षमेव
कर्म, यथा घटादिकार्यप्रत्यक्षतया परमाणव इति । शरभेति ।
‘शरमः कुञ्जराङ्गरातिरूपादकोऽष्टपादऽपि’ इति हैमः ॥ ११ ॥

एतेन न तावत्प्रत्यक्षं कर्म, अतीन्द्रियत्वात्, खरविपाणवदित्या-
चग्रिभूत्यभिप्रायं निराकृत्याऽथानुमानमाह—

कर्मसाधनमदोऽप्यनुमानं विद्यते तदवधारय बुद्धौ ।

प्राणिनामिह फले सुखदुःखे कारणं यदिह तत् किल कर्म ॥ १२ ॥

हे अग्निभूते । अदोऽनन्तरं वक्ष्यमाणमनुमानमपि कर्मणः साधनं
हेतुमूर्तं विद्यते, तत्त्वं बुद्धाववधारय । तथा हि—इह लोके प्राणिनां १२
जीवानां सुखदुःखे फले विद्यते, कस्यचित्कारणस्य कार्ये स्तु इत्यर्थः ।
अथेह सुखादौ यत्कारणं तत्किलेत्यवधारणे कर्म, उच्यते इति
“शेषः । कर्मणः फले सुखदुःखे इति भावः । इदमत्र तात्पर्यम्—१५
प्रतिप्राणिप्रसिद्धयोः सुखदुःखयोहेतुरस्ति, कार्यत्वादङ्गुरस्य वीजसिव ।
यच्चेह सुखदुःखयोहेतु तत्कर्मेवेति ॥ १२ ॥

अथ परस्याऽशङ्कामाविष्कृत्य परिहरति—

दृष्टमेव रमणीपरिभोगा-

यं सुखस्य च विपाद्यसुखस्य ।

कारणं यदि भवान्मनुते किं

तत्फले विप्रमताऽस्ति तथाहि ॥ १३ ॥

हे अभिभूते ! यदि भवान् दृष्टमेव रमणीपरिभोगाद्यं अङ्गनासं-
योगसक्चन्दनादिकं सुखस्य कारणं मनुते जानाति, च पुनर्विषादि-
३ विष्पकण्टकादिकं असुखस्य दुःखस्य कारणं मनुते तर्हि तयो रमणी-
संयोगादिविषादोः सुखदुःखकारणयोः फलं कार्यम् । तत् फलं तत्र
विष्पमता वैष्पमता वैष्पम्यं किमस्ति ? कथमस्तीत्यर्थः । तथाहि—
६ तदेव वैष्पम्यं दर्शयतीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—‘खक्ख-चन्दना-इङ्ग-
नादयः सुखस्य हेतवो दुःखस्य तु अहि-विष्प-कण्टकादय इति दृष्टमेव
सुखदुःखयोर्हेतुरस्ति, किमदृष्टस्य कर्मणस्तदेतुत्वकल्पनेन ? नहि दृष्ट-
९ परिहारेणाऽदृष्टकल्पना कर्तुं युक्ता अतिप्रसङ्गात्’—इति त्वं मन्यसे—
तदयुक्तं, कारणसाम्येऽपि कार्यवैष्पम्यदर्शनादिति ॥ १३ ॥

अथ फले विष्पमतां दर्शयति—

१२ यद्गुगादि वनितापरिभोगे रोगहानिरपि वा विष्पभोगे ।
दृश्यते वहुतरं तद्वट्टं कारणं किमपि कल्पयितव्यम् ॥ १४ ॥

यद्यसात्कारणाद्वहुतरं यथा सात्वथा, वनितापरिभोगे खीसम्भोगे
१५ सुखस्य कारणे सत्यपि केषाद्यित्युंसां रुग्गादि रोगोत्पत्त्यादिकं दुःख-
फलं दृश्यते । अपि: पुनरर्थं, वाऽयवा विष्पभोगे शृङ्गिकादिविष्पमक्षणे
दुःखकारणे सत्यपि वहनां रोगहानिः सुखफलं दृश्यते, तद्यसात्कार-
१८ णात् किमपि अदृष्टं कारणं कल्पयितव्यं विचार्यम् । एतायता नहि
अदृष्टं कमपि ऐतुमन्तरेणैतदुपपधते, स चादृष्टेतुः कर्मयेति गावः ।
अत्र विदेषावद्यक्षुचौ वैष्पम्यमावना पदं शृताणि, तथा
२१ हि—‘इदं यस्तु उपसाधनयोरिष्टव्यादिविष्पयसुखसाधनसमेतयोर-
निष्ठार्थसाधनयुक्तयोद्य द्वयोर्पृष्ठनां वा फले सुखदुःखानुगमयनलक्षणे
२२ विदेषावद्यात्तायद्वयो दृश्यते । नाऽसौ अदृष्टं कमपि ऐतुमन्तरेणोप-

पद्यते, कार्यत्वाद्, घटवत्, यथा तत्र विशेषाऽधायकोऽद्वैतेतुस्त-
द्वैतम् ! कर्मेति प्रतिपद्यसेति' (विशेषा० वृह० गा० १६१३,
प० ६८९) ॥ १४ ॥

३

अमुमेवार्थं सूत्रकारो द्वषान्तेन द्रढ्यति—

साधनेप्विह समेषु विशेषो यः फलेऽस्ति स च कारणयोगात् ।
गौरवन्धुपु समेषु य एकः इयामलः स विपभाशनहेतोः ॥ १५ ॥

इह लोके समेषु तु स्वयेषु साधनेषु सत्सु यः फले विशेषोऽस्ति,
स च कारणयोगात् ज्ञेयः । यथा समेषु सर्वेषु गौरवन्धुपु गौरवणीः
आतृषु मध्ये य एको आता इयामवर्णो भवति । स विप-९
माऽशनहेतोर्विषयमभोजनकारणात् । अयमर्थः—मातापित्रोरैक्येऽपि
आतृषु यो वर्णमेदस्तत्र व्यवहाराद्वोजनवैपम्यमेव कारणं, यदुत गौर-
आतृषु गर्भस्थितेषु मात्राऽन्यद्वोजनं विहितं इयामे तु गर्भस्थितेऽन्य- १२
दिति । एवमिहापि, साधनसाम्ये यः सुखदुःखानुभवनयोर्विशेषः
सोऽद्वैतकारणादेवेति मन्तव्यम् । विपमेत्यादि । विपमं च तदशनं
च विपभाशनं तदेव हेतुस्तस्मात् ॥ १५ ॥

१५

उक्तमेवार्थमुपसंहरनाह—

द्वष्टहेतुकलने व्यभिचारं वीक्ष्य कल्पय तदेवमद्वैतम् ।
तच्छरीरमिह कार्मणसंज्ञं यद्वान्तरविधानसहायम् ॥ १६ ॥

तत् तसात्कारणात् एवमुक्तमकारेण द्वष्टस्य हेतोः कलने विचारणे
व्यभिचारं विरोधं वीक्ष्य दद्वाऽद्वैतं कल्पय चिन्तय, हेतुत्वेनेति
शेषः । तदद्वैतं इह कार्मणसंज्ञं कार्मणनामकं शरीरं ज्ञेयम् । तत् किम् ?
यद्वान्तरस्य एकसाद्वादन्यस्य भवस्य विधाने करणे सद्यायं साहु- २२

व्यकारि वर्चते, सहायशब्दस्य पुंस्त्वेऽपि सहाय इच्छाचरतीति विग्रहे
आचारकिवन्तात्पचाद्यचि क्षीवत्वं बोध्यम् । ‘सहाय’ इति पाठे तु
३८ काऽप्यनुपपत्तिः ॥ १६ ॥

यद्विनान्यतनुसंभव एव स्यात् गौतम ! विचारय चित्ते ।

मूर्च्चमन्तरपहाय तु मूर्च्चं वस्तु केन सह गच्छति योगम् ? ॥१७॥

३९ पुनर्यत् कार्मणशरीरं विना अन्यस्य भवान्तरमाविन्यासनोः
शरीरस्य औदारिकादेः समव उत्पत्तिरेव न स्यात् । हे गौतम ! अग्नि-
मृते । त्वं चित्ते विचारय, तु इति पश्ये, अन्तर्मध्यवर्ति मूर्च्चं मूर्च्चि-
४० मद्वस्तु कार्मणशरीरास्यं अपहाय त्यक्त्वा वाञ्छं मूर्च्चं वस्तु औदारिका-
दिकं केन सह योगं संबन्धं गच्छति प्राप्नोति ? अनेनाऽनुमानान्तरं
सूचितं, तचैवम्—“आद्यं वालशरीरं, शरीरान्तरपूर्वकं, इन्द्रियादि-
४२ मत्त्वात् युवशरीरवत् इति । आदिशब्दात् सुख-दुःखित्व-प्राणादयो
हेतवो ग्राह्याः । न च जन्मान्तरातीतशरीरपूर्वकमेवेदमिति शब्दयते
वर्तु, तस्यापान्तरालगतावसत्त्वेन तत्पूर्वकत्वाऽनुपपत्तिः । नचाऽशरी-
४५ रिणो नियतगर्भ-देश-स्थानप्राप्तिपूर्वकशरीरभ्रहो युज्यते, नियामक-
कारणाभावात्, नाऽपि स्वभावो नियामकस्तस्य निराकरिप्यमाणत्वात्,
यच्चेह वालशरीरस्य पूर्वं शरीरान्तरं तत्कर्मेति मन्तव्यम्, कार्मण-
४८ शरीरमित्यर्थः ॥” इत्यादि विशेषावश्यकवृत्तौ (पृ० ६९०) ॥१७॥

अनुमानान्तरमपि तत्सिद्धये पाह—

या च काचन सचेतनकृत्सा

सा किया फलयती न हता चेत् ।

१ प्रायशः विशेषावश्यकवृद्धरूपनुसारेणाऽप्यं पाठः ।

तच्छुमाऽशुभकृतेः फलमेत-

त्कर्म सिद्ध्यति कृपेरिव धान्यम् ॥ १८ ॥

च पुनः सह चेतनया वर्षते इति सचेतनो जीवसेन कृपा ३
आरब्धा या काचन क्रिया सा फलवती, सफला होति शेषः । चेददि-
हता न भवेत् केनचिद्दोषेण विनष्टा न भवेदित्यर्थः । किं तत्कल-
मित्यत्र आह—तदेतत् शुमाऽशुभकृतेः शुमाऽशुभक्रियायाः फलं कर्म है
सिद्ध्यति । कत्याः किमिवः कृपेर्धान्यमिव, यथा कृपिक्रियायाः फलं
धान्यं तथेदमपीत्यर्थः । अयं भावः—इह दानादिक्रियाणां फलमस्ति,
सचेतनारब्धक्रियाणां फलसद्ग्रावदर्शनात्, यथा कृपिक्रियायाः, इह या ९
सचेतनस्या क्रिया तस्याः फलं दृष्टं, यथा कृप्यादिक्रियायाः । सचेत-
नारब्धाश्च दानादिक्रियाः, तस्यात्कलत्यः, यच्च तासां फलं तत्कर्म ।
या तु निष्फला क्रिया सा सचेतनारब्धाऽपि न भवति, यथा पर- १२
माष्पादिक्रिया । त्यादेतत्—‘अनैकान्तिकोऽयं हेतुः, चेतनारब्धा-
नामपि कासांचिल्प्यादिक्रियाणां निष्फलत्वदर्शनात्’—तदयुक्तं, फल-
वस्त्वाभिप्रायेणैव तदारम्भात्, कचिन्निष्फलत्वमपि दृश्यते, तत्सम्यग्- १५
ज्ञानाद्यभावेन सामग्रीवैकल्प्याद्वृष्टव्यम् । मनःशुच्यादिसामग्रीविकल्पया
दानादिक्रिया अपि निष्फला इप्यन्त एवेत्यदोषः । शुभेत्यादि ।
शुमया शुक्लाऽशुमा शुमाऽशुमा, साचाऽसौ कृतिश्चेति विग्रहः ॥ १८ ॥ १८

उक्तमेवार्थं द्रष्टव्यति—

तत्क्रियामूदयजामयिकुर्वत्

साधयेत्तत्त्वं फले सुखदुःखे ।

एवमेव सकलाऽपि फलाद्या

सात्क्रिया तदिह सिद्ध्यति कर्म ॥ १९ ॥

२१

२२

जीवस्येति शेषः, कलाद्वेतोः स्यात् १, न कुतोऽपीति भावः ।
तस्माद्वाऽन्तर्भूतं शुभाऽशुभक्रियाजन्यमद्युप्तं कर्मव प्रतिपद्यस्येति
तात्पर्यम् ॥ २१ ॥

पुनः पराऽशङ्कामाविष्कृत्य निराकुर्वन्नाह—

सा क्रिया फलतु यत्कललिप्सा

मा परेति सफलाः सकलाः किम् २ ।

नैवमिच्छति न बन्धनवाधां

चौर्यकृत्किमु लभेत फलं तद् ॥ २२ ॥

यत्कललिप्सा यस्याः क्रियायाः फलस्य लब्धुमिच्छा भवेत् सा ३
क्रिया फलतु सफला भवतु परं अपराऽन्या यस्याः फललिप्सो नास्ति
सा क्रिया मा फलतु इत्यतः सकलाः समस्ताः क्रियाः सफलाः
फलवत्यः किं कथमुक्ता ३ इत्यर्थः । एवमिति । हे गौतम ! पूर्वं १२
चेन्मन्यसे तर्हि चौर्यं करोतीति चौर्यकृन्मनुष्यो बन्धनस्य वाधां
पीडां नेच्छति, परं तद् चौर्यक्रियाजन्यं बन्धनवाधादिकं फलं किमु
न लभेत न प्राप्नुयात् ४ ग्रामुयादेवेति भावः । यदुक्तं विशेषावद्य- १५
कृत्तचौ—‘ननु दानादिक्रियाऽनुष्ठातृभिर्यद्युप्तं धर्मलक्षणं फलमाशं-
सितं तचेषां भवतु, यैस्तु कृषि-हिंसादिक्रियाकर्तृभिरद्युप्तमधर्मलक्षणं
फलं नाशंसितं, तचेषां कथं भवति ?’ इति चेत्—तदयुक्तं, न १६
खविकलं कारणं सकार्यं जनयत् कस्याप्याशंसामपेक्षते विन्द्वऽवि-
कलकारणतया सकार्यं जनयत्येव, इत्यादिवहुविख्यारः, स च तरं
(पूर्वं ६९२ तः आरभ्य) एवावगन्तव्यः ॥ २२ ॥

१ इह ‘नैवमिच्छति न बन्धनस्य तु वाधां चौर्यकृत् किमु लभेत् तद्’ इति
आचीमुद्दितपाठोऽर्थवैकल्याच्छन्दोमद्वदोपदुष्टलाच्च प्राज्ञादिकः ।

तत्कर्म उदयजाता उदयजा तां सोदयजनितां क्रियां अधि-
कुर्वेत् अधिकृतां कुर्वेत्, अग्रगामिनीं कुर्वेदित्यर्थः । खलु निधिर्तं
३ सुख-दुःखे फले साधयेत् । एवमेव अमुना प्रकारेणैव सकला सम-
स्ताऽपि क्रिया फलेन आत्मा समृद्धा फलाऽत्मा फलवती खात्
भवेत्, तत्सात्कारणादिह कर्म सिद्धति ॥ १९ ॥

६ अथ पराऽभिप्रायमाविप्कुर्वन्नाह—

कीर्तिलाभफलमस्त्यथ दाने मांसभोजनफलं पशुधाते ।

८ धान्यवद्धवतु दृष्टफलैव सा क्रिया कथमदृष्टविकल्पः ? ॥ २० ॥

९ अथेति प्रतिशायां, दाने दानादिविषये कीर्त्येशसो लाभ एव
फलमस्ति । तथा पशुनाम् अज-मृगदीनां पाते विनाशे मांसभोजनमेव
फलमस्ति, न तु अद्यै पुण्यपापकर्मणि इति भावः । ततश्च सा क्रिया

३२ धान्यवत् कृपेष्ठान्यमिव दृष्टं फलं यस्याः सा दृष्टफलैव भवतु ।

अदृष्टस्य विकल्पो विमर्शः कथं ?, किमर्थं क्रियते इत्यर्थः । अयं
भावः—कृप्यादिक्रियाः दृष्टधान्याद्यवासिफला दृष्टा, अतो दानादि-
३५ क्रियाणामपि दृष्टमेव कीर्तिलाभादिकं फलं भविष्यति, किमदृष्टकर्म-
लक्षण(फल)साधनेनेति ॥ २० ॥

अथ पराऽभिप्रायं निराकुर्वन्नाह—

१० मा ग्रहीद्विजवरेति विवादं यतु दृष्टमिह तद्य विनष्टम् ।

साद्धवाऽट्टनमहो ! यद् यसाद्येन्द्रीच्छसि फलं तददृष्टम् ॥ २१ ॥

११ हे द्विजवर ! ब्राह्मणथेषु ! अग्निश्च ! त्वं इत्युक्तनीत्या विरुद्धो
यादो विवादस्तुं मा ग्रहीर्मा गृहाण । कथमित्याह—यतु दृष्टं फलं तद्य

१२ दृष्टय विनष्टं, चेद्यदि तत् अद्यैं कर्मलक्षणं फलं त्वं नहि इच्छसि
१३ तद्य हि अहो अग्निश्च ! त्वं यद् कथय—ग्राहाऽट्टनं परमये गमनं,

बीवस्येति शेषः, फसादेतोः स्यात् ?, न कुतोऽपीति भावः ।
तसाद्वाऽटनहेतुभूतं शुभाऽशुभक्रियाजन्यमद्यं फर्मेव प्रतिपद्यस्येति
तात्पर्यम् ॥ २१ ॥

पुनः पराऽशङ्कामाविष्टस्य निराकुर्वन्नाह—

सा क्रिया फलतु यत्फललिप्सा

मा परेति सफलाः सकलाः किम् ? ।

नैवेमिच्छति न बन्धनवाधां

चौर्यकृत्किमु लभेत फलं तत् ? ॥ २२ ॥

यत्फललिप्सा यस्याः क्रियायाः फलस्य लब्धुमिच्छा भवेत् सा १
क्रिया फलतु सफला भवतु परं अपराऽन्या यस्याः फललिप्सां नास्ति
सां क्रिया मा फलतु इत्यतः सकलाः समस्ताः क्रियाः सफलाः
फलवस्यः किं कथमुक्ता ? इत्यर्थः । एवमिति । हे गौतम ! एवं १२
चेन्मन्यसे तर्हि चौर्यं करोतीति चौर्यकृन्मनुष्यो बन्धनस्य वाधा
षीढां नेच्छति, परं तत् चौर्यक्रियाजन्यं बन्धनवाधादिकं फलं किमु
न लभेत न प्राप्तुयात् ? प्राप्तुयादेवेति गावः । यदुक्तं विशेषावश्य- १५
कवृचौ—‘ननु दानादिक्रियाऽनुष्ठातृभिर्यदद्यं धर्मलक्षणं फलमाशं-
सितं तरेषां भवतु, येष्टु कृपि-हिंसादिक्रियाकर्तृभिरहटमधर्मरूपं
फलं नाशंसितं, तरेषां कथं भवति ?’ इति चेत्—तदयुक्तं, न १८
खविकलं कारणं सकार्यं जनयत् कस्याप्याशंसामपेक्षते किन्तव्यवि-
फलकारणतया सकार्यं जनयत्येव; इत्यादिवहुविस्तुरः, स च तत्र
(पृ० ६९२ तः आरम्भ) एवावगन्तव्यः ॥ २२ ॥

१ इह ‘नैवेमिच्छति न बन्धनस्य द्वा याधां चौर्यकृत् किमु लभेत् तत्’ इति
काशीमुद्रिवपाठोऽर्थवैकस्याच्छन्दोमहादोपदुष्टलाप्य प्रामादिकः ।

ननु प्रायेण लोको दृष्टगत्रफलासेव कृप्याद्यसत्कियासु प्रवर्चते;
अदृष्टफलासु पुनर्दानादिसत्कियासु कतिपयभाव एव लोकः प्रवर्चते;
३८ वहुः । ततश्च हिंसादीनामशुभक्रियाणामदृष्टफलाभावात् शुभः
क्रियाणामपि दानादीनामदृष्टफलाऽभावो भविष्यतीति पराऽभिप्रायमा-
शक्ष्याह—

६ सत्क्रियाकरणमस्ति सदाऽल्पं
दृश्यते हि वहुलं विपरीतम् ।
यत्र वा सकलकारणयोऽगोऽ-

९ निच्छतोऽपि खलु सा फलदा स्यात् ॥ २३ ॥
सत्क्रियाया दानादिशुभक्रियायाः करणं विधानं सदाऽल्पमे-
घाऽस्ति, पुंसामिति शेषः । पुण्यवद्विरेव तद्विधानात्, तेषां चार्य-
१२ त्वादिति भावः । विपरीतं कृप्याद्यशुभक्रियाकरणं हि वहुलं प्रज्ञुर्द-
दृश्यते, तत्कर्तृणामल्पपुण्यजनन्तूनां वहुत्वात् । वा पुनर्यत्र यस्य
क्रियायां सकलकारणानां योगः सम्बन्धो भवेत् खलु निश्चितं सा
१५ क्रिया अनिच्छतोऽपि फलमवाङ्छतोऽपि जन्तोः फलदा स्यात् । अयं
भावः—यदपि कृषि-हिंसादिक्रियाकर्त्तरो दृष्टफलगत्रार्थमेव ताः
समारमन्ते नाऽप्यमीर्थं तथाऽल्पपूर्णलक्षणं पापलक्षणमहृष्टफलमशुभते
१८ एव, अनन्तसंसारिजीवाऽन्यथानुपर्येः, ते हिंसादिक्रियानिगिर्चमन-
भिरपितप्यदृष्टं पापलक्षणं फलं वध्वाऽनन्तं संसारं परिग्रमन्तोऽ-
उनन्ता इह तिष्ठन्ति । दानादिक्रियानुषातारक्षु स्वस्याः, अदृष्टं पर्य-
ख्यं फलमासाध क्रमेण मुच्यन्त इति ॥ २३ ॥

२२ पुनः पराभिप्रायमाश्वस्य मगवानाद—

कर्म सिद्ध्यतु परं तदद्यन्तं मूर्चभित्यविमलं प्रतिभाति ।

मा विघेहि मनसेति विमर्शं भूय एव विपुलां शृणु युक्तिम् ॥२४॥

सुख-दुःख-शरीरादिसाधनं कर्म सिद्ध्यतु, परं तदद्यन्तं इग्विषया-३
ज्ञीतं कर्म मूर्चं मूर्चिमत् इत्येवं भवदुच्यमानं अविमलं प्रतिभाति,
निर्मलं न प्रतिभासते इत्यर्थः । अर्थं भावः—‘मूर्चमेव कर्म, तत्कार्यत्वं
शरीरादेमूर्चत्वात्, इह यद्यत्कार्यं मूर्चं तस्य तस्य कारणमपि मूर्तम्, ६
यथा घटस्य परमाणवः, यज्ञाऽमूर्चं कार्यं न तस्य कारणं मूर्चं, यथा
ज्ञानस्यात्मेति, समवायिकारणं चेहाधिक्रियते, न निमित्तकारणमूर्ता
रूपा-ऽस्त्रोकादय’ इति—युक्त्या भवद्विः कर्मणो मूर्चत्वमुच्यते पर-९
मेतत्रिश्चितं न प्रतिभाति, यतः सुख-दुःखादयोऽपि कर्मणः कार्यम् ।
अतस्येषामूर्चत्वात्कर्मणोऽमूर्चत्वमपि प्राप्नोति । न हि मूर्चादमूर्चप्रसवो
युज्यते । न चैकस्य मूर्चत्वममूर्चलं च युक्तं, विरुद्धत्वात् । इति । १२
हे अमिमूर्ते । इत्येवं मनसा विमर्शं वितर्कं मा विघेहि मा कुरु । भूय-
एवेति । अत्र एवशब्दोऽप्यर्थे, भूयोऽपि पुनरपि विपुलां विस्तीर्णं
युक्ति शृणु, भूय एवेति कथनादेका युक्तिरत्राऽनुकाऽप्यूद्या । तथा-१५
हि—अत्र एवाऽसाभित्र समवायिकारणमधिक्रियते न निमित्त-
कारणम्, सुखादीनां चात्मघर्मत्वादात्मैव समवायिकारणम् । कर्म
पुनर्देषामन्नपानादिविषादिवनिमित्तकारणमेवेति न कश्चिद्दोषः ॥२४॥ १५

अथ कर्मणो मूर्चत्वसाधनाय युक्त्यन्तराण्यप्याऽह—

वेदते सुखमधाप्यसुखं वा मोजनादिदहनाद्यनुपङ्गात् ।

मूर्चत्वाऽत्र यदि कर्मणि साऽपि प्रस्फुटा तनुवया न हि दृष्टा ॥२५ २१

मोजनादेशनादेर्दहनादेरप्यादेश अनुपङ्गः संसर्गः, तस्मासुखं
अथापि अमुखं दुःखं वा वेदते नुभूयते प्राणिभिः । अथाऽत्र सुखा-२३
१३ गौ० का०

दिकारणे भोजनादौ यदि मूर्च्छाऽस्ति तर्हि कर्मण्यपि सा मूर्च्छा-
ऽस्त्वेवेति शेषः । यदेवं तर्हि भोजनादाविष कर्मण्यपि सा सुषुट्ठा
३ कर्यं नोपलभ्यते ? इत्याशङ्क्याह—प्रेस्फुटेत्यादि । तनुतया आन्तर-
शरीरतया सूक्ष्मतया वा कर्मणि मूर्च्छा प्रसुषुट्ठा प्रकटा न हि दृष्टा,
भवाद्दैरिति शेषः । इदमत्र तात्पर्यम्—मूर्च्छ कर्म, तत्सम्बन्धे
६ सुखादिसंविचेः, इह यत्सम्बन्धे सुखादि संवेद्यते तन्मूर्च्छ दृष्टम्, यथा
आज्ञानाधाऽऽहारः, यच्चाऽमूर्च्छ न तत्सम्बन्धे सुखादिसंविदस्ति,
यथाऽकाशसम्बन्धे, संवेद्यते च तत्सम्बन्धे सुखादि, तस्मान्मूर्च्छ
९ कर्म इति । तथा यत्सम्बन्धे वेदनोद्घवो भवति तन्मूर्च्छ दृष्टं यथाऽमिः,
भवति चं कर्मसम्बन्धे वेदनोद्घवः, तस्माच्चन्मूर्च्छमिति ॥ २५ ॥

यददात्मगुणधर्मविभेदे

१२ वाद्यवस्तुबलतो बलधारि ।

तच्चदाऽर्थ्य ! परिभावय मूर्च्छ

पद्य कुम्भमपि तैल-घृताक्तम् ॥ २६ ॥

१५ आत्मनो गुणानां ज्ञानादीनां च तद्वर्गाणां विभेदेऽतिरिक्ते
सति यदद्वस्तु वाद्यस्य वस्तुनो बलतो बलधारि भवति तच्चदस्तु हे
आर्य ! अग्निभूते । त्वं मूर्च्छ परिभावय चिन्तय । अपि पुनरत्र निर्दर्शनं,
१८ तैल-घृताम्यां अर्कं ग्राहितं कुम्भं पर्टं पद्येत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुन-
रयम्—इह यस्माऽनात्मविज्ञानादेः सतो वादेन वस्तुना बलगाथीयते
तन्मूर्च्छ दृष्टम्, यथा येद्यादिना आधीयमानवलो पटः, आपीयते वादेः
मिथ्यात्वादिदेतुमूर्च्छवेष्टुभिः कर्मण उपचयलक्षणं बलं, तस्माच्चन्मूर्च्छ-
२२ मिति ॥ २६ ॥

यद्यदात्मगुणधर्मविभेदे भिन्नभिन्नपरिणाममवासप् ।

तत्तदार्थ ! परिभाष्य मूर्त्तं क्षीरसात्रय निर्दर्शनमत्र ॥ २७ ॥

आत्मगुणधर्मविभेदे आत्मगुणधर्मव्यतिरिक्तत्वे सति यद्वद्वस्तु ३
मिन्नं मिन्नपरिणामं अवासं प्रासं तत्तत् हे आर्थ । मूर्त्तं परिभाष्य ।
अत्रार्थे निर्दर्शनं द्वाषान्तं क्षीरं दुर्घं जात्रय अङ्गीकुरु । अयं
भावः—मूर्त्तं कर्म, आत्मादिव्यतिरिक्तत्वे सति परिणामित्वात्, ४
क्षीरमिवेति ॥ २७ ॥

योग्यतापरिणतं खलु मूर्त्तं दृश्यते ५ परमदृश्यमवेहि ।

ज्ञातमत्र पवनव्यषुकादि स्पष्टमेवमिह भावय कर्म ॥ २८ ॥ ६

लङ्घु निश्चितं, योग्यतया परिणतं मूर्त्तं वस्तु दृश्यते प्रत्यक्षमुप-
लभ्यते घटपटादिवत्, अपरं अन्यत् यद्योग्यतापरिणतं न भवति
तद्वस्तु अहश्यमप्रत्यक्षमवेहि जानीहि । अत्रार्थे पवनो वायुर्द्युषुकः ११
परमाणुद्वयनिष्पन्नः स्कन्धस्तादादि ज्ञातं द्वाषान्तः, पवनादेर्मूर्त्तत्वेऽपि
घटाधपेक्षयाऽतिसूक्ष्मत्वेन दर्शनयोग्यपरिणतेरमावाददृश्यतमित्यर्थः ।
एवं पवनादिवदिह लोके कर्माऽपि स्पष्टं निःसन्देहं भावय विचिन्तय । १५
एतेन कर्मणो मूर्त्तत्वं साधितं इह विशेषावद्यकवृत्तौ वेदोक्तद्वारे-
णाऽपि कर्म साधितमत्ति, तदधिकारश्च वहुत्वेन सूक्ष्माद्वृत्ताऽनुकृत्वा-
दिहापि न लिख्यते, विशेषार्थिना तत (गा० १६४० पृ० ७०० १८
तः आरभ्य) एवावसेयः ॥ २८ ॥

इत्थं भगवताभिहितेऽभिभूतिः किं कृतवानित्याह—

इत्थमात्महृदि संशयमङ्गे-

सर्ववेदिनमिनं प्रतिपद्य ।

खण्डकैः सह शिवोचितमार्गे

सोऽग्निभूतिरपि दीक्षित आसीत् ॥ २९ ॥

१ इत्थमुक्तप्रकारेण आत्महदि खहदये संशयमङ्गे सन्देहनिवृत्तौ
सत्यां इनं श्रीवीरस्वामिनं सर्ववेदिनं सर्वज्ञं प्रतिपद्य ज्ञात्वा सोऽग्नि-
भूतिरपि खण्डकैद्वात्रैः सह शिवोचिते मुक्तियोग्ये मार्गे जैने
इत्यर्थः । दीक्षित आसीत् प्रमुपाश्च दीक्षां जग्राहेत्यर्थः ॥ २९ ॥

→ इति अग्निभूतेदीक्षाग्रहणवर्णनम् ←

अथ वायुभूतेस्तदाह—

२ वायुभूतिरथ तछुबुधुभूर्धत्युग्ममपि दीक्षितमेवम् ।
मुक्तचारवचनादधिगत्य से मनस्पि भृशं विमर्श ॥ ३० ॥

अथानन्तरं तस्माग्निभूतेल्पुबन्धुर्लघुआता वायुभूतिरपि, मुक्तः
३२ प्रमुपाश्च स्वयं प्रहितो यश्चारो हैरिकस्तस्य वचनादेवमुक्तप्रकारेण
आत्युग्ममपि दीक्षितं अधिगत्य ज्ञात्वा से मनसि स्वकीये हृदये
मृशमत्यर्थं विमर्शं विचिन्तयामास । अत्र चतुर्थपादसोऽपिशब्दः
३५ अन्ययोजनायां प्रथमपादस्यकर्तृपदामे द्वोध्यः । अधिगत्यत्वं ‘वा
स्यपि’ (११४३८) इति वैकल्पिकोऽनुनासिकलोपः ॥ ३० ॥

किं विमर्शेत्याह—

१० गन्धहस्त्युपमयोपमितौ यौ तावुभावपि दुधौ मम बन्धू ।
यं गुरुं दिनयतः प्रतिपन्नौ श्रेयसे मवतु मे स उपास्यः ॥ ३१ ॥

यस्य गन्धेन सर्वेऽपि हस्तिनो निर्मदा भवन्ति स गन्धहस्ती-
सुच्यते । यौ परवादिमदनिवारणे गन्धहस्तिन उपमितौ युक्तौ
३२ आस्यामिति शेषः । ही उभी अपि दुधौ यण्डितौ मम बन्धू आत्मौ

विनयतो विनयेन यं गुरुं प्रतिपक्षौ अङ्गीकृतवन्तौ स एव गुरुः
श्रीवीरप्रभुमें भमाऽपि उपास्यः सेवनीयः सन् श्रेयसे कल्याणाय
भवतु ॥ ३१ ॥

३

मन्मनोमलविशोधनमद्यो-

पेत्य तं जिनपतिं विदधामि ।

चिन्तयन्निति स नाथसमीपे

६

पञ्चखण्डकशैः सहितोऽगात् ॥ ३२ ॥

तं जिनपतिं उपेत्य समीपे गत्वाऽथ मम मनसो मलस विशो-
धनं विदधामि कुर्वे इति चिन्तयन् स वायुमृतिः पञ्चखण्डकशैः ९
पञ्चशैतं छात्रैः सहितो नाथसमीपे प्रभुपञ्चेऽगात् गच्छति स ॥ ३२ ॥

आजुहाव विभुरप्यमुमेचं

किं ब्रवीषि न समीरणभूते ॥

१२

या श्रुताध्ययनतो विचिकित्सा-

मादधासि तनुजीवविभिदे ॥ ३३ ॥

विभुः श्रीवर्द्धमानप्रभुरपि अमुं वायुमृतिं एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण १५
आजुहाव आहयति स, जस्ययति सेति यावत् । कममित्याह—हे
समीरणभूते । वायुमृते । श्रुताध्ययनतो वेदशास्त्राध्ययनात् तनु-
जीवयोर्विभिदे देह-जीवयोर्भिन्नत्वे यां विचिकित्सा संशयं आदधासि १६
आरयसि तां किं न ब्रवीषि ॥ ३३ ॥

अथैवमुक्त्वा भगवान् स्यमेव तत्संशयं मादुप्कुर्वन्नाह—

यत्सुराङ्गसमवायसमृत्या

शीघ्रता न परतोऽन्नति तद्दत् ।

१३

चेतना क्षिति-जला-जल-वायु-
व्यूहजेयमिति चेतसि वेत्सि ॥ ३४ ॥

३ यद्यस्मात्कारणात् यथा सुराया मदिराया अङ्गानि अवयवं मूतानि
कारणानि तेषां यः समवायः समुदायो धातकीकुसुम-गुडादिकस्त-
सात् समुत्था उत्पन्ना क्षीबता मर्ता न परतः अञ्चति नान्यत्र कापि
४ गच्छति कियत्कालं सित्वा विनश्यतीत्यर्थः, तद्वत् क्षिति-जला-
जल-वायूनां पृथिव्यसेजोवायूनां यो व्यूहः समूहस्तसाजाता क्षिति-
जला-जलवायुव्यूहजा इयं चेतनाऽपि न परत्र गच्छति इति त्वं
५ चेतसि निचे वेत्सि जानासि । अयं भावः—यथा च मद्याह्नेषु मदु-
भावः प्रत्येकावस्थायामहृषोऽपि तत्समुदाये मूल्वा ततः किश्वन्तमपि
कालं सित्वा कालान्तरे तथाविघसामग्रीवशात् कुतश्चिद्विनश्यति,
१२ तथा पृथिव्यादिमूतगणेऽपि प्रत्येकमस्त् चैतन्यं मूल्वा ततः कालान्तरे
विनश्यति, ततो निश्चीयते मूलधर्मं एव चैतन्यं, तसात्स एव
जीवः तदेव च शरीरमिति त्वं जानासीति ॥ ३४ ॥

१५ वाक्यान्तरेषु पुनः शरीराद्विनो जीवः श्रूयते तदाह—

सर्गकामुकजनस्तु यजेतेत्यादिवाचि तनु-जीवविवेकः ।

योध्यते पुनरतः सद-सत्किं सास्थ्यमत्र लभसे न मुखैव ॥ ३५ ॥

१० तु इति विद्वेषे, सर्गकामुकः सर्गमिलापी जनो यजेत यज्ञं
कुर्यात् इत्यादिवाचि एवमादिकायां वाण्यां पुनः तनु-जीवयोर्विवेको
देहाजीवस्य मिश्रत्वमेव योध्यते ज्ञाप्यते, वेदेनेति शेषः । आदि-
शब्दात् ‘न ह वै सशरीरस्य प्रियोऽप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा
२५ यसन्तं प्रियोऽप्रिये न सृशत्’ इत्यादिवेदवाक्यपरिग्रहः । अतोऽसा-

त्कारणात् अनयोर्मधे किं सत्? किमसत्? इत्यं मनसि संशयं विभ्र-
णस्त्वं हे वायुमूले! अत्राऽस्मिन्नर्थे मुद्दैव वृथैव स्वास्त्वं चिरस्त्वैर्यं
न लभेत्, एतत्संशयस्य कर्तुमयुक्त्वादिति भावः ॥ ३५ ॥

अत्र भगवानुचरमाह—

या च शक्तिरसती प्रतिवस्तु सा कुतः समुदये समुदेति ? ।
चेदिदं न, सिकतासमवाये किं न तैलजननं जगतीष्म ? ॥३६॥ ६

या च शक्तिः प्रतिवस्तु असती वस्तु वस्तु प्रति अविद्यमाना,
सा समुदये वस्तुसमूहे कुर्तः समुदेति कथं प्रादुर्भवति ?, न समुदे-
त्येवेत्यर्थः । चेद्यदि इदं प्रागुकं न स्यात्; एतावताऽव्यवेष्वविद्य-९
मानाऽपि शक्तिः समुदाये चेत्प्रादुर्भवति तर्हि जगति लोके सिक-
तासमवाये वालुकासमूहे तैलजननं तैलोत्पत्तिः किं न इष्टम् ?, कथं न
इष्वते सोत्यर्थः । अयं भावः—न भूतसमुदायमात्रप्रभवा चेतना, १२
भूतप्रत्येकावस्थायां तस्या अंशतोऽपि सर्वथानुपलब्धेः, यथा प्रत्येकं
सर्वथाऽनुपलम्भाद्वेणुकणसमुदायप्रभवं तैलं न भवति । एवं चात्र
प्रयोगः—“यद्यपुं पृथगवस्थायां सर्वथा नोपलम्यते तचेषां समुदायेऽपि, १३
न भवति, यथा सिकताकणसमुदाये तैलम् । यतु तेषां समुदाये
भवति, न तस्य प्र(पृ)थगवस्थितेषु तेषु सर्वथाऽनुपलम्भः, यथा एकै-
कतिलावस्थायां तैलस्य, सर्वथा नोपलम्यते च भूतेषु प्रत्येकावस्थायां १४
चेतना, तस्यान्नासौ तत्समुदायमात्रप्रभवा, किंतु अर्थापिचेरेव अन्य-
त्किमपि जीवलक्षणं कारणान्तरं भूतसमुदायातिरिक्तं तत्र सद्विट्ठं
यत इयं प्रभवतीति प्रतिपचव्यमिति ॥ ३६ ॥ १५

१ विशेषा० बृहद्ब्रह्मगुसारेणाऽप्य पाठः (पृ० ७०७ गा० १६५२)।

३ चेतना ।

ननु 'प्रत्येकावस्थायां सर्वथाऽनुपलभ्मात्' इति नानैकान्तिकोऽयं
हेतुः प्रत्येकावस्थायां सर्वथाऽनुपलब्धस्यापि मदस्य मध्याङ्गसमुदाये
३ दर्शनादित्याशङ्क्याह—

शक्तिरन्वयवं मदिराया अस्ति चेत्समुदिता प्रवला स्यात् ।

चेन्न, तर्षनियतं मदिराङ्गं योज्यते न किमु मादसुखास्यै ॥३७॥

६ मदिरायाः शक्तिः अन्वयवं प्रत्यवयवं चेदस्ति तर्हि समुदिता
अवयवसमुदायस्या सा प्रवला स्यात्, चेददि पूर्वं न भवेत् तर्हि माद-
सुखस्य आस्यै मदसुखस्य प्राप्तये अनियतं अनिश्चितं धातकीकुमु-
९ मादतिरिक्तं यत्किञ्चित् भस्मगोमयादि मदिराया अङ्गं अवयवमूर्तं
कारणवृन्दं किमु न योज्यते कथं न संयुक्तीक्रियते ? । एतावता
१५ धातकीकुमुमादिभिर्नियतैरेव कारणैः संयोजितैर्मदशक्तिरूपवते न
त्वनियर्तैः, धातकीकुमुमादिपु पुनः पृथक् न सर्वथा मदो नाल्डि, अपि
तु या च यावती च मदमात्रा पृथगपि तेष्वस्त्येव, ततो नानैकान्ति-
कता हेतोरिति । मदि(दय)ति मदः स एव मादः प्रज्ञादित्वादण् ॥३७॥

१५ भूतेष्वपि एवं भविष्यतीत्याशङ्कामाविष्कृत्य परिहरन्वाह—

मात्रया क्षिति-जलादिपु विष्वकृ चेतनाऽस्तु सकला समवाये ।

मा ग्रहीरिति मर्ति, भूतदेहे लेशतोऽपि लभसे न कथं गाम् ॥३८॥

१८ मात्रयाऽल्पेन अंशेन क्षिति-जलादिपु पृथिव्यसेजोवायुलक्षणभूतेषु
विष्वकृ (! पृथक्) पृथक् चेतनाऽस्ति, सा चेतना समवाये भूत-
समुदाये सकला समस्ताऽस्तु । अयमर्थः—व्यस्तेष्वपि भूतेषु चेतन्य-
मल्डि, तत्समुदाये तदर्शनात्, मध्याङ्गेषु मदवदिति, यथा मध्याङ्गेषु
२२ मदः पृथक् अस्त्वाज्ञातिस्पष्टः तत्समुदाये तु प्राकृथमेति तथा

७४०६

भूतेष्वपि पृथगवास्यायामणीयसी चेतना तत्समुदाये तु मूयसीयम्
है वायुभूते । इति मर्ति एवंप्रकारा बुद्धे मा ग्रहीर्मा अङ्गीकुरु मृत-
समुदाये चेतनाया दर्शनात्, इति हेतोरसिद्धत्वात् । तथा हि—यदि ३
भूतसमुदायमात्रधर्मश्चेतना भवेत् तदा मृतदेहे मृतशरीरे लेशतोऽपि
तां चेतनां त्वं कथं न लमसे प्राप्नोयि ?, भूतसमुदायस्य तत्रापि
सत्त्वात्, ततश्च तत्र चेतनाऽनुपलभ्मात् न भूतसमुदायमात्रधर्मश्चेतना ६
इति, तथा चासिद्ध पदायं हेतुरिति भावः ॥ ३८ ॥

अथ वायु-वह्निकलानीं तत्रामावात्तदनुपलभ्म इत्याशङ्कामावि-
ष्टत्वं परिहरत्वाह— ५

वायु-वह्निविकले मृतदेहे सा न चास्ति मतिमित्यपि मा धाः ।
श्रोत्रतो नलिकया नय पूर्ति तत्र तौ यदि भवेद्द्वयदिष्टम् ॥३९॥

वायु-वह्निभ्यां विकले रहिते मृतदेहे सा चेतना न चास्ति न १२
विघते इत्यपि मर्ति त्वं मा धाः मा धारय । यदि वायु-वह्निसंयोगे
भवता इष्टं भवदिष्टं चैतन्यं भवेत् तर्हि तत्र मृतदेहे श्रोत्रतः कर्णा-
दिद्वारतस्त्रौ वाय्वमी नलिकया सुषिरोपकरणविद्वेषेण पूर्ति पूरणं नय १५
आपय पूरयेत्यर्थः । एतावता नलिकादिप्रयोगतस्तत्र तत्पक्षेऽपि चैत-
न्यानुपलभ्मात् भूतधर्मश्चेतन्यमिति भावः ॥ ३९॥

अथ विशिष्टेजो-ऽवादमावादनुपलभ्म इत्याशङ्का प्रादुष्कृत्य १८
प्रतिविधातुमाह—

७४०६

चेद्विशिष्टपवनाऽनलयोगो

नास्ति तत्र, तु कुतो न विशिष्टौ ? ।

कारणादपि कुतो यदि तत्, किं

देहवर्त्तिनसूर्पैपि न जीवम् ? ॥ ४० ॥

२१

२२

तत्र भूतदेहे विशिष्टयोः पवनाऽनलयोर्व्यवस्थयोर्योगः सम्बन्धो
नास्ति इति चेदाशङ्कसे तर्हि नु इति प्रथे, तत्र तौ विशिष्टौ कुर्ता
अन् ? , यदि त्वं त्रूपे कुर्तोऽपि कारणाचत्र तौ विशिष्टौ न सः तत्त्वाहि
देहवर्धिनं शरीरसं जीवं चेतनमेव किं न उपैपि प्राप्नोपि ?, कथं नाज्ञी-
करोपीत्यर्थः । किं नामाऽत्मसत्त्वं विहायाऽन्यच्छैशिष्ट्यं, ननु संज्ञा-
न्तरेणात्मसत्त्वमेव त्वयाऽपि प्रतिपादितं सादिति भावः ॥ ४० ॥

अथ भूतसमुदायातिरिक्तात्मसाधकानुमानसद्वावात् भूतवर्गश्चैत-
न्यमिति ज्ञापयितुं तदात्मसाधकमनुमानमाह—

३ भौतिकेन्द्रियविभावितमर्थं कः सरेद्यदि भवेत् हि जीवः ? ।
किं गवाक्षविवरैरत्तुभूतं संसरेद्यहमथो पुरुषो वा ? ॥ ४१ ॥

हे वायुभूते ! देहाद्विलो देहमध्यस्यो यदि जीव आत्मा न हि
१२ भवेत् तर्हि भूतेषु भवानि भौतिकानि यानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि
तैः करणभूतैर्विभावितं प्रकाशितं साक्षादनुभूतमिति यावत् । अर्थं
घटादिकं कः सरेत् ? न कोऽपीत्यर्थः । अत्र वृष्टान्तमाह—यथा
१५ गवाक्षविवरैर्गवाक्षच्छिद्वैरनुभूतमर्थं किं गृहमालयः संसरेत् ? अथो
वाऽथवा पुरुषस्तन्मध्यस्यो मनुष्यः संसरेत् ?, एतावता तत्र पुरुष एव
सरेत् तु गृहं, रद्वदत्रापि जीव एव संसर्चा न तु देह इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

१० अमुमेवाऽथ पुनः स्पष्टतरमाह—

मन्दिरे घनन पञ्चगवाक्षे भिन्नमिनकृतिकारकमेकम् ।
२० चेत्प्रपदयसि नरं गृहनायमेवमात्मनि तनायपि पश्य ॥ ४२ ॥

१ रिहितवेषोवायुस्त्रेण ।

पञ्च गवाक्षा यस्मिस्तात् पञ्चगवाक्षं तस्मिन् कचन कोऽस्मश्चिन्मन्दिरे
गृहे भिन्नभिन्नकृतीनां रूपदर्शन-रसाखादन-शब्दश्चयणादिभिन्नभिन्न-
क्रियाणां कारकं कर्त्तारं एकं गृहनाथं गृहस्तामिनं नरं चेद्यदि त्वं ३
प्रपश्यसि तर्हि एवमुना प्रकारेण तनौ शरीरे य जात्मा जीवस्तत्रापि
पश्य विलोक्य, ‘विवक्षातः कारकविमत्तयो भवन्ती’ति वचनात्
तनावात्मानमपि पश्येत्यर्थः । इह काव्यद्वयसूचिताऽनुमानस्तत्त्वम् ५
चेदम्—“भूतेन्द्रियेभ्यो भिन्नरूपस्य पदार्थस्य कस्याऽपि धर्मश्चेतनेति
प्रतिज्ञा, भूतेन्द्रियोपलब्धार्थाऽनुस्मरणादिति हेतुः, यथा पञ्चभिर्ग-
वाक्षैरुपलब्धान् अर्थात् अनुसारतस्तदतिरिक्तस्य कस्यापि देवदत्तादेः ९
पुरुषस्य चेतनेति दृष्टान्तः । अयमत्र तात्पर्यार्थः—इह य एको
यैरनेकैरुपलब्धानर्थान्ऽनुस्मरति स तेभ्यो मैदवान् व्यष्टः, यथा पञ्च-
भिर्गवाक्षैरुपलब्धानर्थान्ऽनुस्मरन् तेभ्यो देवदत्तः, यथा यसाऽभूतेन्द्रिया- १२
त्मकसमुदायाद्विनो न भवति किं तर्हि ६ अनन्यः, नायमेकाऽनेकोप-
लब्धानामर्थानामनुसर्ता, यथा शब्दादिप्राहकमनोविज्ञानविशेषः,”
इत्यादि विशेषावश्यकवृत्तौ (पृ० ७०९ गा० १६५७) ॥ ४२ ॥ १५

अथापरमपि भूतव्यतिरिक्ताऽत्मसाधकमनुमानमाह—

यच्च धित्सति पयः शिशुरादौ क्वापि तत्प्रथमवृत्तित एव ।
जीवमेनमवगच्छ तत्स्तवं देहभिन्नमपराऽपरदेहम् ॥ ४३ ॥ १६

१ गवाक्षेभ्यः । २ व्याप्तिरिये—यदुत ‘यो यस्मात् भूतेन्द्रियात्मकसमुदायाद्
अभिज्ञः । स एक एव न अनेकोपलब्धानामर्थानां अनुसर्ता, अनेकैभूतेन्द्रियेषुप-
लब्धानां पदार्थानां एक एव अनुसर्ता स भवति यो तेभ्यो भूतेन्द्रियेभ्यो भिन्नो
वतीते, तस्माक्षिगम एप-आत्मा तेभ्यो भूतेन्द्रियेभ्यो भिन्नो, यतः तस्याऽत्मनः
तैषपलब्धानामर्थानां एकस्यैव अनुसर्त्वात् ।

यच्च यत्पुनः शिशुर्बाल आदौ प्रथमत एव पयो मातुः स्तनोद्धृत्वं
दुग्धं धित्सति धातुमिच्छति पार्न कर्तुं वान्धतीत्यर्थः । तत् कापि
१ कस्मिंश्चिद्द्वान्तरे प्रथमवृत्तिः प्रथमवृत्तेव प्राक्कनजन्माभ्यासा-
देवेत्यर्थः । ततस्यात्कारणात् हे वायुमूते । त्वं एनं देहाच्छरीराद्
मिन्नं अत एव प्रतिभवं अपरे अपरे देहा यस्य सोऽपराऽपरदेहस्तं
३ नीवं चेतनमवगच्छ जानीहि । धित्सतीति । ‘धेद् पाने’ सन्नन्तः
‘सनि मीमा—’ (७।४।५४) इत्यादिना इसादेशः । इदमन्त्र
तात्पर्यम्—योऽयमाद्यः स्तनाभिलापो बालस्य, अयमन्याभिलाप-
१ पूर्वकः, अनुभवात्मकस्वादभिलापत्वात् च, सांप्रताभिलापवदिति ।
इह योऽभिलापः सोऽन्याभिलापपूर्वको दृष्टिः, यथा सांप्रताभिलापः
यदभिलापपूर्वकश्चायमाद्यः स्तनाभिलापः स शरीरादन्य एव, पूर्व-
१२ शरीरपरित्यागोऽपि इहत्याऽभिलापकारणत्वात् । ज्ञानगुणश्चाभिलापो न
गुणिनमन्तरेण संभवत्यतो यस्याश्रयमूतो गुणी स शरीरातिरिक्त
आल्मेति ॥ ४३ ॥

१५ अनुभानान्तरमाद—

एवमेव सुख-दुःख-भयादेवेदकः स च परम्परयाऽर्भः ।

चेतना तद्य मता तनुजा चेदादितः कथमसौ व्यवहारःै ॥ ४४ ॥

१६ च पुनः सोऽर्भो बालः एवमेव उक्तप्रकारेणैव परंपरया जन्मान्तर-
संसक्त्या मुख-दुःख-भयादेवेदको विज्ञाता वोध्य इति श्रेष्ठः । चेष्टदि-
तनोर्जाता तनुजा शरीरजा एव चेतना तद्य मताऽभिप्रेता तर्हि आदितः
२१ प्रथमत एव असौ मुख-दुःख-भयादिसंवेदनलक्षणो व्यवहारः कथं
सादिति श्रेष्ठः । अयं भावः—अन्यमुखपूर्वकमिदमार्यं बालमुखं,
२२ अनुभवात्मकत्वात्, सांप्रतमुखवत्, यस्मुखपूर्वकं चेदनार्यं मुखं

तच्छरीरादन्यदेव, तदत्येऽपि इहत्यमुखकारणत्वात्, गुणश्चायन्, स
च गुणिनमन्तरेण न सम्भवति, असौ यज्ञस्याश्रयमूर्तो गुणी स देहा-
द्धिजः मुखानुभूतिमयो जीव इति सिद्धम् । एवं दुःखमयनामद्वैप-३
शोकादयोऽपि जानीयाः । मतेति । 'मतिबुद्धि' (३।२।१८८)
इत्यादिसूत्रेण वर्तमाने क्षः । मतिरिह इच्छा, बुद्धेः पृथगुपादानात् ।
तदेत्यत्र 'क्षस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) इति पष्ठी । मता इष्टा, ६
त्वया इप्यमाणेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अथैवमनुभानेन शरीराद्धिक्षं जीवं चंसाद्य पुनः परामिप्रायं
प्रादुपृक्षत्वं निराकुर्वन्नाह— १

चेत्स्वमावभवलम्ब्य न मुच्चे-
राग्रहं, वद तदा स च कीदृक् १, ।

चिन्मयोऽयमिति चेत्, न जडेना-

न्वेति भूतनिवहेन चिदात्मा ॥ ४५ ॥ १२

हे वायुमूर्ते ! चेद्यदि इहत्यमुखाद्यनुभवस्य कारणं स्वमावभव-
लम्ब्य आत्रित्य शरीरादभिन्न एवात्मेति आग्रहं हठं त्वं न मुच्चेन्मै १५
त्यजेः, तदा वद न्नूहि स चात्मा कीदृक् १ कीदृशोऽनुत्तीत्यर्थः ।
अयाऽयमात्मा चिन्मयो ज्ञानमय इति चेद्यै तर्हि चिदात्मा चिन्मयो
जीवो जडेन भूतनिवहेन भूतसमुदायेन न अन्वेति न समवाय- १८
सम्बन्धमुपगच्छति । अवयवावयविव्यतिरिक्षयोर्द्रव्ययोः संयोगसम्ब-
न्धस्यैवाभ्युपगमात्, अवयवावयविभावस्त्वनीयोर्न संबाधटीति मित्रैः २०

१ देहाऽऽस्त्वनोः । २ उपम् मित्रस्वमावता-यत् आत्मनो ज्ञानमयत्वं-
चेतनहपदा, शरीरत्वं च जडखक्षपदा ।

खभावत्वात् । अनयोः संयोगसम्बन्धाभ्युपगमे तु सिद्ध एव देहाद्विनो
जीव इति भावः ॥ ४५ ॥

३ अथोपसंहरन्नाह—

अस्ति सं प्रकट एव तदात्मा
मेदवांश मनसोऽप्युपयोगी ।

४ व्यापृतिं जगति यस्य विमुच्य
ज्ञानकार्यमखिलं निहतं स्यात् ॥ ४६ ॥

१ तत् तस्माकारणात् स आत्मा प्रकट एव शरीराद्वेदोऽस्याखोति
२ मेदवान्, च पुनर्भनसः सङ्कल्पहेतोश्चेतसोऽपि उपयोगोऽस्याखोति
उपयोगी अस्ति विद्यते । यस्याऽत्मनो व्यापृतिं व्यापारं विमुच्य
त्यक्त्वा जगति लोकेऽखिलं समस्तं ज्ञानकार्यं ज्ञानविपर्यीमूर्तं कार्यं
३ निहतं स्यात् निहन्येत । ततश्च स आत्मा शरीराद्विज एव प्रतिपत्तव्य
इति तात्पर्यम् ॥ ४६ ॥

एवं भगवता संशये छिन्ने सति वायुभूतिः किं कृतवानित्याह—

५ इति हृदि कुविकल्पव्याधिवाधावियुक्तो
भगवति जिननाथे सर्ववित्त्वं प्रतीत्य ।
सपदि सपरिवर्हस्त्रीणि रक्तानि गृह्णन्

६ शिवपदपथपान्थोऽभूद्विजो वायुभूतिः ॥ ४७ ॥

इत्यनेन प्रकारेण हृदि हृदये यः कुविकल्पः कुत्सितविमर्शः स
एव व्याधी रोगस्य वापया पीडया वियुक्तो विप्रमुक्तो वायुभूति-
१ द्विजो भगवति जिननाथे श्रीवीरस्तामिनि सर्ववित्त्वं सर्ववृत्तं मतीत्यं

१ भिषजोरेव द्रव्ययोः संयोगः इति व्याधनयैन खीकृतलालृ ।

ज्ञात्वां सपदि शीघ्रं सह परिबहेणेति सपरिबहृः सपरिकरः व्रीणि
रक्षानि ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि । गृहन् भगवत्पाश्चें स्त्रीकुर्वन् शिव-
पदस्य मुक्तिस्थानस्य यः पथो मार्गस्त्रव धान्थः पथिकोऽभूत् । ५
पथेति । पथशब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति ‘वाटः पथश्च मार्गश्च’ इति
त्रिकाण्डशेषोक्तो उक्तत्वात् । पान्थ इति । पन्थानं नित्यं गच्छतीति
विग्रहे ‘पन्थो ण नित्यम्’ (५।१।७६) इति षष्ठ्यत्ययः, पन्थ इत्या-६
देशश्च । इदं मालिनीछन्दः, एतलक्षणं तु प्रागुक्तमेवेति ॥ ४७ ॥

इति गौतमलघुबन्धुद्वयदीक्षाग्रहणवर्णनो
नामाऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

९

इति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाल्यायां श्रीगौतमीयमहाकाव्याल्यायां
अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

१३

नवमः सर्गः ।

व्यक्ताभिधानोऽथ विशारदानां सदस्युपाध्यायपदप्रतिष्ठः ।
आत्रत्रयं प्रवजितं निशम्य श्रीवीरनाथं प्रणिनंसुरासीत् ॥ १ ॥ १५
विशुद्धविशानकरं प्रसार्य व्यक्तादिविप्रा भवसिन्धुमध्यात् ।
समुद्भूता येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै त्रिशत्ताऽऽत्मजाय ॥ १ ॥

अथानन्तरं विशारदानां पण्डितानां सदसि समायां उपाध्याय-१६
पदस्य प्रतिष्ठा स्थापनं यत्य स तथोक्त एवंविषो व्यक्ताभिधानो
व्यक्तनामा पण्डितः, आत्रत्रयमिन्द्रमूल्यादिसहोदरत्रितयं प्रवजितं
श्रीवीरपाश्चें दीक्षितं निशम्य ध्रुता श्रीवीरनाथं प्रणन्तुमिच्छुः प्रणिनंसुः
आसीत् अभवत् । स्यमपि भगवन्तं, नगस्त्वर्तुमैच्छदित्यर्थः ॥ २२

प्रतिष्ठेति । 'प्रतिष्ठा मर्यादादेवादिस्यापनयोरपी' ति मद्रः (१) । अस्मिन्
सर्गे इन्द्रजोपजातिछन्दसी, तष्ठक्षणे च प्रागुक्ते एव ॥ १ ॥

३ समाजगाम स्वपरिच्छदेन
छद्र व्यतीत्याऽशु जिनोपकण्ठम् ।
व्यक्ताऽभ्युपेहीति जिनोऽप्यवादी-
द्विमुच्च भूतेषु च नास्तिभावम् ॥ २ ॥

अत्र 'स' इति कर्तृपदमध्याहार्थम् । स व्यक्तनामा उपाध्यायः
छद्र शार्वं व्यतीत्य विलङ्घ्य परित्यज्येति यावत् । आशु शीर्षं
४ स्वपरिच्छदेन सच्छान्नपरिवरेण सह जिनस्य श्रीवीरपरमेष्वरस्य
उपकण्ठं समीपं समाजगाम संप्राप्तः । तदा जिनो वीरप्रभुरपि हे
व्यक्त । स्वभ्युपेहि अभ्यागच्छ, च पुनर्भूतेषु पृथिव्यादिषु नास्ति-
१३ मावं नास्तित्वं विमुच्च परित्यज, 'भूतेषु नास्तित्वबुद्धिं मा धा' इत्यर्थं,
इत्येवमवादीत् चक्षति स्म ॥ २ ॥

अथ यथा एतस्य संशयस्तथा दर्शयन्नाह—

१५ समोपमं वै जगदिन्द्रजालो-
पमं विचार्येति वचो विचारम् ।
भूतानि लुम्पस्यवा व्यपेक्षा-
१६ माश्रित्य सर्वं ननु वेत्सि शून्यम् ॥ ३ ॥

हे व्यक्त ! वै इत्यवधारणे, हृदं जगत् समोपमं अथवा इन्द्रजालो-
पमं वर्षते इत्येवं रूपं विचारोऽस्त्वलिन्निति विचारं 'अर्शादिम्बोऽच्'
(५।२।१२७) विचारणाभिमतमित्यर्थः । वचो वेदवचनं विचार्यं
२३ सद्गदये पर्यालोच्य त्वं भूतानि लुम्पसि नास्तित्वेन विजानासि अथवा

विरुद्धा अपेक्षा व्यपेक्षा विरुद्धवेदपदार्थपर्यालोचना तामाश्रित्य, ननु इत्यवधारणे, सर्वं लोकं शून्यं वेत्सि जानासि । अयं भावः—पृथिव्यसे-जोवाच्चाकाशलक्षणानि पञ्चभूतानि तानि च किं सन्ति न वेति त्वं ३ मन्यसे, संशयश्च तवाऽयं विरुद्धवेदपदथवणनिबन्धनो वर्तते । तानि चामूनि वेदपदानि—‘खग्रोपमं वै सकलम्’ ‘इत्येप ब्रह्मविधिरङ्गसा विज्ञेय’ इत्यादि, ‘तथा पृथिवी देवता आपो देवता’ इत्यादि । एतेषां ६ चायमर्थः तव प्रतिभासते, खग्रोपमं खग्रसद्वर्णं वै-निपातोऽवधारणे, सकलमशोषं जगदित्येप ब्रह्मविधिः परमार्थप्रकारः अङ्गसा प्रगुणेन न्यायेन विज्ञेयो ज्ञातव्य इति, तदेवमादीनि वेदपदानि किल भूत-९ निहवपराणि तथा पृथिवी देवता इत्यादीनि तु तत्सचापतिपादकानि, अतस्तव संशयः ।

भूतानां खग्रसद्वर्णादिभावना त्वेवं, यथा हि—खग्रे किल कश्चि- १२ त्रिःसोऽपि निजगृहाङ्गणे गजपटा-तुरगगण-मणि-कनकराश्यादिक-मभूतमपि पश्यति । “मायायां चेन्द्रजांलक्रियारूपायामविद्यमानमपि कनक-मणि-मौक्तिक-रजतभाजनां-५५राम-पुष्प-फलादिकं दृश्यते तथै- १५ तान्यपि भूतान्येवंविधान्येव, यतो विचार्यमाणान्येतानि सर्वयैव न काञ्चित्युर्क्ति सहन्ते । भूतेषु संशये पुनर्जीवादिषु का वार्ता? तेषां भूतविकाराधिष्ठानत्वात्, तस्मात्सर्वस्यापि भूतजीवादिवस्तुनस्त्वदभि- १० प्रायेणाऽगावात् सर्वशून्यताशङ्की त्वं निरवशेषमपि लोकं खग्रेन्द्रजा-रूपायोपमं मन्यसे इति” । परमेतेषां वेदपदानामर्थं, युक्तिहृदयं च त्वं न वेत्सि तेन संशयं कुरुते । एषामर्थस्तु अग्रे वक्ष्यते ॥ ३ ॥ २१

१ विशेषां यूहदृतिं (पृ० ७२२ गा० १६९१) ।

अथ व्यक्तचेतोगतां युक्ति भगवान् व्यक्तीकुर्वन्नाह—

तथा स्तुम्भव्यतिरिक्तकुम्भेऽन्योन्याश्रयाऽपेक्षणमस्ति यसात् ।

३ सिद्धिः स्तो वस्तुन एव नालि, प्रतीयते तेन तु शून्यतैव ॥४॥

तथा हि तामेव युक्ति दर्शयति—कुम्भाद्वाद् व्यतिरिक्ता

अकुम्भाः स्तम्भादयः पदार्थस्तेभ्यो व्यतिरिक्तो भिन्नः कुम्भः तत्र,

५ यसात्कारणादन्योन्याश्रयस्य इतरेतराश्रयस्य अपेक्षणमपेक्षाऽस्ति । न

हि अकुम्भव्यतिरेकेण चाऽकुम्भ इति व्यपदेश इति स्पष्टमेवाऽन-

योरन्योन्याश्रयत्वमित्यर्थः । तसात् स्तोऽन्याऽनपेक्षया वस्तुनः

९ कस्यापि पदार्थस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्नास्त्येव । तु इति विशेषे, तेन हेतुना

शून्यतैव प्रतीयते ज्ञायते ॥ ४ ॥

यथा स्तो न सिद्धिस्तथा परतोऽपि नेत्याह—

१२ यः कथिदर्थः स च कार्यरूपः स्यात्कारणं वा व्यवहारतोऽत्र ।

परस्परापेक्षितयाऽनयोर्येत्स्तो न सिद्धिः परतोऽपि नैवम् ॥५॥

अत्राऽस्मिन् लोके यः कथिदर्थः स च व्यवहारतः कार्यं रूपं

१५ स्तरूपं यस्य स कार्यरूपः स्यात् । कारणं वा कारणरूपो वा स्यात् ।

अनयोः कार्यकारणयोः परस्परापेक्षितयाऽन्योन्यापेक्षित्वेन यदसा-

त्कारणात् स्तो न सिद्धिः एवमसुनैव प्रकारेण परतोऽपि न सिद्धिः;

१८ अस्तीति शेषः । अत्र चिशेषावश्यकवृत्त्यनुसारेण काव्यद्वयस्य भावना

त्वियम्—“हे व्यक्त ! भवतोऽयमभिप्रायो यथा किल न स्तो न

२० परतो न चोमयतो नाऽप्यन्यतो भावानां सिद्धिः सम्भाव्यते, कार्य-

१ ‘तेन तु शून्यतैव’ इति आशीमुद्दितपुस्तके पाठः, स च दीक्षाहृतो न सम्भव इति प्रतिभावि । २ ‘स्तोऽपि सिद्धिः परतोऽपि नैवम्’ इति आशीमुद्दितपाठः ।

कारणादिगावस्याऽपेक्षिकल्वात्, हस्यदीर्घव्यपदेशवर्त् । तथा हि—
यत् किमपि भावजातमस्ति तेन सर्वेणापि कार्येणापि भवितव्यं,
कारणेन वा, तत्र कार्यं कारणेन क्रियत इति कारणार्थं एव तस्मै ३
कार्यव्यपदेशः, न तु (कार्यस्य) कार्यत्वं स्वतःसिद्धं क्रिमप्यस्ति ।
एवं कारणमपि कार्यं करोतीति कार्यायत एव तस्य कारणत्व-
व्यपदेशः, न तु तस्य कारणत्वं स्वतःसिद्धं किंनिदस्ति । तदेवं ४
कार्यादिभावः स्वतो न सिद्ध्यति, यच्च स्वतो न सिद्धं तस्य परतोऽपि
सिद्धिर्नास्ति, यथा स्वरविपाणस्य । ततश्च न स्वतःकार्यादिभावो नापि
परतः, ‘स्वपरोभयात्तर्हि तत्सिद्धिरिति’ चेत्—तदयुक्तं, व्यखादु-५
मयस्मात्सिद्धेरभावात्समुदायेऽपि तदऽयोगात् । न हि सिकताकणेषु
प्रत्येकमसत्त्वं तस्मुदाये प्रादुर्भवति, अपि च उमयस्मात्सिद्धिपूक्षे
इतरेतराश्रयदोषः प्राप्नोति । यावद्भि कार्यं न सिद्ध्यति न ताव-१२
त्कारणसिद्धिरस्ति । यावच्च कारणं न सिद्ध्यति न तावत्कार्यं सिद्धि-
मासादयति, अत इतरेतराश्रयदोषः, तस्मान्नोभयतोऽपि कार्यादि-
भावसिद्धिर्नाप्यन्यतोऽनुभयत इत्यर्थः । स्वपरोभयव्यतिरेकेणाऽन्यस्य १५
वस्तुनोऽसत्त्वेन निर्हेतुकल्पप्रसङ्गात् । एवं हस्य-दीर्घलक्षणे हृष्टान्तोऽ-
प्यन्ययो मावनीयः । तथा हि—प्रदेशिन्या अनुभूमपेक्ष्य दीर्घत्वं
प्रतीयते । मध्यमा त्वपेक्ष्य हस्यत्वं, परमायेन त्वियं स्वतो न हस्या-१६
नापि दीर्घा; तदेवं न स्वतो हस्यदीर्घत्वयोः सिद्धिः । ततः परतः,
उभयतः, अनुभयतश्च तत्सिद्ध्यमावो यथोक्तवद्वावनीयः, तस्मात्कथ-
मपि वस्तुसिद्धेरसम्भवात् शून्यतैव सिद्ध्यतीति ॥ ५ ॥ —— २१
— पुनः प्रकारान्तरेणापि शून्यतासिद्ध्यर्थं यत्तेनाभिप्रेरतं तद्वाग-
वानाऽहं—

— सूक्ष्मत्वतो वस्तुनि नाभिगम्या-
वाद्यन्तमागौ परमाणुरूपौ ।
३ लभ्यं कर्थं चा तदधीनमध्यं ?
तस्मात्तवाऽस्या ननु शून्यतायाम् ॥ ६ ॥

अत्र परमाणुशब्देन परमाणुप्रतरो लक्ष्यते । ततश्चायमर्थः—
४ परमाणुरूपौ परमाणु-प्रतरस्तरूपौ वस्तुनि स्तम्भादिपदार्थे आद्यन्तमागौ
सर्वारातीयमागपरमागौ सूक्ष्मत्वेन नाभिगम्यौ नोपलभ्यौ
स्तः, वा पुनस्त्योराद्यन्तमागयोरधीनं तदधीनं तदन्तरितमित्यर्थः,
९ इदैश्च यन्मध्यं वस्तुनो मध्यमागस्तत्कथं लभ्यम् ? अदर्शनादेव
तत्त्वोपलभ्यते इत्यर्थः । तस्मात्कारणान्ननु निश्चितं तत्र शून्यताया-
मास्याऽपेक्षा आदरोऽस्तीत्यर्थः । अत्रायं मावः—इह यचावद्दृश्यं
१२ तदसत् एव, अनुपलभ्यात्, सरविषाणवत्, इति निवृत्ता तद्वार्ता । दृश्य-
सापि च स्तम्भ-कुम्भ-कुड्यादेः पर-मध्यमागमोरसत्त्वमेव, अर्द्धमागा-
न्तरितत्वेन तयोरप्यदर्शनात्, अर्द्धमागस्यापि च सावयवत्वात्पुनरन्यः
१५ स्तम्भाराद्वागस्तस्याप्यन्य इत्येवं तावद्यावत्सर्वारातीयमागस्य परमाणु-
प्रतरमात्रत्वेनाऽतिसौक्ष्म्यात्पूर्वेषां चाराद्वागानामन्यस्यान्येनान्तरित्वेना-
नुपलभ्यिः । ततश्चोक्तन्यायेन परमाग-सर्वारातीयमागलक्षणोभय-
१८ मागानुपलभ्यात् सर्वस्यापि वस्तुजातस्यानुपलब्धेः शून्यं जगदिति ।
तदेवमुक्तुक्या सर्वस्यापि भूतादेरमावः प्राप्नोति । शून्यते च श्रुतौ
२० भूतादिसद्वावोऽपीति संशयः ॥ ६ ॥

१ 'नाभिगम्यौ वाऽद्यन्तमागौ' इति काशीमुद्रितपाठधिन्त्यः । २ आपद-
भक्ष्म आदर्शीयम्-समीपस्थम् इत्यर्थः । ३ विशेषां मृदुहृषी (पृ० ७३५-
गा० १९९९) ।

अधेत्यं पूर्वेष्टमुक्त्वा भगवान् प्रतिविधानभाव—
 अन्तोचरं तत्र गृहण पक्षं स्मेन्द्रजालोपमितं जगद्यत् ।
 आख्यातमेतत्तु विरागतायै मोहस हान्यै तदनित्यतातः ॥ ७ ॥ ३
 हे व्यक्त ! तत्र तस्मिन्बुकेऽथें त्वमऽस्माभिहृच्यमानं उत्तरं पक्षं
 गृहण उत्तरं शृणु इत्यर्थः । श्रुतौ यदेतत् स्मेन्द्रजालोपमितं लभे-
 न्द्रजालमायासदृशं जगत् आख्यातं उक्तं, तत्तु विरागतायै जन्तुनां ६
 चैरान्योत्पादनार्थमित्यर्थः । तथा मोहस्याऽज्ञानस्य हान्यै त्यागार्थ-
 मित्यर्थः । तथाऽनित्यतातो जगतोऽनित्यत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ भूतादिसद्ग्रावं युक्त्या प्रतिपाद्यन्नाह— ९
 यैच्चिन्तितं दृष्टमयाऽनुभूतं श्रुतं च तत् स्वभगतं सदेव ।
 प्रबोधिनश्चेत्तदसत्त्वाऽपि स्थिता परत्रैव तदर्थसत्ता ॥ ८ ॥

यद्वस्तु चिन्तितं अन्यदा हृदि पर्यालोचितं विभवन्वलमादि, तथा १२
 इष्टं कारि-तुरगादिकं, अथ-अथवाऽनुभूतं खान-भोजन-विलेपनादि, च
 पुनः श्रुतं सर्वगत्यन्तरकादिकं, तत्सर्वं वस्तु सदेव विद्यमानमेव स्मे-
 गतं प्राप्तं भवति, नाऽविद्यमानं किञ्चिदित्यर्थः । चेददि प्रबोधो १५
 जागरणमस्त्यस्येति प्रबोधी तस्य जाग्रतः सततत्सर्वं स्वग्रंगतं वस्तु
 असत् प्रायोऽविद्यमानमेव तथापि अपरत्राऽन्यत्र प्रदेशो तेषां स्वाम-
 दृष्टानामर्थीनां वस्तुनां सत्ता विद्यमानता तदर्थसत्ता स्थितैव । अतः १६
 स्वभवद्यार्थीनामप्यभावाऽभावात् कथं शून्यं जगदिति भावः ॥ ८ ॥

एवं स्वभमाश्रित्य युक्तिसुक्त्वा इन्द्रजालमाश्रित्याह—
 यदप्यसत्प्रस्तुतमिन्द्रजालं तथाऽप्यसन्तो न तदीयभावाः ।
 तथा जगजालविशालगर्भे भूतानि सन्त्येव न काऽपि शङ्का ॥ ९ ॥ २२

१ 'यच्चित्तं' इति काशीमुद्रितपाठचिन्त्यः ।

यदपि प्रस्तुतं प्रस्तावापन्नं इन्द्रजालं असत् अविद्यमानमेव,
तथापि तस्येन्द्रजालस्येमे तदीया इन्द्रजाले दृश्यमाना भावाः पदार्था
३ असन्तोऽसद्गूता, न सन्तीति शेषः, तेषामप्यन्यत्र विद्यमानत्वादिति
भावः । तथा तेन प्रकारेण जगदेव जन्तूनां बन्धनहेतुत्वाज्ञालं तस्य
विद्यालो विस्तीर्णो यो गमो मध्यं, तस्मिन् भूतानि सन्त्येव । अत्रार्थे
६ काऽपि शङ्का न कर्तव्येति शेषः ॥ ९ ॥

पुनः सर्वशून्यतायामिष्यमाणायां स्वप्नाऽस्वप्नादिव्यवहाराभावप्रसङ्ग
एवेति दर्शयन्नाह—

९ स्वमेन्द्रजाले अपि भावरूपे कुतोऽन्यथा सात्तदभावयुक्तिः ? ।
अस्यम् इत्येवमनिन्द्रजालमिति प्रतीतिर्यत ऊहनीया ॥ १० ॥

स्वप्नश्च इन्द्रजालं च स्वमेन्द्रजाले ते अपि भावरूपे विद्येते,
१२ नाऽभावरूपे इत्यर्थः । अन्यथा स्वप्नादेर्मावत्वाऽभावे तयोः स्वमेन्द्र-
जालयोरभावयुक्तिर्भवदुक्ताऽभावोपपतिः कुतः स्यात् ?, कुतोऽपि न
१५ स्वादित्यर्थः । यतो यसात्कारणान् स्वप्नोऽस्वप्नम् इत्येव तथा न इन्द्र-
जालमनिन्द्रजालमित्येवं या प्रतीतिः सा ऊहनीया विचार्या । इद-
मत्र तात्पर्यम्—सर्वशून्यत्वेऽभ्युपगम्यमनि स्वप्नोऽयमस्वप्नो वा ?,
१८ तथा इन्द्रजालमिदमनिन्द्रजालं वेत्यादिको विशेषः किं कृतः स्यात् ?

स्वप्नादीनां विशेषनिवन्धनाभावात्समैव कलान् भवति ? यादृगः

योऽख्यमः स स्मः इत्यादि । तस्मात्सन्ति पर्वं सर्वे भावा न पुनः
शून्यतेति ॥ १० ॥

पुनर्भूतसद्वायं प्रकारान्तरेण समर्थयत्वाह—
सद्वस्तुनि सादथ संशयोऽपि यत्स्याणुपुंसोः स्फुट एष वृद्धयः ।
तद्वृत्तसन्देहविशेष एव प्रस्फोरयत्यत्र तदर्थसत्त्वाप् ॥ ११ ॥

अथ संशयोऽपि सद्वस्तुनि विद्यमाने एव वस्तुनि स्यात्, नावि- ६
चमाने इत्यर्थः । कथमित्याह—यद्यसात्कारणात् स्याणु-पुंसोः शङ्कु-
पुरुषयोरेष संशयः स्फुटः प्रकटो वृद्धो दर्शनीयोऽस्ति, तत्सात्कार-
णात् भूतानां यः सन्देहविशेषः स एव अत्र लोके तदर्थसत्त्वां ९
भूतपदार्थसद्वावं प्रस्फोटयति प्रकाशयति । प्रपूर्वात् ‘स्फुर स्फुरणे’
असाद्वेतुमण्डिजन्ताछ्वद् । अत्रायं भावः—असति भूतकदग्वके
संशयः सङ्कुसुम-खरविपाणयोरिव न युक्तः, अपि त्वभावनिश्चय एव १२
स्यात्, सत्त्वेवं भूतेषु स्याणु-पुरुषादिविव तदाऽविशेषेण खरविपाणादिप्वपि
स्यात्, न च सोऽस्ति तस्मात्सन्त्येव भूतानीति ॥ १२ ॥

अथ यदुक्तं प्राग् न खतो भावानां सिद्धिरित्यादि तत्पतिवि-
धातुमाह—

अपेक्ष्य भावं परमर्थसत्त्वां त्वं मन्यसे तत्र सहेत युक्तिम् । १३
हस्यं च दीर्घं च समं च वस्तु स्वसत्त्वाऽपि प्रतिमासमेति ॥ १२ ॥

हे व्यक्त ! त्वं परमन्यं भावं पदार्थमपेक्ष्य अर्थसत्त्वां पदार्थसद्वावं
मन्यसे न खतः, परं तत् त्वन्मतं युक्तिं न सहेत युक्तिक्षमं नात्ती- १४
त्यर्थः । कथमित्याह—हस्यं चेत्यादि । चकारः समुच्चये, समः
शब्देनाऽत्र तदुभयं गृहते । ततश्चायमर्थः—हस्यं दीर्घं च दुभयं च १५

१७त्तमः स लभः इत्यादि ? । वज्ञात्तन्त्रि एवं सर्वे भावा न पुनः
शून्यतेति ॥ १० ॥

पुनर्नृत्तद्वार्त्तं प्रकाशन्तरेण स्तुत्येवत्ताह—
सद्बस्तुनि स्वादय संशयोऽपि चत्प्याणुपुंसोः स्फुट एष वृद्यः ।
वद्धत्वसन्देहविशेष एव प्रस्त्रोरवत्त्वत्र तदर्थसुचाम् ॥ ११ ॥

जय संशयोऽनि स्तुतुनि विद्यनाने एव वस्तुनि लात्, नावि-१
इनाने इतर्थः । कथनित्याह—वधनात्तकारणात् लागु-पुंसोः शङ्क-
पुरुषयोरेप संशयः स्फुटः प्रकटो दद्यन्नीयोऽन्ति, वर्चत्तात्कार-
पात् नृतानां चः सन्देहविशेषः स एव अत्र लोके तदर्थसुचां२
नूत्पदार्थं उद्भावं प्रस्त्रोद्यति प्रकाशयति । प्रमूर्दात् ‘स्फुर स्फुरणे’
ललाद्येतुनाणिगचन्ताछह । जयायं नावः—असति नूत्पदन्वके
संशयः लक्ष्मुन-न्तरविपाणयोरित्व न शुक्षः, अति त्वमावनिश्चय एव १२
लात्, सत्त्वेवं मूलेषु स्वापु-मुरुषादिविष उपायो शुक्षः । यदि पुनर-
सत्त्वनि वस्तुनि सन्देहः स्वात् चदाऽनिशेषेन न्तरविपाणगादिविष
लात्, न च सोऽन्ति वज्ञात्तन्त्रेन नृगनीति ॥ १२ ॥

जय यदुक्तं प्राग् न स्त्रो भावानां सिद्धिरित्यादि चत्तत्तिनि-
पात्तुनाह—

अपेक्ष्य मावं परमर्थसुचां त्वं मन्यसे तत्र सुहेत युक्तिम् । १३
हस्तं च दीर्घं च समं च वस्तु स्वत्तुचयाऽपि प्रतिमामुमेति ॥ १३ ॥

हे व्याठ ! त्वं परमन्यं नावं पद्मर्थनपेक्ष्य अर्थसुचां पद्मर्थचद्वारं
नन्यसे न स्त्रः, परं चत् त्वन्तरं युक्ति न चहेत युक्तिनम् नामी-२१
त्वर्थः । कथनित्याह—हस्तं चेत्यादि । चक्षारः सनुव्यये, सनु-
शन्देशाऽन्त चदुन्यं गृहते । चत्प्रशावनर्थः—हस्तं दीर्घं चदुमयं च २२

यदपि प्रस्तुतं प्रस्तावापन्नं इन्द्रजालं असत् अविद्यमानमेव,
तथापि तस्येन्द्रजालस्येमे तदीया इन्द्रजाले दृश्यमाना भावाः पदार्था
असन्तोऽसद्गृहा, न सन्तीति शेषः, तेषामप्यन्यत्र विद्यमानल्लादिति
भावः । तथा तेन प्रकारेण जगदेव जन्तूनां वन्धनहेतुत्वाज्ञालं तस्य
विद्यालो विस्तीर्णो यो गर्भो मध्यं, तस्मिन् भूतानि सन्त्येव । अत्रायेऽ
काऽपि शङ्का न कर्त्तव्येति शेषः ॥ ९ ॥

पुनः सर्वशून्यतायामिप्यमाणायां स्वप्नाऽस्वप्नादिव्यवहाराभावप्रसङ्गं
एवेति दर्शयन्नाह—

१ स्वप्नेन्द्रजाले अपि भावरूपे कुतोऽन्यथा सात्तदभावयुक्तिः ? ।
अस्वप्न इत्येवमनिन्द्रजालमिति प्रतीतिर्यत ऊहनीया ॥ १० ॥

स्वप्नश्च इन्द्रजालं च स्वप्नेन्द्रजाले ते अपि भावरूपे विद्येते,
१२ नाऽभावरूपे इत्यर्थः । अन्यथा स्वप्नादेभीवत्वाऽभावे तयोः स्वप्नेन्द्र-
जालयोरभावयुक्तिर्भवदुक्ताऽभावोपपतिः कुतः सात् ?, कुतोऽपि न
स्यादित्यर्थः । यतो यसात्कारणात् स्वप्नोऽस्वप्न इत्येव तथा न इन्द्र-
१५ जालमनिन्द्रजालमित्येवं या प्रतीतिः सा ऊहनीया विचार्या । इद-
मत्र तत्पर्यम्—सर्वशून्यत्वेऽस्युपगम्यमाने स्वप्नोऽयमस्वप्नो वा ?,
तथा इन्द्रजालमिदमनिन्द्रजालं वेत्यादिको विशेषः किं कृतः सात् ?
१८ स्वप्नादीनां विशेषप्रतिवन्धनाभावात्समैव कल्पान्न भवति ? यादृशः
स्वप्नोऽस्वप्नोऽपि तादृश एव यादृशश्चाऽस्वप्नः स्वप्नोऽपि तादृश एव-
२० त्यादि । अथवा विपर्ययः कुतो न भवति ? यः स्वप्नः सोऽस्वप्नः

^३ ‘अन्यपाऽस्य सदभावयुक्तिः’ इति घासीमुद्रितपाठोऽसारस्याच्छन्दोमङ्ग-
दोपद्युषसाचामनोरमः ।

योऽस्मः स समः इत्यादि ? । तमात्सन्ति एवं सर्वे भावा न पुनः
शूल्पतेति ॥ १० ॥

पुनर्भूतसद्ग्रावं प्रकारान्तरेण समर्थयत्ताह— १
सद्ग्रस्तुनि स्याद्य संशयोऽपि यत्साणुपुंसोः स्फुट एव दृश्यः ।
तद्दृतसन्देहविद्वेष एव प्रस्तोत्यत्यत्र तदर्थसत्ताम् ॥ ११ ॥

अथ संशयोऽपि सद्ग्रस्तुनि विद्यमाने एव वस्तुनि स्यात्, नान्वि- १
धमाने हत्यर्थः । कथमित्याह—यद्यमात्कारणात् साणु-पुंसोः शुद्ध-
पुरुषयोरेष संशयः स्फुटः प्रकटो दृश्यो दर्शनीयोऽन्ति, तच्यमात्कार-
णात् भूतानां यः सन्देहविद्वेषः स एव अत्र लोके तदर्थसत्तां २
भूतपदार्थसद्ग्रावं प्रस्तोत्यति प्रकाशयति । प्रपूर्वात् ‘स्फुर स्फुरणे’
असाद्वेतुमणिगजन्ताद्वद् । अत्रायं भावः—असति भूतकल्पके
संशयः ग्रन्थमुम-ग्रन्थविपाणयोरिव न युक्तः, अपि त्वभावनिश्चय एव ३
स्यात्, गत्वेत्यभूतेषु साणु-पुरुषादिप्रिव संशयो युक्तः । यदि पुनर-
सत्यपि वस्तुनि सन्देहः स्यात् तदाऽविद्वेषेण ग्रन्थविपाणादिप्रपि
स्यात्, न च सोऽन्ति तमात्सन्त्येव भूतानीति ॥ ११ ॥ ४

अथ यदुक्तं प्राग् न सतो भावानां सिद्धिरित्यादि तत्पतिवि-
धानुमाह—

अपेक्ष्य मावं परमर्थसत्तां त्वं मन्यसे तन्न सहेतु युक्तिम् । ५
दसं च दीर्घं च समं च वस्तु स्वसत्याऽपि प्रतिमायमेति ॥ १२ ॥

हे व्यक्त ! त्वं परमन्यं मावं पदार्थमपेक्ष्य अर्थसत्तां पदार्थसद्ग्रावं
मन्यसे न सतः, परं वत् त्वन्मतं युक्तं न सहेतु युक्तिक्षमं नान्वी- ६
त्यर्थः । कथमित्याह—दसं चेत्यादि । चकारः समुच्चये, समः
शब्देनाऽत्र तदुमयं गृष्टते । तत्पत्यमर्थः—दसं दीर्घं तदुमयं च ७

वस्तु सप्तर्थाऽपि प्रतिभासं एति प्राप्नोति सप्तर्थाऽपि प्रतिभासते,
न तु पराऽपेक्षयैवेत्यर्थः । अथमत्र मावार्थः—न स्वल्पापेक्षिकमेव
३ वस्तुनां सत्त्वं किं तु स्वविषयज्ञानगमनादर्थक्रियाकारित्वमपि ।
ततश्च हस्त-दीर्घो-भयानि आत्मविषयं चेद् ज्ञानं जनयन्ति तदा
सन्त्येव तानि, कथं तेषामसिद्धिः ? यदप्युक्तं—‘मध्यमाङ्गुलिमपेक्ष्य
४ प्रदेशिन्यां हस्तत्वमसदेवोच्यते’ इत्यादि तदप्युक्तं, यतो यदि मध्य-
मामपेक्ष्य प्रदेशिन्यां स्वतः सर्वथाऽसत्यामपि हस्तत्वं गवेतदा विशेष-
पामावात्सरविषयोऽपि तद्वेत, अतिदीर्घेषु इन्द्रद्यष्टादिष्वपि च
५ तत्प्यात् । तसात्स्वतः सत्यामेव प्रदेशिन्यां वस्तुनोऽनन्तर्घर्मात्मक-
त्वाच्चर्त्तसहकार(रि)सञ्चिहौ तद्वृप्तमित्यकेस्तरज्ञानमुत्पद्यते न पुन-
रसत्यामेव, तस्यामपेक्षामात्रत एव हस्तज्ञानमुपजायते । एवं दीर्घो-
१२ भयादिष्वपि वाच्यं, तसात्स्वतः परत उभयतश्च भावानां सिद्धिर-
स्त्येव व्यवहारतः, निश्चयतस्तु स्वतः सिद्धा एव सर्वेऽपि भावाः ।
तथा हि—इह किञ्चित् स्वत एव सिद्ध्यति, यथा कर्तृनिरपेक्षः तत्का-
१५ रणद्रव्यसद्वातविशिष्टपरिणामरूपो मेषः । किञ्चित्तु परतो यथा—
कुल्याङ्करूपो घटः । किञ्चिदुमयतो यथा—मार्गापितृभ्यां सकृत्तकर्म-
तश्च पुरुषः । किञ्चित्तिसिद्धमेव यथा—आकाशम्, एतच्च व्यव-
१० द्वारनयाऽपेक्षया द्रष्टव्यम् । निश्चयतस्तु वाहूं निमिच्चमात्रमेषाऽश्रित्य
सर्वं वस्तु स्वत एव सिद्ध्यति सरविषयादिरूपोऽभावस्तु वाहूनिमिच्च-
सद्वावेऽपि कदाचिदपि न सिद्धतीति ॥ १२ ॥

२१ उक्तमेवार्थं पुनर्दद्यति—

इस्तत्व-दीर्घत्व-समत्व-घर्मा यदप्यपेक्षावश्वगा भवन्ति ।

२२ तथापि वस्त्येवदिति सप्तर्थामालम्बमानं प्रति घर्ममानम् ॥१३॥

यथपि दसत्व-दीर्घत्व-समत्वधर्मा अपेक्षाया वर्णं गच्छन्तीति
अपेक्षायशागा अपेक्षाधीना भवन्ति, तथापि 'एतद्वस्तु हस्तं, एतदीर्घं,
एतचु तदुमयम्' इत्येवम्भूतां स्वसत्त्वानात्मसद्वाचं आलभ्वमानमात्रयं तं १
पदार्थं प्रति प्रतीत्य आधित्य धर्ममानं दसादिधर्मज्ञानं भवतीति
शेषः ॥ १३ ॥

पुत्रत्व-पौत्रत्व-पितृत्व-धर्मा
यद्यप्यपेक्षायशागात्मयापि ।
सन्तो हि सत्त्वेन भवन्ति पुंस-

सत्या च भावाः स्वत एव सिद्धाः ॥ १४ ॥

एकलिन्युले सपित्रपेक्षया पुत्रत्वं, सपित्रामहापेक्षया पौत्रत्वं,
समुत्ताडपेक्षया तु पितृत्वं, इत्यं तु पौत्रत्व-पुत्रत्व-पितृत्वधर्मा अपि
यद्यपि अपेक्षायशागाः सन्ति, तथापि हीति निधित्वं पुंसः पुरुषस्त १२
सत्त्वेन सद्वाचेन एते धर्माः सन्तो विद्यमाना भवन्ति । तद्भावे तु
कथं मुरिति भावः । तथा च सति सर्वे भावाः पदार्थः स्वत एव
सिद्धा शेषा इति शेषः ॥ १४ ॥

सम्बन्धमासाद्य कर्मप्यपेक्षां
प्रयान्ति कान्तित्परभावतश्चेत् ।
तथापि कार्यादिसमस्तभावाः

सर्वैर सत्त्वामधिकृत्य सन्तः ॥ १५ ॥

नेयदि कार्यादिगमज्ञामावाः कार्यादयः सर्वे पदार्थाः कर्मपि
सम्बन्धमासाद्य प्राप्य परभावतः परपदार्थतः कान्तिदपेक्षां प्रयान्ति २१
मामुपन्ति, तथानि ते सर्वैर सर्वां अपिकृत्य आधित्य सन्तो विद्य-
माना शेषाः ॥ १५ ॥

अथ यदुकं प्राक् (अस्मिन्सर्गे ६ श्लोके) 'सूक्ष्मत्वतो' वस्तुनि
नाभिगम्यावाद्यन्तमागा' विल्यादि तत्र प्रतिविधानमाह—

३ तथाऽऽदि-मध्या-ज्ञतविभागयुक्तिः

पुंसो विवक्षावशगोपदिष्टा ।

तत्सौम्य ! मा गाः स्वप्सप्रणाशं

४ यतः समृद्धं जगदस्ति सर्वम् ॥ १६ ॥

त्वया उपदिष्टा सर्ववस्त्वभावसाधकत्वेन कथिता या आदिमध्या-
न्तविभागयुक्तिः साऽपि तथा तेनैव प्रकारेण पुंसः पुरुषस्य वक्तुमिच्छा

५ विवक्षा तस्या वशगा तदधीनैवाऽस्ति न पुनर्स्तात्त्विकी, घट-पटादिस-
र्ववस्तूनामर्वाक्तनभागस्य, स्फटिका-ऽप्र(क)पटलादीनां परभागस्य अपि
च साक्षाद्दृश्यमानत्वादिति भावः । किंच त्वया सर्वाभावे इत्यमाणे

१२ वस्तुन आदिमध्यान्तविभागभेद एव कुतः सङ्गच्छते ? सर्वाभावेऽपि
चेत्स भवेत् तर्हि खरविषाणस्यापि कुतो न स्यात् ? इत्यलं विस्तरे-
णेति । तत्सात्कारणात् हे सौम्य ! हे व्यक्त ! सर्वजगतः शून्यत्व-

१५ स्वीकारेण स्वस्य परेपां च वस्तूनां प्रणाशमभावं मा गाः मा श्रापः,
सर्वाभावं भा स्वीकुर्वित्यर्थः । यतो यसात्कारणात्मागुक्तयुक्त्या सर्वं
जगत् समृद्धं जीवाऽजीवादिसर्वपदार्थरूपद्विसंयुक्तमस्ति न तु केनापि

१८ प्रकारेण शून्यमिति भावः । माङ् उपपदादिणो उङ्
मध्यमपुरुषैकवचनं 'इणो गा उङि' (२१४५) इति गादेशो
'गातिस्या-' (२१७७) इति सिंचो उङ् ॥ १६ ॥

एवं मगवता मूर्तान्तित्वे प्रतिपादिते व्यपगतसन्देहोऽसौ व्यक्तः

२२ संयेगमापन्नः सन् किं शृतवानित्याह—

निशम्य युक्तीरिति वीरवक्ता-
द्विहाय मोहं समशून्यतायाः ।

व्यक्तः समं पञ्चशतैः स्वशिष्यैः ॥

पथि प्रवत्राज जिनाधिपोक्ते ॥ १७ ॥

इत्यमुना प्रकारेण वीरवक्तात् श्रीवीरस्मामिनो मुखात् युक्तीरूप-
पतीनिशम्य श्रुत्वा तदालोचनेन समशून्यताया सर्वेशून्यताया आवि- ६
र्भवकं मोहमशनं विहाय त्यक्त्वा व्यक्तो नाम उपाध्यायः, पञ्चशतैः
स्वशिष्यैः समं सादृं जिनाधिपोक्ते श्रीवीरप्रभुदर्शिते पथि मार्गे
प्रवत्राज प्रव्रज्यां गृहीतवान् ॥ १७ ॥

—अः इति व्यक्ताचार्यदीक्षाग्रहणम् ॥ ४ ॥ —

अथ सुधर्मणस्तदाह—

यत्संशयच्छिङ्गदेकनाथः श्रीवर्द्धमानोऽवततार विश्वे ।

श्रुत्वेति मेधाविवरः सुधर्मा समुत्सुकोऽभूजिनदर्शनाय ॥ १८ ॥

यः कथित् संशयो यत्संशयस्तं छिनतीति यत्संशयच्छित् संशय-
मावदेदीत्यर्थः, अत एव जगतो विश्वस्य एकनाथो जगदेकनाथः १५
एवंविद्यः श्रीवर्द्धगानो जिनो विश्वे लोकेऽवततार अवतरति स,
इति श्रुत्वा मेधाविपु विद्वत्सु वरः श्रेष्ठः सुधर्मानामा द्विजः उपाध्यायो
जिनदर्शनाय श्रीवीरप्रभुदर्शनार्थं समुत्सुकोऽमूल् । दर्शनायेति । अत्र १६
‘प्रसितोसुकाम्यामिति’ वृत्तीयासप्तम्योः प्राप्तौ सत्यामपि तादर्थ्य-
विवक्षया चतुर्थी ॥ १८ ॥

१ अत्र ‘निशम्य युक्तिमिति’ काशीमुद्रितपाठः प्रामादिकः, उन्द्रोभादर्दीप-
वर्त्यादस्तारसाम् ।

छात्रैः समं पञ्चशतैः प्रणन्दनागत्य तस्यौ जिनसंमुखं सः ।

कृपालुरप्याह मुधा सुधर्मन् । मोहं प्रयासीति समं सदृक्षम् ॥१९॥

३ स सुधर्मा पञ्चशतैश्छात्रैः समं साद्दं प्रणन्दन् समृद्धिमान् सन्
आगत्य जिनसंमुखं तस्यौ अवतिष्ठते सा । ततः कृपालुः सर्वेजगजन्तुपु
दयावान् भगवानपि तं प्रति आह उवाच । किमाहेत्याह—हे सुधर्मन् !
४ समं सर्वं मनुष्यादिकं सदृक्षं इहभवसदृशं परमवेऽपि खात् इति
मुधा वृथा मोहं मौल्यं प्रयासि प्रांगोपि । अयं भावः—त्वमेवं
मन्यसे यो मनुष्यादिः यादृशं इह भवे स परमवेऽपि तादृशं एव
५ खात् । नन्ययुक्तोऽर्थं तत्र संशयः यतोऽसौ विरुद्धवेदपदश्रुतिनिवन्धनो
वर्चते तानि चाऽमूनि वेदपदानि ‘पुरुषो वै पुरुषत्वमश्रुते पशवः
पशुत्वम्’ इत्यादि । यथा ‘शृगालो वै एष जायते यः सपुरीपो दक्षते’
१२ इत्यादि । एषां च वेदपदानामसुमर्थं मन्यसे त्वं, पुरुषो शृतः सन्
परमवे पुरुषत्वमेवाऽश्रुते प्रामोति, तथा पशवो गवादयः पशुत्वमेवे-
त्यादि, अमूनि किं भवान्तरगतजन्तुसादृश्यप्रतिपादकानि, तथा
१५ शृगालो वै इत्यादीनि तु वैसादृश्यस्यापनानीत्यतत्त्वं संशयः, अयं
चायुक्त एव, यतोऽमीपां वेदपदानां नायमर्थः किन्तु वश्यमाणलक्षण
इति ॥ १९ ॥

१० अमुमेवार्थं सुधर्माऽग्निमत्युक्तुक्षिपूर्वं दर्शयन्नाह—

सदृक्षता कारण-कार्ययोर्य-

यवो विशीर्ण्याऽपि यवं प्रमूदते ।

११ तथा मनुष्यो दि भवेन्मनुष्यो

नारी तु नारीति पुमान् पुमांथ ॥ २० ॥

१२ अपि समादने कारण-कार्ययोः सदृक्षता सादृश्यमन्धि कारणानु-

रूपमेव कार्यं भवतीत्यर्थः । तत्र हृष्टन्तमाह—यद् यतो यवो धान्य-
विशेषो विशीर्यं भूजलसंयोगे विदीर्यं, अङ्गुररूपेण भूत्वेत्यर्थः,
यदं प्रसूते उत्पादयति, यथा यवबीजानुरूपो यवाङ्गुर इत्यर्थः, तथा ३
तेनैव प्रकारेण हीति निश्चितं, य इह भवे मनुष्यः स परमवेऽपि
मनुष्यो भवेत् तत्रापि तु इति विशेषे नारी स्त्री नारी एव भवेत् च
पुनः पुमान् पुरुषः पुमानेव भवेदिति त्वं संभावयसीत्यर्थः । अयं ६
भावः—इहभवकारणं चान्यजन्म, ततस्तेनापि इहभवसद्वशेन
भवितव्यमित्येवं भन्यमानस्त्वं इहभवसद्वशं सर्वं पुरुषादिकं पर-
भवेऽप्यवेषीति ॥ २० ॥

९

गीयेत वेदे च शरीरभाजां
समस्तयोनिग्रहणं समेपाम् ।

सन्देहगुत्पादयतीति वाक्यं

१२

शृष्ट्यमिवैश्यायन ! तत्समाधिम् ॥ २१ ॥

च पुनर्वेदे शृगालो वै इत्यादिके समेपां सर्वेषां शरीरभाजां
जीवानां समस्तयोनिग्रहणं सर्वेयोनिस्त्रीकारो गीयेत उच्येत, इतीत्यं १५
उमयरूपं वेदवाक्यं सन्देहं संशयं उत्पादयति । हे अमिवैश्यायन-
गोत्रीय ! सुषर्पन् ! तत्समाधिं तत्य समाधानं त्वं शृणु ॥ २१ ॥

यत् कारणेनाऽनुगुणं हि कार्यं

नैकानन्तिकं तत्परिभावनीयम् ।

१३

नो चेतदा किं तपनीयसिद्धिः

केनाऽपि योगेन भवेदयस्तः ? ॥ २२ ॥

१४

हीति निश्चितं यत्कारणेन अनुगुणमनुरूपं सदृशमित्यर्थः, कार्यं
त्वयाऽभिमत्तिविगति वाक्यंशेषः । तत् एकानन्तिकं नैष्यविकं न परि-२३

भावनीयं विचार्यं, नो चेत् यथेवं न स्यात्, कारणानुरूपमेव कार्यं
चेत्स्यादित्यर्थः, तदा केनापि योगेन औपच्यादिप्रयोगेण अर्यस्तोः
इलोहात् तपनीयस्य स्वर्णस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः, किमिति प्रश्ने, मवेत्;
कार्यकारणवैषम्यात्साऽपि न स्यादित्यर्थः। भवति हि सा, तस्मान्
कारणानुरूपमेव कार्यमिति निश्चयः। एवं शृङ्गादपि शरो जायते
दगोलोमाविलोमभ्यश्च दूर्वा प्रभवति, इत्यादपि वोध्यम्॥ २२ ॥

अथवा कारणानुरूपं कार्यमस्तु अत एव भवान्तरे विचित्र-
रूपता जन्त्वामिति दर्शयति—

९ चेदाग्रहः कारण-कार्यसाम्ये
तथाऽपि योनिश्रमणं सुसिद्धम् ।
यत्कारणं कर्म विचित्ररूपं
१२ विचित्रयोनिरपि किं न कुर्यात् ? ॥ २३ ॥

हे शुघर्भन् ! तव कारण-कार्ययोः साम्ये साहस्रे चेद्यदि, आग्र-
होऽस्तीति शेषः, तथापि जन्त्वां नानाविधासु योनिषु ऋमणं सुसिद्धं:
१५ सुतरां सिद्धम् । कथमित्याह—यदसात्कारणात् योनिषु ऋमणे
कारणं विचित्रं रूपं तरूपं यस्य तद्विचित्ररूपं कर्म, तद्विचित्रयो-
निरपि किं न कुर्यात् ? कुर्यादिवेत्यर्थः। अयं गावः—मित्यात्मा-
१८ ऽविरत्यादिहेतुवैचित्र्याद्विचित्रं कर्म गयाऽभिहितं, ततश्च तज्जन्यस्य
भवाद्युत्स्यापि जात्यादिभेदेन विचित्रता युक्तैव । अत्र प्रयोगः—
चित्रं संसारिजीवानां नारकादित्यपेण संसारित्वमिति प्रतिज्ञा, विचि-
त्रस्य कर्मणः फलस्यत्यात् इति हेतुः, इह यद्विचित्रहेतुकं तद्विचित्रं
२३ हृष्टं, यथेह विचित्राणां वृष्णिन्याजित्यादिकर्मणां फलं लोके इति ॥२३॥

अथाऽमुर्मेवार्थं स्पष्टं तर्माह—

ग्राकर्मसिद्धिः प्रतिपादितैव या च किया सा फलशालिनीति ।
ततोऽजिंतं कर्म विचित्ररूपं विचित्रयोनिप्रतिपत्तयेऽस्तु ॥२४॥ ३-

‘या च काचन किया सा फलशालिनी फलवती दृष्टा’ इति वचनेन
प्राक् पूर्वं अभिभूत्यधिकारे कर्मसिद्धिः प्रतिपादिता उक्ता एव । तत-
स्तसात् शुभाऽशुभक्रियाऽजिंतं उपाजिंतं विचित्ररूपं कर्म विचित्र-इ-
योनीनां प्रतिपत्तये कारणत्वशानाय अस्तु ॥ २४ ॥

अमुर्मेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयक्ताह—

नाथ्ये यथैको भरतो विचित्रान् गृह्णाति वेषान्सुमांस्तथैव । ९
ततः सुधर्मन् । परिहृत्य मोहं मन्यस्य सर्वत्र विचित्रभावम् ॥२५॥

यथा नाथ्ये नृत्ये एको भरतो नदो विचित्राननेकं विधान् वेषान्
नेपथ्यानि गृह्णाति रचयति, तथैव अमुमान् जीवो नानायोनिषु नाना- १२
रूपान् देहान् गृह्णातीत्यर्थः । ततस्तसात्कारणात् हे सुधर्मन् । मोह-
मज्ञानं परिहृत्य त्यच्चवा सर्वत्र सर्वेसिन् जगति विचित्रमावं विचित्रत्वं
मन्यस्य जानीप्व । भरत इति । ‘शैलुपो भरतः सर्वकेदारी’ इत्यादि १५
(हैमः) ‘नटः कृशाश्वी शैलाली’ ति हैमः । असुमानिति । असदः
ग्राणः सन्त्यसेति अस्त्यर्थं मतुप् । किं च ‘पुरुषो वै पुरुषत्वमञ्जुते’
इत्यादीनां वेदपदानामयमर्थः—कोऽपि पुरुषः सख्यिह जन्मनि १६
प्रकृत्या भद्रको विनीतः सानुकोशोऽमत्सरश्च मनुष्यनाम-गोत्रे कर्मणी
वद्धा मृतः सन् पुरुषत्वमञ्जुते, न तु नियमेन सर्वे एव, अन्यस्याऽ-
न्यकर्मवद्यगस्याऽन्यथाप्युत्पत्तेः ॥ १७ पद्मवद्योऽपि केचिन्मायादि- २१
दोपवशात्पशुनामगोत्रे कर्मणी वद्धा परभवे पद्मवो जायन्ते न तु
सर्वेऽपि नियमेन, कर्मपेक्षित्वाऽजीवगतेरिति ॥ २५ ॥ १८

इथं भगवता संशये छिन्ने सति सुधर्मा किं कृतवानित्याह—

ततः सुधर्माऽपि बुधः प्रबुद्धो

दीक्षां ललौ पञ्चशतैः स्वशिष्यैः ।

अथाऽऽगतो मणिडतसूरिराज-

स्साद्देखिभिश्छात्रशतैः समेतः ॥ २६ ॥

६ ततस्तदनन्तरं बुधो विद्वान् सुधर्मापि प्रबुद्धो भगवद्वचनात्प्रबोधं प्राप्तः सन् पञ्चशतैः “स्वशिष्यैः सह दीक्षां ललौ गृह्णाति स । ‘ला आदाने’ अस्मात्कर्त्तरि लिङ् । इति सुधर्मस्यामिदीक्षाग्रहणमुच्चवा

७ मणिडतस्य तदाह—अथानन्तरं मणिडतो नाम सूरिराजः पणिडतमुख्यः अद्देन शतेन सह वर्तमानैः साद्देखिभिश्छात्राणां शिष्याणां शतैः समेतो युक्तः सन् आगतो भगवत्समीपमिति शेषः ॥ २६ ॥

१२ आगच्छ भो पणिडत ! मणिडत ! त्वं
स्वामीति संभाष्य पुनस्तमाख्यत् ।

जीवस्य किं कर्मभिरस्ति वन्धो

१५ मोक्षश्च वा नेति जहाहि मोहम् ॥ २७ ॥

‘भो मणिडतपणिडत ! त्वं आगच्छ’ इति संभाष्य इथं संभाषणं कृत्वा स्वामी धीरप्रभुः, पुनस्त मणिडतं आख्यत् अवोचत् । आइ-१८ पूर्वात्स्याधातोर्लङ् ‘अस्यतिवक्ति—’ (३।१।५२) इति च्छेरह । किमाख्यदित्याह—जीवस्य कर्मभिः सह वन्धो मोक्षश्च किं अस्ति न वा इति मोहं संशयात्मकमज्ञानं त्वं जहाहि परित्यज, ‘ओहाइ त्यागे’ जीदोत्यादिकोऽसाक्षोह । अत्रायं भावः—हे मणिडत ! २१ त्वमित्यं गन्यसे—किं वन्धमोक्षी स्तो न वा ? इति । अयं चानु-

चितंस्तव संशयो विरुद्धवेदपदशुतिनिवन्धनत्वात् । तथाहि—‘स एष विगुणो विभुः न वध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष वाद्यमभ्यन्तरं वा वेद’ इत्यादीनि वेदपदानि, तथा ३ ‘न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशत्’ इत्यादीनि च । इतेषां चार्थं त्वं न जानासि, यतोऽयमेतदर्थस्तव चेतसि वर्तते, तद्यथा—स एषः अधिकृतो ६ जन्तुर्विगुणः सत्त्व-रज-स्तमोगुणरहितो विभुः सर्वगतो न वध्यते, पुण्य-पापाभ्यां न युज्यते इत्यर्थः । संसरति वा नेत्यनुवर्तते । न मुच्यते न कर्मणाऽभियुज्यते, बन्धस्यैवाभावात् । ‘मोचयति वा नान्य’-९ मित्यनेनाऽकर्तृकल्पमाह । न वा एष वाद्यमात्मभिर्लभ महदहङ्कारादि अभ्यन्तरं निजस्तखपमेव वा वेद विजानाति, प्रकृतिधर्मत्वाज्ञानस, प्रकृतेश्चाऽनेतनत्वात् । ततश्चामूर्णि ‘किल’ बन्ध-मोक्षाभावपतिपाद-१२ कानि । तथा न ह वै नैवेत्यर्थः सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्तीति वौद्या-ध्यात्मिकाऽनादिशरीरसन्तानयुक्तल्वात् सुख-दुःखयोरपहतिः, संसारिणो नात्मीत्यर्थः । अशरीरं वा वसन्तममूर्तमित्यर्थः । प्रियाऽ-१५ प्रिये न स्पृशतः तत्कारणभूतस्य कर्मणोऽभावादित्यर्थः । अमूर्णि च बन्धमोक्षाभिधाय कानीत्यतः संशयः, तत्र स एष विगुणो विभुरित्यादीनां नाऽयमर्थः किन्तु वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ २७ ॥ १८

उक्तमेवार्थं सद्गुपतः सूत्रकृदाद—

वद्दो हि जीवो विवशोऽयं विश्वे

नानागतीर्याति पुनर्न मुक्तः ।

वद्दो न चाऽयं विगुणो न मुक्तो

वेदोक्तिभिर्वेति दधासि शङ्काम् ॥ २८ ॥

१ वाद्यः अनादिशरीरसन्तानः-बोद्धोरकादिः, आध्यात्मिकद्वामैजः ।

१ चाऽथवा वेदोक्तिभिः प्रागुक्तवेदवचनैस्त्वमिति शङ्कां दधासि
धारयसि, इतीति किमित्याह—हीति निश्चितं, अत्रासिन् विश्वे
२ जगति कर्मभिर्बद्धो जीवो विवशः कर्मवशत्वादनात्मवशः सन् नाना-
गतीर्याति अनेकविधासु गतिषु संसरतीर्यर्थः, न पुनर्मुक्तः कर्म-
विरहितो जीवः, कर्मविरहादेव तस्य तदसंभवात् । अयं च जन्मुर्वि-
६ गुणः सत्त्वादिगुणरहितो न बद्धः कर्मभिन्न (च) मुक्त इति कथं
नानागतिगमनमेतत्स्य सज्जाघटीति ? ॥ २८ ॥

इत्थं मणिष्टतस्य संशयमाविष्कृत्य तद्विरक्तिरुक्तिं प्रादु-
१० प्कुर्वन्नाह—

‘सात् सादिवन्धे सति चेतनादे-
निहेतुकत्वात् हि संभवोऽपि ।

१२ अनादिवन्धे तु भवेत् मोक्षो
युक्तीरिति स्फोरयसे वृथा त्वम् ॥ २९ ॥

आत्मना सह कर्मणः सादिवन्धे सति हीति निश्चितं, निहेतुकत्वा-
१५ द्वेत्वभावात् चेतन आदिर्यस्य स चेतनादिसत्स्य, आत्मकर्मणोरित्यर्थः,
संभवोऽपि न स्यात् उत्पत्तिरिति न भवेत्, आस्तां संयुक्ततयाऽवस्थान-
मिति अपिशब्दार्थः । अनादिवन्धे तु सति मोक्षो न भवेत्, अनादेः
१८ संयोगस्य जीवाकाशयोरिवाऽनन्तत्वदर्शनात्, तथाचानिष्टापतिः,
इतीत्यं त्वं वृथा युक्तीः स्फोरयसे । अयमत्र भावार्थः—हे मणिष्ट !
त्वमेवं मन्यसे जीवस्य यः कर्मणा सम्बन्धः सं आदिमान् आदि-
२१ रहितो वा, यद्यादिगांसुतः किं पूर्वं जीव उत्पदेत्, पथात्कर्म ?, पूर्वं

* तस्याऽऽस्मनः तदसंभवात्—संयारस्यासंभवात् ।

वा कर्म पश्चाज्जीव उत्पदेते १, युगपद्मा तौ द्वावपि उत्पदेयातैम् २, इति पश्चत्रयम् । तत्र पूर्वं जीवः पश्चात्कर्मेत्यार्थपश्चस्तु अयुक्तः । यतो न कर्मणः पूर्वं स्वरश्चन्नस्येवात्मनः संभवो युक्तोऽहेतुकत्वात् । इह ३ यदहेतुकं तत्र जायते, यथा सरश्च, यद्य जायते तन्निहेतुकमपि न भवति, यथा घटः, निष्कारणस्य च जातस्य निष्कारण एव विनाशः स्यादिति । अथ कर्मणः पूर्वमात्माऽनादिकालसिद्ध एवेति किं तस्य ५ सहेतुक-निहेतुकस्यचिन्तयेति चेत्तर्हि जीवस्य कर्मवन्वयो न प्राप्नोति, अकारणस्वादाकाशस्येव । अथ निष्कारणोऽप्यसौ भवति तर्हि मुक्त-स्याऽपि पुनः स भविष्यति निष्कारणस्वाविशेषाचतत्थ मुक्तावप्यना- ९ श्यासोऽथवा कर्मयोगमावानित्यमुक्त एवाऽसी भवेत्, यदि वा बन्धाभावे कस्त्रस्य मोक्षन्यपदेशः १० न इस्य नगसो युक्तश्चयपदेशः कस्यापि संमतः, बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य, तस्मात् पूर्वं जीवः पश्चात्कर्म- १२ त्याघविकल्पः । अथ पूर्वं कर्म पश्चाज्जीवो युगपद्मा द्वावपीति १३ पश्चद्वयमपि न संभवति, तथा हि—न च जीवात्प्राकर्मणोऽपि समुद्रवो युक्तः । कर्तुर्जीवस्य तदानीगमगावादक्रियमाणस्य च कर्मत्वा- १५ योगानिष्कारणश्रेकर्मसमुद्रवः स्याच्चर्हि अकारणजातस्याऽकारणत एव विनाशोऽपि स्यादिति । तथा युगपदुत्पचिभावे च प्रत्येकपक्षोक्ता दोषा याच्याः, निहेतुकत्वात्पत्तेक्ष्वदुभयसापि समुद्रितस्यानुत्पत्ति- १८ रित्यादि । न च युगपदुत्पत्तयोर्जीवकर्मणोरयं जीवः कर्त्ता इदं च ज्ञानावरणादिपुद्गलवृन्दं कर्मेति कर्त्तृ-कर्ममावो युज्यते, यथा लोके सद्येतरगोविषणयोरिति । अथ द्वितीयो भैलविकल्पो न संभवति, २१ तथा हि—यदि अनादिरेय जीव-कर्मणोः सम्बन्धः स्याच्चर्हि मोक्षो न पठते, यस्मात्योऽनादिः संयोगः सोऽनन्तो दृष्टो यथा जीवाऽक्ष- २३

शयोः । नहि आकाशेन सह जीवस्य कदाचिदपि संयोगो निवर्तते ।
 एवं कर्मणाऽपि सहाऽसौ न निवर्तते, तथा च सति मुक्त्यमाव-
 ष प्रसङ्गः, इत्युक्तयुक्त्या बन्ध-मोक्षौ जीवस्य न घटेते, श्रूयेते च वेद-
 वाक्येष्वेतौ तत्सत्त्व संशयोऽयमिति ॥ २९ ॥

इत्थं पूर्वपक्षसुवत्त्वा प्रतिविधानमाह—

६ गृहाण सौम्योचरमेतदत्र
परस्परं कारण-कार्यभावात् ।
अनादिसन्तानमवेहि कर्मा-
इयोस्तु वीजाङ्गुरवन्मनीपिन्

हे सौम्य ! अत्राऽस्मिन् सन्दिग्धेऽर्थे एतदनन्तरमुच्यमानमुत्तरं
गृहण अङ्गीकुरु । किमेतदित्याह—मनीषा बुद्धिरस्याऽस्तीति मनीषी
१२ तत्सम्बुद्धौ हे मनीषिन् ! हे प्राज्ञ ! कर्म च अङ्गं च कर्माङ्गं तयोः
कर्म-शरीरयोः तु इति विशेषे, वीजाङ्गुरवत् वीजाङ्गुरयोरिव
परस्परमन्मोन्यं कारण-कार्यभावादऽनादिसन्तानमऽनादिसन्ततिमवेहि
३५ जानीहि । इदमत्र तात्पर्यम्—“यत्तावदुक्तं किं पूर्वं जीवः पश्यत्कर्म
उत व्यत्यय इत्यादि १”—तत्सर्वमयुक्तं, ‘कुत इति चेदु’च्यते—
शरीरकर्मणोरनादिः सन्तान इति प्रतिज्ञा, परस्परं कारणकार्यभावत्,
३८ वीजाङ्गुरवदिति । ततश्च प्रागुक्तं सर्वमधटमानम् एवाऽनादित्वात् तत्स-
न्तानस्येति । देहकर्मसन्तानस्याऽनादित्वं त्वितर्थं अस्ति—स कथि-
देहो योऽप्रेतनस्य कर्मणः कारणं यशान्यस्यातीतस्य कर्मणः कार्यं, तथा
४१ कर्माऽपि तत् समस्ति यदप्रेतनस्य देहस्य कारणं, यशान्यस्यातीतस्य
देहस्य कार्यमित्येवमनादौ संसारे न क्षचिद्द्विश्राम इत्यतोऽनादिर्देह-
४२ कर्मसन्तान इति । आह—‘ननु वन्धमोक्षाविह साधयितुं प्रस्तुती ततः

सकर्मसन्तानस्यानादित्वसाधनमसम्बद्धमिव लक्ष्यते'—तदयुक्तमभि-
प्रायापरिज्ञानात् । नंहि अदृतं कर्म सम्भवति, क्रियते इति कर्म इति
व्युत्पत्तेः, यच्च तस्य करणं तदेव बन्ध इति कथं न तत्सिद्धिःः? तथा ३
देहकर्मणोः कर्त्ता^३ कर्मदेहस्वरूपकरणयुक्तो जीवोऽवगन्तव्यो घटस्य
दण्डादिकरणयुक्तकुलालवदिति ॥ ३० ॥

यचोक्तं 'योऽनादिः संयोगः सोऽनन्तो दृष्ट इत्यादि' तत्राह— ५
अनादितो मृन्मलितं सुवर्णं यथा वियुज्येत कृताऽभ्युपायात् ।
अनादिवद्वो घनकर्मजालैर्ज्ञानक्रियाभ्यां हि तथाऽयमात्मा ३१

यथाऽनादितोऽनादिकालात् मृदा मृचिकया मिलितं सुवर्णं कृतो ७
विहितो योऽभ्युपायोऽमितापादिरूपायः तस्माद्वियुज्यते, मृचिकातः
पृथग्भवतीत्यर्थः । तथा तेनैव प्रकारेण घनैर्निर्विदैः कर्मजालैरनादि-
वद्वोऽयमात्मा जीवो हीति निश्चितं, ज्ञानक्रियाभ्यां सदागमाभ्या- १२
सतपःसंयमाद्युपायाभ्यां कर्मभ्यो वियुज्यते । एतावत्ता यथा
काशनोपलयोरनादिकालप्रवृत्तसन्तानमागवतोऽपि संयोगोऽमितापा-
घुपायाद्यवच्छिद्धते तथा जीवकर्मणोरपि संयोगोऽनादिसन्तान- १५
गतोऽपि तपःसंयमाद्युपायाद्यवच्छिद्धते इति न मोक्षामाव, इति
निर्गलितार्थः । एवं वीजाङ्गुरयोः कुषुटा-ण्डकयोः पिता-पुत्रयोरपि च
अन्यतरदूयदाऽनिष्पादितकार्यमेव विनश्यति, तदा तयोरपि अनादिः १६
सन्तानो व्यवच्छिद्धते इति योऽनादिसन्तानः सोऽनन्तोऽपीति नाऽय-
मेकान्त इति ॥ ३१ ॥

पुनर्जीवकर्मणोः सन्तानस्याऽनादित्वमेव स्पष्टयन्नाह—

११

अनादिमिथ्योत्वक्यायेयोगाऽवतंप्रमादाभिष्ठहेतुसङ्गात् ।

अज्ञानेभावेन यतः प्रवृत्तिं जीवस्य विचात्त्वमनादितोऽपि ॥३२॥

३ हे मणिहत ! यतो यसात्कारणात् मिथ्यात्वानि आभिगृहिकादीनि कपायाः क्रोधादयः योगा मनोयोगादयः अवतानि प्राणातिपात्राऽविरत्यादीनि तान्येव प्रमादा अनवधानतास्वरूपास्तेऽभिष्ठा नाम येषां इते तथोक्ता एवंविष्ठा ये हेतवः कर्मवन्धकारणानि ते तथोक्ता, अनादिः आदिरहितो यो मिथ्यात्वकपायाययोगावतप्रमादाभिष्ठहेतुनां सङ्गसंस्थात्, पुनरज्ञानस्य यो भावः सङ्गावस्थेन स्वं अनादितोऽपि ४ अनादिकालादपि जीवस्य प्रवृत्तिं विविष्ठकर्मवन्ध-नानायोनिपरिअमणादिरूपां विचार बासीहि, अनादिमिथ्यात्वादिहेतुसम्बन्धादगादिरेव जीवकर्मसञ्चान इति भावः ॥ ३२ ॥

३२ अनादिकर्माणि तदाश्रयाणि चत्सन्ततोत्पचिरनादिरेवम् ।

अज्ञानयोगात्सगुणोऽयमात्मा स्वकर्मवद्व्यपदेशमेति ॥ ३३ ॥

३४ स जीव आश्रयो येषां रानि तदाश्रयाणि, अनादीनि कर्माणि, सन्तीति शेषः । एवममुना प्रकारेण तेषां जीवाश्रितकर्मणां सन्तवं निरन्वरमुलपरिप्यनादिरक्षि । सतश अज्ञानयोगादज्ञानसम्बन्धात् सगुणस्तमोगुणादियुक्तोऽयमात्मा स्वकर्मभिर्वद्द इत्येवंरूपो यो व्यपदेशः कथनं तम् षट्ति प्राप्नोति ॥ ३३ ॥

पिता स पुत्रश्च पिता स पुत्रः सम्बन्ध एप एव विराममेति ॥ ३४

तथा निभिर्त्तं हि तदेव कर्मान्वयोऽप्ययं शृङ्खलयाऽस्त्यनादिः ३४

३५ कथिद्विवक्षितः पुमान् सपुत्रस्य पिता वर्तते, स एव स पितुः पुत्रश्च तथा यज्ञादयं समुत्पत्तः सोऽस्य पिता वर्तते, स एव सपितुः

पुत्रश्च एवमेष पितापुत्रसम्बन्धः क विराममवसानमैति प्राप्नोति ?
अनादित्वात् कार्यत्यर्थः । तथा तेनैव प्रकारेण हीति निश्चितं,
यदतीत्यस्य देहादेः कार्यतापन्नं कर्म तदेव निमित्तं जग्रेतनदेहादेः ३
कारणमस्ति । अयमन्वयो जीव-कर्मणोरनुगमोऽपि शृङ्खलयाऽना-
दिरस्ति ॥ ३४ ॥

‘अथाऽख्यपिणि जीवे कथं रूपिणः कर्मणो वन्यः ?’ इत्याशङ्का-४
मपाकर्तुमाह—

अरूपिणि व्योमनि चेन्निवन्धं घटादिकानामुत भन्यसे त्वम् ? ।
तत्कर्मणः पौद्गलिकस्य वन्धं किं शङ्कसे ऽनादिविमूढजीवे ३५ ९

‘उत प्रश्नवितर्क्यो’रिति हेमचन्द्रोक्तेः । उतेति प्रश्ने, हे
मण्डित ! चेद्यदि त्वं अख्यपिणि व्योमनि आकाशे घटादिकानां घट-
पटादिपदार्थानां नितरां वन्यो निवन्धस्तुमात्यन्तिकसम्बन्धं मन्यसे, १२
तत्त्वाहिं अनादिविमूढो मोहाचाकुलो यो जीवत्सुसिन् पौद्गलिकस्य
पुद्गलैर्निष्पत्त्यस्य कर्मणो वन्धं प्रति किं शङ्कसे कथं शङ्काविपर्यं
करोषि ? उभयत्र न्यायस्य समानत्वात् कोऽप्यत्र शङ्काऽवकाश इति १५
भावः ॥ ३५ ॥

इत्यमनादिवन्धं प्रतिपाद्य सुक्तस्त्वर्पं दर्शयन्नाह—

ज्ञात्वा पुनः सं च परं परेभ्यो निवर्चमानो विलसन् स्तमावे । १६
निःशेषगुदोऽक्रियतां प्रपञ्चो मुक्तो निगद्येत सदा चिदात्मा ३६
स्तमात्मानं परं सकलपदार्थेभ्यो मित्रं ज्ञात्वा परेभ्योऽन्येभ्यः
पुद्गलादिभ्यो निवर्चमानः पृथग् मदन् पुनः स्तमावे ज्ञानादित्वर्पे
विलसन् विलासं कुर्वन्, लीनो भवक्षिति यावत् । निःशेषेण कर्म-२२

मलापगमात् सामस्त्येन शुद्धो निर्भलीभूतो अत एव अक्रियता
सूक्ष्मचादरमनोवाकाययोगविवर्जितत्वं प्रपन्नः प्राप्तः सन् चिदात्मा
३ शुद्धज्ञानमय आत्मा सदा सर्वकाले मुक्तो निगदेत कर्मनिर्मुक्तः
सिद्धात्मा उच्येतेत्यर्थः । चः पादपूरणे ॥ २६ ॥

तदेवं युक्तिभिः वन्य-मोक्षौ व्यवस्थाप्य वेदवाक्यद्वारेणाऽपि
६ तद्यवस्थामाह—

यन्निर्गुणो नैव कदापि वद्धो
व्याख्यायि वृद्धैरिह चिन्मयोऽयम् ।
९ तनिश्चयाऽध्यानमपेक्ष्य लक्ष्यं
चैतन्य-जात्योभयमावमेदात् ॥ २७ ॥

चिन्मयस्तत्त्वतो ज्ञानमयोऽयमात्मा वृद्धैः प्राक्कनपुरुषैः इहाऽ-
१२ सिन् ‘स एष विगुणो विभुर्न वध्यते’ इत्यादौ वेदवाक्ये यन्निर्गुण-
स्त्रमोगुणादिशून्यस्तथा कदापि कर्मभिर्नैव वद्ध एवंल्पो व्याख्यायि
व्याख्यातस्तनिश्चयाध्वानं निश्चयमार्गं मोक्षमपेक्ष्य आश्रित्य लक्ष्यं
१५ ज्ञातव्यम् । कुरु इत्याह—चैतन्येत्यादि । चैतन्यं च चेतनत्वं च
जात्यं च जडत्वं च ते च यौ उमौ भावौ तयोर्मेदो मिश्वत्वं तस्मात् ।
अयमर्थः—चैतन्यमात्मस्तमावो जात्यं तु कर्मादिपुद्गलस्तमावः,
१८ आत्मकर्मणोश्च क्षीरनीरन्यायेन सम्बन्धस्ततश्च व्यवहारनयमपेक्ष्य
न प्रायेण चैतन्य-जात्यमावयोर्मेदः, निश्चयापेक्ष्या तु सर्वया मेदोऽ-
स्त्वैव, सर्वो मुक्तौ सर्वया जात्यापगमात् शुद्धैरन्यस्तैव च सद्ग-
यात्, ‘स एष विगुण’ इत्यादि वेदवाक्यानां मुक्तजीयविप्रयत्वं
११ मोक्षम् । मुक्तस्य च वन्याघमावेऽविप्रतिपरिरेपेति ‘न है

सशरीरस्य' इत्यादिवेदवाक्याभ्यां तु स्फुट एव वन्यो मोक्षश्च प्रति-
पादितोऽनुरीति नात्र शङ्खा कार्या ॥ ३७ ॥

तदेवं गगता छिन्नसंश्योऽसौ किं कृतवानित्याह— ३

निशम्य युक्तीरिति वीतशङ्खः श्रीवीतरागोक्तगमीरवाचाम् ।
स मण्डितोऽपि स्वपरिच्छदेन सावद्यकृत्यादितो वभूव ॥३८॥

इत्युक्तप्रकारेण श्रीवीतरागेण वीतस्मिना उक्ता या गमीरवाचो ६
गमीरवाप्यस्यासां सम्बन्धिनीर्युक्तीरूपपर्वीः निशम्य श्रुत्वा स
मण्डितोऽपि द्विजोपाध्यायो वीता गता शङ्खा यस्य स वीतशङ्खः सन्
स्वपरिच्छदेन निजशिष्यपरिकरेण सह सावद्यकृत्यात् सपापकार्यात् ९
प्राणातिपात्रादेः विरतो निवृत्तिमान् वभूव पारमेश्वरीं प्रव्रज्यां जग्रा-
हेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

—ॐ इति मण्डितस्यामिदीक्षाग्रहणम् ॥ ६ ॥ ॐ— १२

अथ मौर्यपुत्रस्य तदाह—

सार्वदयमाकर्ण्य जिनेश्वरस्य

श्रीमण्डितं प्रवजितं च शुद्धा । १३

समाययौ मौर्यधुयः सतत्रः

यिषाच्चचारोत्सुकनिषेच्छिः ॥ ३९ ॥

जिनेश्वरस्य श्रीवीरप्रमोः सर्वेन्द्रियं सर्वेऽन्तर्वं आकर्ण्य १४
जनमुखात् श्रुत्वा च पुनः श्रीमण्डितं प्रवजितं प्रमुणार्थे गृहीतप्रवज्यं
बुद्धा ज्ञात्वा सतत्रः सपरिवारः पुनः शिवाच्चनि मोक्षमार्गे यश्चारः
चरणं गमनं तत्रोत्सुका चिरवृत्तिर्यस्य स तथोक्त एवंविधो मौर्यों
मौर्यपुत्रो दुधो विद्वान् समाययौ प्रमुणार्थे समायातः ॥ ३९ ॥ २२

ततो भगवता यदुकं तदाह—

भो मौर्यपुत्राऽमरलोकवार्ता

३ सती न वा संशयवानिति त्वम् ।

‘मायोपमान् पश्यति निर्जरान् को’

व्यामोहयेदित्यपि वेदवाक्यम् ॥ ४० ॥

४ भो मौर्यपुत्र ! अमरलोकवार्ता देवलोकप्रवृत्तिः सती विद्यमाना

न वा इति संशयोऽस्त्यस्येति संशयवान् त्वमसि । किं देवाः सन्ति न
वा ? इति संशयः तव चेतसि वर्चते इत्यर्थः । अत्र संशये हेतुमाह—

९ ‘मायोपमान् मायासद्वशान् निर्जरान् देवान् कः पश्यति ?’ इति वेद-
वाक्यमपि त्वं व्यामोहयेत् व्यामोहं आन्तिमुत्पादयेत् । अयं माघः—

उभयथाऽपि वेदपदश्रवणात्वायं संशयः । तथा हि—‘स एष यज्ञा-

१२ युधी यजमानोऽज्जसा स्वर्गलोकं गच्छति’ इत्यादि तथा ‘को जानाति
मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-वरुण-कुवेरादीनि’त्यादि । एपां च वेद-

पदानामयमर्थस्तु बुद्धौ प्रतिभासते—यथा स एष यज्ञ एव दुरित-

१५ दारणक्षमत्वादायुधं यस्याऽसौ यज्ञायुधी यजमानोऽज्जसा प्रगुणेन न्यायेन
स्वर्गलोकं गच्छतीति देवसचाप्रतिपत्तिः, को जानातीत्यादीनि तु

देवाभावप्रतिपादकानि, अतस्तु संशयो, अयुक्तशायम्, यतोऽभीपां

१८ वेदपदानां नायमर्थः, किं त्वयं वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ ४० ॥

इत्यं मौर्यपुत्रस्य सन्देहं प्रादुप्लृत्य भगवांस्तद्वितर्कितयुक्तं प्रकट-
यन्नाह—

२१ त्वमूद्दसे नैरयिका यदार्चा आवृत्तिमृच्छन्ति न दुःखदिग्धाः ।

स्यापत्रतापामपि यस्तुराणां नावृतिरीक्ष्येत ततो वितर्कः ॥४१॥

२५ यद्यलात्कारणात् नैरयिका नरकवर्तिनो जीवा आर्णा क्षेत्रजादिविं-

विष्वेदनया पीडिताः अत एव दुखेन मानसिकाऽभुरेन पारबश्यादिना दिग्धा उपचिताः सन्ति, अतो न ज्ञावृचिं इहागमनं क्रच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । परं सुराणां देवानां स्वायचतायां स्वाधीनतायां सत्यामपि ३ यत् ज्ञावृचिरागमनं न ईक्षेत न हृषेत, ततो वितर्कः कि सुराः सन्ति न वा ? इत्येवंखलो विमर्शः, समुत्पदेत इति शेषः, इति त्वमूहसे चिन्तयसि ॥ ४१ ॥

स्युर्यज्ञकर्माणि सुराश्रयाणि प्रतीयते तेन तु देवसत्ता ।

विरुद्धवाचस्तव चित्तमेवं विघ्नयन्त्यस्तकिनास्तिभावात् ॥४२॥

सुरा देवा एव आश्रयो येषा तानि सुराश्रयाणि यज्ञकर्माणि ६ हविर्दीनादीनि सर्वाण्यपि यज्ञकार्याणि स्वर्मवेयुः, देवानुहित्यैव हविर्दीनादिप्रवृत्तेरिति भावः । तु इति विशेषे, तेन हेतुना देवसत्ता देवानां सद्ग्रावः प्रतीयते ज्ञायते, ‘को जानाति’ इत्यादिवाकयेन च ३३ देवाऽमावो ज्ञायते इत्युक्तमेव प्राक्, एवमित्यं विरुद्धा विरुद्धार्थ-सूचिकाः वाचो वेदवाण्योऽस्तकिनास्तिभावात् सुराणामस्ति-नास्तित्व-माश्रित्य तव चिरं विघ्नयन्ति ऋमयन्ति । चुरादिण्यन्तस्य धूजो ‘धूज् ३५ प्रीत्रोः’ (वा०) इति नुकृ । अस्तकीत्यादि । अस्तकिति तिडन्त-प्रतिरूपकमव्ययं ‘अव्ययस्तवेनाभाम्’ (५।३।७१) इति टेः प्रागकच् । अस्तेवास्तकि अस्तकि च नास्तकि च अस्तिकिनास्ति, तयो- १० र्मावस्तसात् श्यञ्ज्लोपे पञ्चमी ॥ ४२ ॥

अत्रोचरमाह—

प्रत्यक्षतः पश्य मनोज्ञवेषा-
न्देवानिमानत्र चतुर्निर्कायान् ।

जानीहि मा केचिदिमे मनुप्याः
सन्तीति पश्याऽनिमिपत्वमेषु ॥ ४३ ॥

३ मनोज्ञो वेषो येषां ते मनोज्ञवेषास्तान् तथा चत्वारो निकाया
निवासा येषां ते चतुर्निंकायास्तान् भवनपत्यादिचतुर्विधान् इमान्
देवान् अत्र प्रदेशे प्रत्यक्षतः प्रत्यक्षप्रमाणेन पश्य विलोकय, इमे
५ केचिन्मनुप्याः सन्तीति मा जानीहि । कथमित्याह—पशु पुरःस्थि-
तेषु अनिमिपत्वं निनिमेपत्वं पश्य, मनुजा हि चक्षुर्निर्मेषोन्मेषकिया-
चन्तो भवेयुः न चामी तथा, इति सिद्धं स्पष्टमेवैतेषु देवत्वमिति
९ तात्त्वर्यम् ॥ ४३ ॥

अथैतदर्थनात्पूर्वं यः सन्देह आसीत् स तु युक्तो भवेदित्यपि न
वाच्यं कुत इत्याह—

१२ ज्योतिष्कचक्रं विचरन्तमभ्रे
प्रत्यक्षतः पश्यसि किं न स्ते ! ।

१५ जानीहि मा किञ्चिदिदं प्रमेयं
तेजोमयं वाऽप्मयमेव वाऽस्ति ॥ ४४ ॥

१६ हे स्ते ! हे विद्वन् ! अमे आकाशे विचरन्तं ज्योतिष्कचक्रं
ज्योतिर्देवमण्डलं प्रत्यक्षतः किं न पश्यसि ? एतावता पश्यस्येवेत्यर्थः ।
१८ एतेन प्रागपि सन्देहो न युक्त इत्यावेदितं, किं च इदं नमसि प्रत्य-
क्षतो हृदयमानं प्रमातुं योग्यं प्रमेयं ज्ञेयं सूर्यविम्बादिवस्तु तेजोमयं
चद्विमयं वाऽथवा अप्यः स्वरूपमस्येति अप्मयं जलमयमेव वाऽस्तीति मा
जानीहि । अयमर्थो यदुत को जानाति किमेतद्वेत ? किं सूर्योऽग्नि-
२२ मयो गोलधन्दस्तु अप्मयः स्वमायतः सच्छ इति सूर्यादीनां फय-

मेतेषां देवत्वसिद्धिरिति माऽनुच्यत्वेति ॥ ४४ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह—

तत्त्वे जडत्वाद्गतिरीक्ष्यते किं सचेतनत्वे खलु युज्यते सा । ३
तवाऽत्र चेदालयमात्रबुद्धिस्तथाऽपि ये वासमृतः सुरात्मे ॥ ४५ ॥

तत्त्वे सूर्यादेवग्रिमयत्वेऽनुमयत्वे च सति नडत्वादचेतनत्वाद्
गतिर्नियतप्रदेशो गमनं किमीक्ष्यते ? कथं दृश्यते इत्यर्थः । खलु दृ-
निधितं सा विशिष्टा गतिः सचेतनत्वे सति युज्यते उपपदते, ततो
नियतगतिमत्त्वादेव तेषां देवत्वसिद्धिरिति भावः । पुनरपि तदाशङ्का-
माविष्कृत्य भगवानाह—तवेत्यादि । चेद्यदि अत्र ज्योतिश्चके १
आलया एव आलयमात्रं चन्द्रादिविमानानि न तु देवा इति बुद्धि-
स्तव भवेत् । अयमर्थः—‘यथा शून्यं पुरं लोकानामालयमात्रं स्थान-
मात्रं न तु तत्र लोकाः सन्ति’ एवं चन्द्रादिविमानान्यपि आलया एव १२
न तत्र देवाः केचिच्छिष्टन्तीति, अतः कथं तेषां प्रत्यक्षत्वम् ? इति
चेत्तव बुद्धिः, तथापि वासं तद्विमाननिवासं विप्रतीति वासमृतः तदा-
लयवासिनो ये केऽपि सन्ति ते सुरा देवा, ज्ञेया इति शेषः । यो हि १५
आलयः स सर्वोऽपि तन्निवासिनाऽधिष्ठितो दृष्टः, यथा प्रत्यक्षोपलभ्य-
माना देवदण्डविषिता वसन्तपुराघालयाः, आलयाश्च ज्योतिष्कवि-
मानान्यत आलयत्वान्यथाऽनुपत्तेर्ये तन्निवासिनस्ते देवा ज्ञेया इति १६
भावः । इह पुनराशेषपरिहारविस्तरस्तु इहत्यविशेषपावश्यकवृत्ते-
ज्ञेयः ॥ ४५ ॥

अथ प्रसङ्गादेतेषां भेरुं प्रदक्षिणीकृत्य परिग्रमणे हेतुगाह—

२१

रतिर्गतावेव सहाऽप्यमीपां चिरन्तनी वा स्थितिरस्ति लोके ।
यद्धोकपालानुमताः सुरादिं प्रदक्षिणीकृत्य परिग्रमन्ति ॥४६॥

३ अमीपां ज्योतिष्कदेवानां सदाऽपि सर्वसिन्नपि काले गतौ गमने
एव रती रागो विद्यते यत आगमेऽमी गतिरतिका उच्चन्ते । वाऽथवा
लोके चिरन्तनी चिरकालोङ्गवा स्थितिर्मर्यादाऽस्ति । कासावित्याह—
६ यत् लोकपालैः सोमादिभिरनुमता अनुज्ञाता अभी ज्योतिष्कां सुरादिं
मेरुगिरिं प्रदक्षिणीकृत्य परिग्रमन्ति पर्यटन्ति । ज्योतिष्कां हि मायेण
लोकपालानामपत्यस्यानीयाः श्रीभगवत्यां प्रोक्ताः सन्ति अत एतद्वि-
९ शेषण्म् ॥ ४६ ॥

पुनर्देवास्तिवे युक्त्यन्तरमाह—

तथा सुरा व्यन्तरका मनुष्यान्

१२ सुखानि दुःखानि च लम्भयन्तः ।

सन्ति प्रसिद्धास्तददृश्यता तु

प्रतीयतां वैक्रियकाययोगात् ॥ ४७ ॥

१५ यथा ज्योतिष्काः प्रत्यक्षतः परिग्रमन्तो दृश्यन्ते, तथा तेनैव
प्रकारेण व्यन्तरा एव व्यन्तरकाः, उपलक्षणादन्येऽपि केचित् सुरा
देवा मनुष्यान् विमवपदानादिना सुखानि, च पुनर्स्तदपहरणादिना
१८ दुःखानि लम्भयन्तः मापयन्तः प्रसिद्धाः सन्ति । ततो राजादिवत्कथ-
मेते न सन्ति । इति भावः । यदेवं तर्हि कथं ते सर्वदा मनुष्यादि-
वश दृश्यन्ते इत्याशङ्कवाह—तदित्यादि । तेषामहृश्यता तद-
११ दृश्यता तु वैक्रियकायस्य वैक्रियशरीरस्य यो योगो व्यापारः

१ येषामालानुमता इति ।

सम्बन्धो वा तस्मात्प्रतीयतां ज्ञायताम् । वैकियकायो हि विविधक्रिया-
मृद्गवति, ततो दृश्यो वाऽदृश्योऽपि वा भवेत्तात्र किञ्चिद्वाधकमिति
भावः । लम्भयन्त इति । लमेहेतुमण्णयन्तात् शतृ, 'लमेश्व', (७।१।३
६४) इति नुम् । एतद्योगे 'गतिबुद्धि' (१४।५२) इत्यादिना
मनुष्यानिति अणौ कर्तुर्णौ कर्मत्वम् ॥ ४७ ॥

४७ वैकियशरीरमाश्रित्योक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

स्यूलं च सूक्ष्मं लघु च प्रलम्बं दृश्यं तथाऽदृश्यमपि प्रकाशम् ।
देहं यंच्छानुगतं सुराणां यद्विक्रियं साद्विविधक्रियातः ॥ ४८ ॥

सुराणां देवानां यंच्छानुगतं स्वेच्छानुसारिदेहं शरीरं भवेत् । ९
कथमिल्याह—कदाचित् स्यूलं पुष्टं भवेत्, च पुनः कदाचित्
सूक्ष्ममतिकृंशं भवेत् । एवं कदाचित् लघु हस्तं कदाचित्प्रलम्बं
दीर्घम्, एवमेव कदाचित् प्रकाशं प्रकटं द्वंश्यं दर्शनार्हं तथा कदा- १२
चिददृश्यमपि भवेत्, यद्यसात्कारणादुक्तनीत्या विविधक्रियातोऽनेक-
विधरूपकरणादिक्रियामाश्रित्य वैक्रियं शरीरं स्यात् । ततश्च कदा-
चिददृश्यत्वेऽपि न.नास्तित्वशङ्का कार्येति भावः ॥ ४८ ॥ १३

प्रकारान्तरेणाऽपि देवात्मित्वं साधयन्नाह—

. अत्युप्रपापद्वुफलोपभोगः

रूपातो यथा नैरायिकेषु सञ्ज्ञिः ।

तथा महापुण्यफलोपभुज्यै

देवा निरुक्ताः खलु वारतम्यात् ॥ ४९ ॥

यथा सञ्ज्ञिविद्वद्विनैरयिकेषु नारकजीवेषु अत्युभ्यं प्रबलतरं पाप- २१

१ अत्र 'महापुण्यफलोपभुज्यै' इति आशीमुद्रितपाठः, स च टीकाकृतां
न सम्मत इति प्रतिभासते ।

मेव हुः वृक्षस्तस्य फलानां विविधदुःखरूपाणामुपभोगो विपाकानुभवः
स्व्यातः प्रोक्तस्था सलु निश्चितं तारतम्यात् तरतमयोगेन, स्वस-
३ पुण्यानुसारेणेत्यर्थः । मंहापुण्यफलानां परमैश्वर्यादिसुखस्वरूपाणामुप-
भुक्त्यै उपभोगाय देवा निरुक्ता निर्निश्चयेनोक्ताः, सन्तीति शेषः ।
एतावता यथा स्वकृतोऽकृष्णपापफलभोगिनो नारकास्त्वया प्रतिपन्ना-
६ स्था स्वोपार्जितसुवहुपुण्यफलभुजो देवा अपि प्रतिपचव्या इति
भावः ॥ ४९ ॥

अथ 'को जानाति मायोपमानि'त्यादिवेदवाक्यस्य तात्पर्यमाह—
७ मायोपमत्वं यदवादि वेदे ह्यनित्यतायाः प्रतिपादकं तत् ।
न चेदिदं यज्ञविधिस्तु सत्यो भवेत्कमुद्दिश्य मनोरथात्यै ॥५०॥

अत्र देवानाभिति शेषः, ततश्चाऽयमर्थः—वेदे देवानां यन्मा-
१२ योपमत्वं इन्द्रजालमायातुल्यत्वमवादि कथितं तत् हीति निश्चितं,
अनित्यतायाः प्रतिपादकमभिधायकं ज्ञेयम् । अयं भावः—को
जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-ब्रह्म-कुवेरादीनित्यादिवाक्यं
१५ यद्वेदे उक्तं तदसि न देवनास्तित्याभिधायकं किंतु सुराणामपि मायो-
पमत्वाभिधानेन शेषाद्विसमुदायानां सुतरामनित्यताप्रतिपादकं वोधव्य-
मिति । 'विचित्ररूपाश्रयणात्तदेतत्' इति पाठान्तरम्, तत्राऽय-
१८ मर्थः—यद्वेदे देवानां मायोपमत्वमुक्तं तदेतद्विचित्ररूपाणामनेकवि-
घरूपाणामाश्रयणाद्विधानात् ज्ञेयमिति । चेद्यदि इदं प्रागुक्तं देवा-
स्तित्वं न भवेत् तद्वित्तु इति विशेषे, मनोरथात्यै सद्यान्वितप्राप्तये
२१ कियमाणो यज्ञविधिरमिहोत्रादियज्ञानुष्ठानं कं पदार्थमुद्दिश्य सत्यो
भवेत्, यतो 'अमिहोत्रं जुहुयात् सर्वकाम' इत्यादिना वेदवाप्तयेन
२३ सर्वरूपं यज्ञफलमुक्तं, सर्विणीं चामावे कुतः सर्वं इति यज्ञविधे-

वैकल्प्यमेव प्रसज्यते, उपलक्षणात् समख्यालोकप्रसिद्धं दानादिफलमप्य-
युक्तं स्यात् । तथा देवाऽभावे वेदमन्त्रपदैर्देवाहानमपि वृथैव भवेत् ।
तस्माद्युक्तितो वेदवाक्येभ्यश्च सन्ति देवा इति खितम् ॥ ५० ॥ ३

अथैवं भगवता छिन्नसंशयो मौर्यपुत्रः किं कृतचानित्याह—

इति श्रुत्वा युक्तीर्जिनपतिसुधासोदरगिरां

पुनस्तत्रोपेतं प्रकटमवधार्याऽमरगणम् ।

विभिः साद्वैः साद्वै विनयवनतैः खण्डिकश्चतैः

स मौर्यः प्रावाजीत्परमपदलिप्सुद्विजवरः ॥ ५१ ॥

इति इस्थं जिनपते: श्रीवीरस्यामिनः सुधासोदरा अमृततुल्या १०
गिरो वाचस्तासां युक्तीः श्रुत्वा पुनस्तत्र समवसरणे उपेतं प्राप्तममरगणं
देवसमूहं प्रकटमवधार्य निश्चित्य स मौर्यो मौर्यपुत्रो नाम द्विजवरो
ब्राह्मणमुख्यः परमपदं मोक्षं लिप्सुर्लब्धुमिच्छुः सन् विनयेत् अव- १२
नतैर्निवैः साद्वैः अर्द्धशर्तैसंहितैखिभिः खण्डिकानां छात्राणां शतैः साद्वै
सह प्रावाजीत् प्रभोः पार्थे प्रवज्यां जग्राह । विनयवनतैरिति ।
‘वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योहृपसर्गयोः’ इति वचनादलोपः । इदं १५
शिखरिणी बृत्तम्, तलक्षणं च ‘रसै रुद्रैश्चिन्ना यमनसभला गः
शिखरिणी’ इति ॥ ५१ ॥

इति श्रीच्यक्त-सुधर्म-मण्डित-मौर्यपुत्राणां दीक्षाग्रहणवर्णनो १६
नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इति स्पष्टम् ।

इति गौतमीयमहाकाव्यब्याख्यायो गौतमीयप्रकाशाख्यायो

नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

२२

१ इह ‘सार्प रार्घ’ इति खाद्यामुक्तिपाठशिल्पः ।

दशमः सर्गः ।

अथ श्रुत्वेन्द्रभूत्यादीन् श्रेयः श्रामण्यसंश्रितान् ।

३ अकम्पितोऽप्युपाध्यायो वीरं वन्दितुमाययौ ॥ १ ॥

विशुद्धविज्ञानकरं प्रसार्य छकम्पितायौ भवसिन्धुमस्यात् ।

४ समुद्भूतौ येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै चिशलाऽऽत्मजाय ॥ १ ॥

५ अथानन्तरं श्रेयोऽतिप्रशस्यं श्रामणत्वं संश्रितमङ्गीकृतं
यैस्ते, तान् तथाभूतान् इन्द्रभूत्यादीन् द्विजान् श्रुत्वाऽकम्पितो नाम
उपाध्यायोऽपि वीरं श्रीवीरप्रभुं वन्दितुं नमस्कर्तुं आययौ समा-
जगाम ॥ १ ॥

अभाषत जगन्नाथोऽप्यकम्पित ! किमूहसे ? ।

तिर्यङ्ग-नरा-ऽमराः सन्तु नारकाः सन्ति वा न वा ॥ २ ॥

१२ जगतां नाथो जगन्नाथः श्रीवीरप्रभुरपि अभाषत तं भाषते स ।

किमित्याह—हे अकम्पित ! तिर्यग्नश्च नराश्च अमराश्च देवास्तिर्यङ्ग-
नरा-ऽमराः सन्तु परं नारका जीवाः सन्ति वा न वा इति त्वं किं

१५ ऊहसे कथं वितर्कयसे ?, इमां शङ्कां मा कृथा इत्यर्थः । इदमत्र
तात्पर्यम्—किं नारकाः सन्ति न वेति त्वं मन्यसे, अयं च तव-

संशयो विरुद्धवेदपदश्रवणनिवन्धनः । तथा हि—‘नारको वै एष

१८ जायते यः शद्वान्नमक्षाति’ इत्यादि । एष व्राण्णो नारको जायते यः
शद्वान्नमर्हीत्यर्थः, इत्यादिवाक्यानि नारकसत्त्वप्रतिपादकानि । ‘न ह

१९ वै प्रेत्य नारकाः सन्ति’ इत्यादीनि तु नारकामावप्रतिपादकानि ।

एतेषामर्थं युक्तिं च त्वं न जानासि तेन संशयं दधासि, परमऽयुक्तोऽयं

२२ संशयो यत एषामर्थं वक्ष्यमाणोऽर्थं इति ॥ २ ॥

इत्थं संशयं प्रादुर्जृत्य भगवांत्सद्वितर्कितयुक्ते प्रकटयन्नाह—

प्रकटं वीक्ष्य ज्योतिष्कान् प्रतीतिस्ते सुरेष्वपि ।

तिर्थइनरास्तु प्रकटः प्रेक्ष्यन्ते नात्र संशयः ॥ ३ ॥ ३

तुरीयगतिरुच्येत जीवानां निरयाह्या ।

नेक्षितात्सद्गता जीवा गृहीता न च लिङ्गतः ॥ ४ ॥ ४

अंत आरेकसे तत्राऽस्तित्व-नास्तित्व-चिन्तया ।

परं यन्म त्वदध्यक्षं तदप्रत्यक्षमेव न ॥ ५ ॥ ५

त्रिभिः सम्बन्धः ।

हे अकंपित ! ज्योतिष्कान् देवान् प्रकटं यथा स्यात्था वीक्ष्य ९
द्वाष्टा, अपिशब्दादऽन्यान् अप्रत्यक्षानपि सुरान् विद्यमन्नौपयाचितका-
दिफलसिद्धाऽनुमानतो ज्ञात्वा सुरेषु देवेषु ते तत्र प्रतीतिरस्ति,
तिर्थइनरास्तु प्रकटा एव प्रेक्ष्यन्ते द्वयन्ते अतोऽत्रापि संशयो नास्ति १२
॥ ३ ॥ परं निरयो नरक आहयो नाम यस्याः सा निरयाह्या या
जीवानां तुरीयगतिश्चतुर्थी गतिरुच्येत शास्त्रे कथ्येत, तद्गतात्मां गतिं
श्राप्ता जीवा नारका न ईक्षिताः न साक्षादृष्टाः, न च लिङ्गतः केन- १५
चिल्हेनाऽनुमानेन गृहीताः ॥ ४ ॥ अतोऽसात्कारणात्र नारकेषु
अस्तित्व-नास्तित्वयोश्चिन्तया विचारेण त्वं आरेकसे संदेहं दधासि
‘ऐकृ शङ्कायां’ कर्त्तरि लद् । परं हे अकंपित ! यद्रस्तु त्वदध्यक्षं तत्र १८
प्रत्यक्षं नास्ति तत् सर्वेषामपि अप्रत्यक्षमेवेति न ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

अत्र भगवान् युक्तिमाह—

सन्ति यथापि सिंहाद्याः केषांचिन्नाद्विगोचराः ।

तथापि ते च केषांचित्प्रत्यक्षा वनवासिनाम् ॥ ६ ॥ २२

१ ‘तत आरेकसे’ इति काशीमुद्रितः पाठः दीक्षाकृदसम्मतः ।

सिंहाद्याः सिंह-शरभ-हंसाद्यो जन्तुविशेषा यद्यपि केषाच्चिन्ननु-
प्याणामक्षिगोचरा दृष्टिविषया न सन्ति, तथापि च ते सिंहाद्याः
३ केषाच्चिद्वनस्यासिनां वनेचराणां भिलादीनां प्रत्यक्षाः सन्त्येष ॥ ६ ॥

त्वदप्रत्यक्षेऽपि तथा प्रत्यक्षा मम नारकाः ।

तान् प्रतीहि मदुक्त्यैव, प्रमाणं यत आसुवाक् ॥ ७ ॥

६ तथा तेनोक्तेनैव प्रकारेण नारकास्त्वदप्रत्यक्षेऽपि एतत्रिदेशस्य
मावप्रधानत्वात्त्वाऽप्रत्यक्षत्वेऽपि, मम प्रत्यक्षा एव सन्तीति शेषः, तान्
नारकान्मदुक्त्या भद्रूचनेनैव प्रतीहि सन्तीति जानीहि । यतो यस्मात्
९ आसस्य यथार्थवकुर्वाक् प्रमाणं यथार्थज्ञानजनने हेतुरस्ति । अतो
मदुक्त्यैव नारका अपि सन्तीति प्रतिपद्यसेति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

अथाभिप्रायान्तरमाशङ्क्व परिहरन्नाह—

१२ प्रत्यक्षं मन्यसे यत्त्वं प्रत्यक्षं तत्र तत्त्वतः ।

इन्द्रियोद्भवविज्ञानं परोक्षं तत्त्वं तात्त्विकम् ॥ ८ ॥

हे अकम्पित ! यत् इन्द्रियोद्भवविज्ञानं चक्षुरादीन्द्रियजन्यज्ञानं
१५ तत्त्वं प्रत्यक्षं मन्यसे तत्त्वतः परगार्थतः प्रत्यक्षं नास्ति । तु इति
विदेषे, तत् ज्ञानं तात्त्विकं पारगार्थिकं परोक्षं वर्चते । अयं भावः—
यदिन्द्रियाणां प्रत्यक्षं तदेव प्रत्यक्षमिष्यते भवता, मदीयं तु प्रत्यक्षं
१८ नाम्युपगम्यतेऽतीन्द्रियत्वात् । स तु महानयं विष्यासो यत उपचार-
मावत एव तदिन्द्रियप्रत्यक्षतया व्यवहियते । यथा चाऽनुभाने चाष्टधू-
गादिलिङ्गद्वारेण चाष्टगम्यादि वस्तु ज्ञायते । नैवगत्र, तत्र उपचारा-
त्वप्रत्यक्षमिव प्रत्यक्षमुच्यते । परमार्थतस्तु इदमपि परोक्षमेव, यतोऽशो
२२ जीवः स चानुभानवद्वापि वस्तु साशाश्व पश्यति किं त्विन्द्रिय-

द्वारेणैव । ततोऽतीनिद्रयमेव सर्वं प्रत्यक्षं ज्ञातव्यम्, तत्र जीवेन
साक्षादेव वस्तुन उपलभ्यादिति ॥ ८ ॥

अथामुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

३

उणादिकोऽक्षशब्दो यः स्वाध्यात्यर्थाशिखातुजः ।

तद्वच्य आत्मा प्रति तं गतं प्रत्यक्षमुच्यते ॥ ९ ॥

व्याप्तिरथो यस्य स व्याप्त्यर्थं एवंविधो योऽशिखातुः, 'अशूङ् ६
व्यासौ' इत्याकारको धातुः, तस्माज्ञातो व्याप्त्यर्थाऽशिखातुजः, उणादौ
भव उणादिक, उणादिकप्रत्ययान्त इत्यर्थः । एवंविधो योऽक्षशब्दः
स्यात्, उपलक्षणात् 'अक्षू व्यासौ' इति धातोः पञ्चाद्यजन्ताश्चिप्पत्रो-९
ऽक्षशब्दोऽपि वोध्यः, तस्याऽक्षशब्दस्य वाच्योऽभिधेय आत्मा तं
प्रति गतं प्राप्तं प्रत्यक्षमुच्यते । 'अक्षो रथस्यावयवे च्छ्रवद्वारे
विभीतके । प्राप्तके शकटे कर्पे ज्ञाने चासनि रावणे' इति हैमः, १२
(अनेकार्थः) ॥ ९ ॥

शान्दिकैरक्षिशब्देन प्रत्यक्षं चत्प्रसाधितम् ।

ततु चाक्षुपमेव स्यान्नं स्वादा रासनादिकम् ॥ १० ॥ १५

शब्दं शब्दशास्त्रं विदन्ति अधीयते या शान्दिका वैयाकरणास्ते-
रक्षणोराभिमुख्यमित्यादिव्युत्तस्याऽक्षिशब्देन यत् प्रत्यक्षं यदं प्रसा-
धितं निष्पादितं ततु अर्थमाश्रित्य चक्षुपोर्भवं चाक्षुपं चक्षुरिन्द्रिय-१८
जन्यज्ञानविषयमेव प्रत्यक्षं स्यात् । वाशब्दः पुनरर्थः, रसनायां
जिह्वायां भवं रासनं तदादिर्यस्य तत् रासनादिकं पुनः प्रत्यक्षं न २०

१ इह 'न स्याद् रासनादिकम्' इवे काशीमुदितः पाठश्चन्दोन्नरोधेन स्वार-
स्यकैकत्याच त्यज्यः ।

सात्; अक्षिशब्दस्य चक्षुःपर्यायत्वादिति भावः । प्रत्यक्षमित्यन्
 ‘लक्षणेनाभिप्रति-’ (२।१।१४) इत्यादिना समासः, ‘प्रतिपरसमः
 इनुभ्योऽक्षणः’ (गणसूत्रम्) इति ट्यू । ‘यस्येति च’ (६।४।१४८)
 इति लोपः ॥ १० ॥

प्रत्यक्षुतानिवेशार्थमत्र या काऽपि कल्पना ।

६ सा गौरवात्कथं आहा पूर्वोक्तौ लाघवं यदि ॥ ११ ॥

अत्र रासनादिप्रत्यक्षे प्रत्यक्षताया निवेशः स्यापनं तदर्थं या काऽपि
 कल्पनाऽन्या संभावना सा गौरवात्कथं आहा ? यदि पूर्वोक्तौ पूर्वेसिन्
 ९ कथने लाघवं सात् । एतावता लाघवं परित्यज्य गौरवं न आहा-
 मित्यर्थः ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणि पराण्येवाऽत्मनस्तेन परोक्षता ।

१२ इन्द्रियोद्भवविज्ञाने गौणत्वं यत आत्मनः ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणि आत्मनः सकाशात्पराणि अन्यान्येव सन्ति, तेन हेतुना
 १५ इन्द्रियोद्भवविज्ञाने इन्द्रियजन्यज्ञाने परोक्षता वर्चते, नतु प्रत्यक्षत्व-
 मित्यर्थः, यतो यसात् इन्द्रियजन्यज्ञाने आत्मनो गौणत्वमप्रधानत्व-
 मस्ति, अत एव तस्य परोक्षत्वमिति भावः ॥ १२ ॥

द्वारोपचारतश्चैतदपि प्रत्यक्षमस्तु ते ।

१६ धृतमायुरिति रूपातिर्थतः सत्या प्रवर्चते ॥ १३ ॥

च पुनर्दीर्गाणि आत्माधिष्ठितदेहस्य द्वारभूतानि इन्द्रियाणि तेषा-
 मुपचार आत्मतयाऽरोपणं तसाद्वारोपचारतस्ये तत्र मतेन एतदि-
 २१ न्द्रियजन्यज्ञानमपि प्रत्यक्षमस्तु, यतो यसादुपचारादेव ‘धृतमायुः’

^१ अत्र ‘आत्मोपचारतः’ इति धर्माद्विदितविन्यः ।

इति स्यातिः प्रसिद्धिः सत्या प्रवर्तते । अयमर्थः—यथा कारणे
कार्योपचारात् आयुपः कारणमपि धृतमायुरित्युच्यते तथा एत-
ज्ञानमप्यस्त्वति ॥ १३ ॥

३

तत्र प्रत्यक्षविज्ञाने सत्या चैवं परोक्षता ।

प्रत्यक्षं सकलं यन्मे तेन पश्यामि नारकान् ॥ १४ ॥

एवं च तत्र मते प्रत्यक्षं यद्विज्ञानं तत्रोपचारात् प्रत्यक्षत्वे सत्यपि ६
सत्या परोक्षतैव विद्यते । इत्यं नारकाऽदर्शने हेतुभूतं तज्ज्ञानपारो-
द्यमुपदर्श्य सद्य तद्वैपरीत्यमाह—यद्यस्मान्मे मम सकलं सर्वं वस्तु
प्रत्यक्षं प्रत्यक्षज्ञानविपर्यकं वर्तते तेनाहं नारकान् पश्यामि ॥ १४ ॥ ९

अथोक्तेऽर्थं भगवानुपपत्तिमाह—

अनन्यदृष्टं भावं ते निरीक्षे चेन्मनोगतम् ।

तदा प्रतीहि सकलं प्रत्यक्षं मयि वर्तते ॥ १५ ॥

हे अकम्पित ! ते तत्र न अन्यैरन्तिशयज्ञानिभिर्दृष्टं अनन्यदृष्टं
मनोगतं भावमभिप्रायं पदार्थं वा चेद्यदि अहं निरीक्षे साक्षात्पद्यामि
तदा तर्हि मयि सकलं वस्तु प्रत्यक्षं वर्तते इति त्वं प्रतीहि १५
ज्ञानीहि ॥ १५ ॥

अतश्चेन्न परीतोपोऽर्थापत्ति मानमाश्रय ।

वहुधा साधितं वस्तु दृढतामश्चुते यतः ॥ १६ ॥

यतो असाक्षणात् चेद्यदि न परीतोपस्त्रव परिहुष्टा नास्ति
तर्हि अर्थापत्ति मानं प्रमाणमाश्रय अङ्गीकुरु । यतो यस्माद्वहुधा
वहुभिः प्रकारैः साधितं वस्तु दृढतां अश्चुते प्राप्नोति ॥ १६ ॥

३

१ इह ‘प्रत्यक्षमपि वर्तते’ इति काशीमुद्रितपाठोऽख्यारसान्न मनोरमः ।

अथाऽर्थापतिमेव दर्शयति—

अन्यथाऽनुपपत्त्यैकलक्षणात्किल हेतुतः ।

३ अर्थापतिः प्रमाणं स्यात्पीनोऽयं रात्रिसुग्यथा ॥ १७ ॥

किलेति संभावनायाम्, अन्यथाऽनुपपतिरेव एकं लक्षणं यस्य स तस्मात् हेतुतोऽर्थापतिः प्रमाणं स्यात् । तत्र दृष्टान्तमाह—पीनोऽय-
दमित्यादि । ‘दिवा न सुङ्गे’ इति वाक्यशेषोऽत्र द्रष्टव्यः । यथा
पीनः पुष्टोऽयं देवदत्तादिः पुमान् दिवा न सुङ्गे अत्र पीनत्वाऽन्य-
यानुपपत्त्या रात्रौ सुङ्गे इति रात्रिसुकृ अर्थापत्त्या ज्ञायते ॥ १७ ॥

४ एवमत्रापि भावयति—

उत्कृष्टसुखभोगाय यथा देवाः प्रतिष्ठिताः ।

तथैवेकान्तदुःखाय विना नैरयिकांस्तु के? ॥ १८ ॥

१२ यथा उत्कृष्टसुखस्य भोगाय सुक्तयर्थं देवाः प्रतिष्ठिताः प्रतिष्ठाः
प्राप्ताः सन्ति, तथैव एकान्तदुःखाय अत्यर्थदुःखानुभवनाय नैरयिकान्
विना नारकजीवव्यतिरेकेण तु पुनः केऽन्ये? न केऽपीत्यर्थः । तत-
१५ अर्थापत्त्याऽपि नारकाः सन्तीत्यागतम् ॥ १८ ॥

१६ न अतिदुःखिता ये तिर्यग्मनुप्याग्न एवोत्कृष्टपापफलभोगित्वात्
नारकव्यपदेशभाजो भविष्यन्ति, किमद्दृष्टनारकक्षपनयेत्या-
शक्त्वा—

नैकान्तदुःखभोक्तारस्तिर्यश्चोऽपि नरा अपि ।

दुःखादिथान्विरेतेषां काले काले विलोक्यते ॥ १९ ॥

१७ तिर्यग्मोऽपि नरा मनुप्या अपि अतिदुःखिता अपि सन्तो, न
एषान्तदुःखभोक्ताः सन्ति । यतः काले काले कलिंधित् अवसरे

अवसरे एतेषामतिदुःखिततिर्यग्गरणामपि दुःखाद्विश्वान्तिविश्वामो
विलोक्यते दृश्यते । अयमर्थः—येषामुत्कृष्टपापफलभोगलेपां संभ-
चद्धिः सर्वेरपि प्रकारैर्दुःखेन भवितव्यं, नचैवमतिदुःखितानामपि १
तिर्यगादीनां दृश्यते, आलोक-तरुच्छाया-शीतपञ्चन-सरः कूपञ्चलादिसु-
खस्यातिदुःखितेष्वपि तेषु दर्शनात् नरकपसिद्धैश्चेदनमेदनादिपकारै-
निस्न्तरं च दुःखस्यादर्शनात् । ततश्च न ते उत्कृष्टदुःखमोक्तारः २
किंतु एतद्वितिरिक्ता एव नारकास्तादृशा ज्ञेयाः ॥ १९ ॥

पुनर्नारकास्तित्वे युक्तिमाह—

नारकैरुपमेयाः स्युर्ये चाऽप्यत्यन्तदुःखिताः । ३
तिर्यश्चो वा मनुष्या वा तस्मात्सन्तः कथं न ते? ॥ २० ॥

येऽपि च अत्यन्तदुःखितास्तिर्यश्चो वा मनुष्या वा ते नारकैः
उपमेया उपमाकुं योग्याः स्युः, तस्माद्वेतोल्लो नारकाः कथं सन्तो १२
विद्यमाना न वर्चन्ते, सन्त एवेति भावः ॥ २० ॥

अमुमेवार्थं द्रढयति—

भावे भावोपमैत्र स्यात् त्वभावेन शुचिता । ३५

वाच्याः शुद्धपदेनैते नाभाया नारकास्ततः ॥ २१ ॥

भावे सद्गृहे पदार्थं भावेन सद्गृहपदार्थेन उपमा एव उचिता
योग्या स्यात् न त्वभावेन असद्गृहपदार्थेन स्वपुष्यादिभा उपमा उचिता । १६
तथा एते नरकस्या जीवाः शुद्धं घटपटादिवत्केवलं यज्ञारक इत्या-
कारकं पदं तेन वाच्या अभिधेयाः सन्ति, ततः कारणात् नारका
अभाया अभावस्तुत्या, न किंतु भावरूपा एवेति भावः । पदद्वया-
भिधेयस्य कस्यचिदर्थस्य वन्ध्यापुत्रादिवदभावत्वेऽपि शुद्धपदाभिधेयस्य २१

सर्वस्यापि भावत्वमेवेति तात्पर्यम् । यदपि 'न ह वै प्रेत्य नारकः सन्ति' इत्यादौ वेदवाक्ये नारकाऽभावः शङ्खते भवता, तदप्ययुक्तं, ३ यतोऽयमत्राभिप्रायो वोध्यः—न खलु प्रेत्य परलोके मर्वादिवच्छा-
श्वताः केचनाप्यवस्थिता नारकाः सन्ति किंतु य इहोक्तुष्टं पापमर्ज-
यति स इतो गत्वा प्रेत्य नारको भवति । अतः केनापि तत्यापि न
६ विवेयं, येन प्रेत्य नारकैर्भ्यते इति ॥ २१ ॥

तदेवं भगवता छिन्नसंशयोऽसौ किं कृतवानित्याह—

इत्यादियुक्तिभिरुद्धः सह च्छात्रैस्त्रिभिः शैतैः ।

९ अकम्पितोऽपि चारित्रं सामायिकमुपाद्दे ॥ २२ ॥

इत्यादय एवंप्रकारा या युक्तयो भगवदुक्तोपपत्तयः ताभिरुद्धो
वोद्धं प्राप्तोऽकम्पितोऽपि द्विजोपाध्यायः त्रिभिः शैतैश्छात्रैः सह
१२ सामायिकं चारित्रं उपाददे गृहीतवान् । 'आठो दोऽनास्यविहरणे'
(११३१२०) इत्यात्मनेपदम् ॥ २२ ॥

→ इत्यकम्पितसामिदीक्षाप्रदणम् ॥ ८ ॥ ३ →

१५ अथाऽचलभ्रातुखदाद—

आत्मनो मोक्षकार्याय निशम्य ग्रस्थितान् मुनीन् ।

अभ्यागतोऽचलभ्रातोपाध्यायश्छात्रसम्पदा ॥ २३ ॥

१६ आत्मनः सत्य मोक्षकार्याय मोक्षरूपं कार्यं कर्तुं प्रसितान्
प्रघलितान् मुनीन् गीतमादिकर्तीन् निशम्य शुत्वाऽचलभ्राता नाम
२ पाध्यायश्छात्राणां संपत् समृद्धिन्यया सह अभ्यागतः
१७ प्रमुग्मुमुसमागच्छति सा ॥ २३ ॥

जगाद् जगतां नाथः प्रेष्याऽसन्नशिवं च तम् ।

आन्तस्त्वमचलभ्रातर्विकल्पैः पुण्यपापयोः ॥ २४ ॥

चः समुच्चये, यदासावभ्यागतस्तदा जगतां त्रिलोकानां नाथ ३
 इधरो भगवान् श्रीबीरस्तमचलभ्रातरं आसन्नं निकटं शिवं कर्त्त्याणं
 मुक्तिर्वा यस्य स तं, तथोक्तं प्रेष्य ज्ञानदृष्ट्या विलोक्य जगाद्
 उवाच । किं जगादेत्याह—हे अचलभ्रातः ! त्वं पुण्यपापयोर्वि-६
 कल्पैः किं पुण्यपापे स्तो न वेति विमर्शेः आन्तः, अमं प्रातोऽसीति
 शेषः । अयं भावः—हे आयुष्मन् ! त्वमेवं मन्यसे ‘वा किं पुण्य-
 पापे स्तो न इति’ ?, अनुचितश्चायं तत्र संशयो विरुद्धवेदपदादिश्रुति-९
 निवन्धनत्वात् । तत्र वेदपदानि तावत् ‘पुरुष एवेदं सर्वम्’ इत्यादीनि,
 यथा द्वितीयगणधरे तथा वाच्यानि तेषां चार्थं त्वं न जानासीत्या-
 यपि तथा व्याख्येयमिति ॥ २४ ॥

१२

अथ पञ्चमिर्विकल्पैः पुण्य-पापविषयं तत्संशयं प्रादुष्कुर्वन्नाह—

पुण्यमेवाऽस्ति दुःखं तु स्यात्क तदपकर्षतः ।

पापमेवाऽस्ति किं वाऽत्र सुखं तदपकर्षतः ॥ २५ ॥

सातैं विविक्ते वा ते द्वे सर्वादीयमुने इव ।

पुण्यपापमयं वस्तु किं वैकं वर्णमेदवत् ? ॥ २६ ॥

अथवा सुख-दुःखानि सभावादुद्भवन्ति चेत् ।

किमु तेषां निमित्तत्वे पुण्यपापप्रकल्पनम् ? ॥ २७ ॥

एतेषु च विकल्पेषु तुर्योऽसाकमपीहितः ।

पुण्यपापमयं वस्तु कर्म पौद्धलिकं यतः ॥ २८ ॥

चतुर्भिः सम्बन्धः ।

२२

किमिति वितर्के, पुण्यमेव एकमस्ति न तु पापं, तर्हि कर्यं
 कस्याऽपि दुःखोत्पचिरित्याशङ्कवाह—दुःखं तु तस्य पुण्यस्य अप-
 ३ कर्पस्तरतमयोगाद्वानिस्तस्लात् सद्ग्रवेत्, न तु पापादित्यर्थः । इत्येको
 विकल्पः । किं वा अत्रास्मिन् लोके पापमेवैकमस्ति न तु पुण्यं,
 केवलयापाभ्युपगमे सुखोत्पचिः कथमित्याशङ्कवाह—सुखं तु तस्य
 ६ पापस्याऽपकर्पः क्रमेण हानिस्तस्लात् स्यात्, न तु पुण्यादित्यर्थः । इति
 ३ द्वितीयो विकल्पः । इहाऽऽधे पश्याहारवत्, द्वितीयेऽपश्याहारव-
 दिति द्वष्टान्तदूयमभ्यूहाम्, तद्वावना त्वमे दर्शयिष्यामः ॥ २५ ॥
 ९ वाऽथवा ते पुण्यपापे स्वर्णदी च यमुना च स्वर्णदी-यमुने गङ्गा-यमुने
 इव विविके विभिन्ने स्यातां भवेतां, भिन्नस्वभावयोः सुखदुःखयोः
 कारणत्वादिति भावः । इति तृतीयो विकल्पः । स्वर्णदीत्यत्र ‘गिरि-
 १२ नद्यादीनाम्’ (वा०) इति वैकल्पिकं णत्वं, किं वा वर्णमेदो
 हरितालगुलिकादीनामन्यतरन्मीलितं वर्णकद्वयं उपलक्षणान्मेचक-
 मणिनरसिंहादिर्वा तद्वत् पुण्यपापमयं पुण्यशप्तरूपमेकमेव सङ्कीर्णं
 १५ वस्तु विद्यते तद्वतेन एकेन पुण्यांशेन सुखं अपरेण पापांशेन च
 दुःखसुखदते इत्यर्थः । इति चतुर्थो विकल्पः ॥ २६ ॥ अथवा
 चेददि सुखदुःखानि सभावादेव, पुण्यपापाभ्यां विनैवेत्यर्थः, उद्भ-
 १८ यन्ति उत्पदन्ते तर्हि तेषां सुखदुःखानां निमिषत्वे कारणत्वे पुण्य-
 पापयोः प्रकल्पनं किमु !, किमर्थमित्यर्थः । इति पश्यमो विकल्पः
 ११ ॥ २७ ॥ एतेषु च पश्यमु विकल्पेषु तृप्यधतुयो विकल्पोऽसाक्षणपि
 देहित इष्टः । कथमित्याह—पुण्येत्यादि । यतो यलात् पुण्यपा-
 १३ मयं वस्तु पदार्थः पुहूर्निष्पत्तं पीढ़लिकं कर्गं वर्धते इति शेषः ।

तच्च शुभाऽशुभपुद्गलात्मकं सामान्येन एकमेवेति मावः । तुर्ये इत्यु-
पलक्षणम्, तेन तृतीयोऽपि विकल्पः कथंचिदसाकं संमत एव,
यतः पुण्यपापरूपतया विशेषविवक्षायां भिन्ने एव पुण्यपापे स्तः ॥ इति ह
उक्तश्लोकचतुष्टयार्थः । एतद्वावना त्वेवम्—इह केपांचित्तीर्थिकानामयं
प्रवादः पुण्यमेवैकमस्ति न पापम् ॥ १ ॥ अन्ये त्वाहुः—पापमेवैक-
मस्ति न तु पुण्यं ॥ २ ॥ अपरे तु बदन्ति उभयमध्यन्योन्यानुवि-
द्धस्वरूपं भेदकमणिकर्वप संमिश्रसुखदुःखफलहेतु साधारणं पुण्य-
पापाल्यमेवं वस्त्वति ॥ ३ ॥ अन्ये तु प्रतिपादयन्ति स्वतन्त्रमुभयं
विविक्षसुखदुःखकारणमिति ॥ ४ ॥ अपरे पुनराहुः—मूलतः कर्मेव ९
नास्ति, स्वभावसिद्धः सर्वोऽप्यवं जगत्पपञ्चः ॥ ५ ॥ अतस्त्वमध्ये-
तान् पञ्चविकल्पान्मन्यसे, एतेषां च परस्परविरुद्धत्वात्संशयदोलामा-
रुढोऽसि त्वं, येषां मते पुण्यमेवैकमस्ति तन्मते पुण्यस्य लेशतो १२
लेशतो वृद्धौ सत्यां सुखस्यापि क्रमशो वृद्धिर्मवति तावद्यावदुत्कृष्टं
सर्गसुखगिति, तदेव च पुण्यं यथा यथा हानिगुपयाति तथा तथा
जीवानां क्रमेण दुःखमुत्पद्यते यावत्सर्वेषकर्पणासं नरकदुःखं तस्यैव १५
च पुण्यस्य सर्वथा क्षये मोक्षः । एतच्च सर्वं पथ्याहारद्यान्ताद्वाव-
नीयम् । तथा हि—यथा पथ्याहारस्य क्रमेण वृद्धौ आरोग्यवृद्धिस्तथा
पुण्यवृद्धौ सुखवृद्धिर्यथा च पथ्याहारस्य क्रमेण परिहारे सरोगता १८
भवति एवं पुण्यापचये दुःखोत्पत्तिः सर्वथा पथ्याहारपरिहारे च मरण-
वत्पुण्यक्षये मोक्ष इति केवलपापमन्युपगच्छतां मते तु अपथ्याहार-
द्यान्ताद्वैपरीत्येन भावना कार्या । तथा हि—यथा क्रमेणाऽपथ्यवृद्धौ २१
रोगवृद्धिस्तथा पापवृद्धौ दुःखवृद्धिस्तथावदुत्कृष्टं नरकदुःखं यथा
चाऽपथ्यत्यागात् क्रमेणारोग्यवृद्धिः, तथा क्रमेण पापस्यापकर्पा-२३

सुखसा वृद्धिर्यावदुकृष्टं सुरसौख्यं यथा चापव्याहारस्य सर्वथा परि-
ल्यागात् परमारोग्यमुपजायते । एवं सर्वपापक्षये मोक्षः इति शेषविक-
३ ल्पत्रयमावना तु सह्वेपतः प्रागेव दृता ॥ २८ ॥

इत्थं तंशयं प्रादुप्खृत्य प्रत्यासतिन्यायेन पञ्चमविकल्पं तावद्दर्श-
यितुमाह—

६ उपेक्ष्य भज्जकानाद्यान् पञ्चमश्चेह चर्च्यते ।
कोऽयं वस्तुविशेषः स्याद्यः स्वभावोऽभिधीयते ? ॥२९॥

चः पादपूरणे, इह विकल्पपञ्चके आद्यान् भज्जकान् विकल्पान्
९ उपेक्ष्य अनादत्य पञ्चमो विकल्पश्चर्च्यते विचार्यते । कथ-
मित्याह—यः स्वभावोऽभिधीयते कथ्यते भवता सोऽयं को वस्तु-
विशेषः पदार्थमेदः स्यात् विद्यते ? ॥ २९ ॥

१२ स वा मूर्च्छाऽस्त्वमूर्च्छा वा ब्रूहि यत्तेऽभिरोचते ।
मूर्च्छत्वे कर्मणः सिद्धावसाकं सिद्धसाध्यता ॥ ३० ॥

वा पुनः स स्वभावपदार्थो मूर्च्छा मूर्च्छिमान् अस्ति किं वाऽमूर्च्छो-
१५ ऽस्ति यत्ते तुभ्यमभिरोचते तद् ब्रूहि कथय स्वभावस्य मूर्च्छत्वे सति
कर्मणः सिद्धौ निष्पत्तौ सत्यां असाकं सिद्धसाध्यतैव । अयमर्थः—
यदि त्वं स्वभावस्य मूर्च्छत्वं स्वीकरोपि तर्हि स्वभावशब्देन कर्मणः
१० सिद्धिर्जीता, तत्सिद्धौ चासाकं सिद्धसाध्यता कर्मजन्यत्यात् सुख-
दुःखानामिति । ते इत्यत्र 'रुच्यर्थानां भ्रीयमाण' (१४।३३) इति
चतुर्थी ॥ ३० ॥

आकाशयदमूर्च्छत्वे कार्यस्य स्यादकर्तुता ।

११ ग्रतिव्राते विरोधस्ते भवेदेवं महामते ! ॥ ३१ ॥

१ 'दरोहय भवतान् नादान्' इति छाठीमुद्रितपाठोऽमारहस्तुपेत्य एत ।

स्वभावस्य अमूर्चत्वे सति अमूर्चत्वं सीकरोपि चेदित्यर्थः, तर्हि
अस्य स्वभावस्य कार्ये उत्पाद्यवस्तुविषये आकाशवत् अकर्तृताऽकर्तृत्वं
स्याद् भवेत्, यथा आकाशमऽमूर्चत्वात् कस्यापि कार्यस्य न कारकं ३
तथाऽयमपि स्यादित्यर्थः । एवं सति हे महामते । हे महाबुद्धिमूर्त् ।
ते तत्र प्रतिज्ञाते प्रतिज्ञाविषयीकृते स्वभावजन्योऽयं भवप्रपञ्च इत्येवं-
रूपे अर्थे विरोधो भवेत् । स्वभावस्याऽकर्तृत्वेन भवप्रपञ्चाऽजनकत्वा-६
दिति भावः ॥ ३१ ॥

अथ स्वभावमात्रित्य विकल्पान्तरमाद—

स्वभावो वस्तुधर्मथेत्तदाऽसौ यस्य वस्तुनः । ९

तत्र मूर्च्छमूर्च्छ वेत्यत्राप्येषैव कल्पना ॥ ३२ ॥

चेद्यदि स्वभावो न वस्तुविशेषः किं तु वस्तुनः कस्यचित्पदार्थस्य
धर्मः परिणामोऽस्तीति, त्वं मन्यसे इति वाक्यविशेषः, तदा असौ १२
स्वभावो यस्य वस्तुनो धर्मः तद्वस्तु मूर्च्छ वाऽयवाऽमूर्च्छमऽस्ति इत्य-
त्रापि पक्षे एषा अनन्तरोक्तैव कल्पना विचारणा ज्ञेयेति शेषः । चः
पादपूरणे ॥ ३२ ॥ १५

तां कल्पनामेव दर्शयति—

अमूर्चत्वे द्युकर्तृत्वं मूर्च्छत्वे सिद्धसाध्यता ।

पुण्यपापस्वभावं यद्वस्तु कर्मप्रतिष्ठितम् ॥ ३३ ॥ १६

हीति निश्चितं, स्वभावो यस्य वस्तुनो धर्मः तस्य वस्तुनोऽमूर्च्छत्वे
सति स्वभावस्याऽकर्तृत्वं स्यात्, तस्य मूर्च्छत्वे सति सिद्धसाध्यता एव ॥ २०

^१ अप्र 'वस्तु कर्म प्रतिष्ठितम्' इति विशिष्टः काशीमुद्रितपाठो हुपेक्षणीय
एव ।

कथमित्याह—यद्यस्मात्कारणात् पुण्यं च पापं च पुण्यपापे ते
स्वभावौ यस्य तत्त्वयोक्तं वस्तु कर्मप्रतिष्ठितं कर्मशब्देन प्रतिष्ठां प्राप्त-
मित्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—कर्मणो मूर्तत्वेन तत्स्वभावयोः पुण्य-
पापयोरपि मूर्तत्वात्सिद्धं तयोः सुखदुःखादिकर्तृत्वम्, तच्चाऽसाकं
सम्मतमेवेत्यतः सिद्धसाध्यत्वमिति ॥ ३३ ॥

४ अथ स्वभावमाश्रित्य तृतीयं विकल्पमाह—

स्वभावशब्दवाच्योऽर्थश्चेदकारणता भवेत् ।

तदा समस्तभावानामेकदैव समुद्भवः ॥ ३४ ॥

९ चेद्यदि स्वभावशब्दस्य वाच्योऽभिधेयः अर्थोऽकारणता निर्हेतुकत्वं
मवेत् तदा सवैभावानां सर्वेषां घट-पटादिपदार्थानां एकदा एव
एकसिनेव काले समुद्भवः समुत्पत्तिः स्यात् ॥ ३४ ॥

१२ अस्तु तर्हि को दोप इत्याशङ्काह—

पदार्थाकसिकोत्पचौ नियताकारता च न ।

दृष्टाऽप्राणां विकारे न नियताकारता यतः ॥ ३५ ॥

१५ पदार्थानामकल्लाद्वा आकस्मिकी, सा चाऽसौ उत्पत्तिश्च तस्मां
पदार्थाकसिकोत्पचौ सत्यां नियताकारता निश्चिताकारत्वं न स्यात् ।
चः पादपूरणे, यतोऽप्राणां मेघानां विकारे विविधपरिणतौ नियता-
१८कारता न दृष्टा अकलादुत्पन्नत्वादिति भावः । तस्माकारणतास-
भावशब्दार्थः ॥ ३५ ॥

अन्यथ,—

सम्मधः सुखदुःखानां स्यामायाचेद्वेगदा ।

२२ शय-चन्दन-विषादीनां हेतूनां स्यादहेतुता ॥ ३६ ॥

चेद्यदि सुसन्दुःखानां सम्भव उत्तिः सभावाद्वेत् तदा रक्त-
चन्दन-विपादीनां सुखादेहेतूनां कारणानां प्रत्यक्षतो दृश्यमाना-
नामदेतुता स्यात् । अतोऽपि न पुण्य-पापकर्मव्यतिरिक्तः स्वभाव-३
पदार्थः ॥ ३६ ॥

अथ तात्पर्यमाह—

अत्यन्तानुपलब्धेऽपि स्वभावे कर्तृता यदि ।

तदा कर्मणि संसिद्धे कर्तृता किं निपित्यते ? ॥ ३७ ॥

स्वपुण्यवत् अत्यन्तमनुपलब्धेऽपि स्वभावे यदि कर्तृता, भवता
(ती)क्रियते इति शेषः, तदा संसिद्धे युक्त्यादिना सम्यग् ९
निष्पत्ते कर्मणि कर्तृता किं निपित्यते ?, कथं नाहींक्रियते
इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

ननु कथं कर्मसिद्धिरित्याशङ्क्याह—

कर्मसिद्धिस्त्वमिभूतेवदि चैव प्रपञ्चिता ।

पुण्य-पापस्वभावाभ्यां वैशिष्ट्यमिह सम्मतम् ॥ ३८ ॥

च पुनः कर्मणः सिद्धिर्निष्पत्तिस्तु अमिनूलेद्वितीयगणघरत्य वादे १५
एव प्रपञ्चिता विस्तरेणोक्ताऽस्ति, अतोऽत्र पुनर्नोच्यते इति मावः ।
परं इहाऽस्तिन् प्रस्तावे पुण्य-पापस्वभावाभ्यां वैशिष्ट्यं विशिष्टत्वं
युक्त्वमित्यर्थः, सम्मतं सम्यज्जननविपयीकृतमस्ति । अयं भावः—१०
प्राक् सामान्यतः कर्मसिद्धिरुक्ता, इह तु पुण्य-पापस्वभावयुक्तं कर्म
कथितमिति विशेषः ॥ ३८ ॥

१ अत्र ‘अल्पन्तानुलब्धेष्वपि’ इति काशीमुद्रितपाठः उद्दोऽनुरोधाद-
सारस्याच्च प्रामाणिकः ।

अथ कर्मणः पुण्य-पापस्तभावविवेकं कुर्वन्नाह—

विशत्युचरमानद्वाः कर्मप्रकृतयः शतम् ।

३ आत्मन्यत्र शुभाः पुण्या अपराः पापसंज्ञिकाः ॥ ३९ ॥

आत्मनि जीवे विशत्युचरं शतं विशत्यधिकशत(१२०)संख्याः
कर्मप्रकृतयः कर्मभेदा आनद्वा बद्वाः सन्ति, अत्राऽस्मिन् विशत्य-
६ धिकशते सुरनरत्रिकादयो द्वाचेत्वारिंशत् शुभाः प्रकृतयः पुण्याः,
पुण्यप्रकृतय उच्यन्ते इति शेषः । अपरा अन्याः अशुभाः
द्वयीतिसैङ्घ्याकाः पापसंज्ञिकाः पापप्रकृतय उच्यन्ते इत्यर्थः । नन्वेत-
९ दुमयमीलने चतुर्विशत्युर्त्तरं शतं प्रकृतयो जायन्ते, ततः कथमन्व
विशत्युचरं शतमिल्युक्तम् ! उच्यते—वर्णादिचतुर्पक्ष्य शुभाऽशुभ-
भेदेन वारद्वयं गणनाचतुर्णामाधिकयं परं वन्धे सामान्यत एव
१२ वर्णादिचतुर्पक्ष्योपादानान्वोक्तसद्व्याविधात इति ॥ ३९ ॥

अथ सुख-दुःखदेहुकमोपदर्शनायाऽऽह—

सातकमोदयादाशु प्रजायेत सुखं फलम् ।

१५ अमातकर्मप्रभवं फलं दुःखाय जायते ॥ ४० ॥

सातकमेणः सातवेदनीयकर्मण उदयात् आशु शीर्षं सुखं सुख-
सरूपं फलं प्रजायेत उत्पदेत, तथाऽसातकर्मप्रभवं असातवेदनीय-
१८ कर्मोदयजन्यं फलं दुःखाय जायते, दुःखसरूपं भवतीत्यर्थः ॥४०॥

अत्र प्रेरकः आह—

यथाऽऽत्मपरिणामत्वात्सुख-दुःखे अस्तपिणी ।

२१ तर्यैव कारणे किं न पुण्य-पापे उभे अपि ? ॥ ४१ ॥

यथा येन मकारेण आत्मनो जीवस्य परिणामत्वात् सुख-दुःखे
२२ अस्तपिणी सः, तर्यैव तर्नैव मकारेण सुख-दुःखोः कारणे उभे है

पुण्यपापे अपि किं न अरूपिणी ? कथं नेत्यर्थः, कार्यानुरूपं हि कारणभिष्यते, कार्यं च सुखादिकमात्मपरिणामत्वादरूपि, ततश्च तत्कारणं पुण्यपापात्मकं कर्माऽपि अरूप्येव प्राप्नोति न रूपवत्, ३ इप्यते च भवद्धिः कर्मणो रूपत्वम्, ततः कथमनयोः कार्यकारणत्वमिति मावः ॥ ४१ ॥

अत्रोत्तरमाह—

विकल्पोऽयमपि त्याज्यः सर्वे भावा यतः स्थिताः ।

तुल्याऽतुल्यत्वरूपेण दोषः कोऽपि ततोऽत्र न ॥४२॥

हे अचलप्रातः ! त्वयाऽयमपि विकल्पो वितर्कस्त्याज्यः । कथ-९ मित्याह—यतो न केवलं कार्यकारणे एव तुल्याऽतुल्यरूपे किं तु सर्वे त्रिमुखनान्तर्गता भावाः पदार्थाः परस्परं तुल्याऽतुल्यत्वरूपेण स्थिताः सन्ति, न पुनः किञ्चित्कस्याप्येकान्तेन तुल्यमतुल्यं वेति १२ भावः । ततस्त्रात् कारणादत्र सुखादिकारणभूतकर्मणो रूपवत्वे न कोऽपि दोषः ॥ ४२ ॥

अगुमेवार्थं शोकद्वयेन दृढ्यन्नाह—

मुखस्य हेतवो मूर्त्ताः स्त्रकृचन्दना-ङ्गनादयः ।

एवमेवाऽसुखस्यापि विषा-ऽहि-कण्टकादयः ॥ ४३ ॥

तुल्याऽतुल्यत्वरूपेण कार्य-कारणताऽत्र चेत् ।

ददा पुण्यं च पापं च मूर्च्छेन कथं न हि ? ॥ ४४ ॥ १९

१ यदपि ‘सुखसा हेतवो मूर्त्ताः प्रायः स्त्रकृचन्दनादयः’ इत्यर्थं पाठो वर्त्ति पठितः काशीमुद्रितपुस्तके द्वात्र, तथाऽपि ‘स्त्रकृचन्दनाङ्गनादयः’ इति पाठः खारसवैशिष्ठात् दीक्षाङ्गद्विप्राप्त इति प्रतीयते ।

मूर्च्छा मूर्चिमन्तः सकृचन्दना-ज्ञनादयः प्रायः सुखस्य हेतवः
सन्ति, एवमेव अनेनैव प्रकारेण विषा-जहि-कण्टकादयः प्रायोऽसुखस्य
दुःखस्य हेतवो विद्यन्ते । अपि: सम्मावनाधारां, सम्मावय त्वभित्यर्थः
॥ ४३ ॥ चेद्यदि अत्र सगादिजन्ये सुखादौ तुल्याऽतुल्यत्वरूपेण
कार्य-कारणता वर्णते, तदा सुखादिकारणं पुण्यं च पापं च मूर्चत्वेन
कथं न हि ? उक्तनीत्या इहाऽपि सां न विघटते इत्यर्थः । इह
सामान्यतः संभवमात्रमाश्रित्येवं दृष्टान्तयोजना कृताऽस्मि, विशेषा-
वश्यकवृत्तौ तु नैवमिति ॥ ४४ ॥

९ तदेवं पुण्य-पापे व्यवस्थाप्येदानीं तयोरेव लक्षणमाह—

सुवर्णादिगुणं सम्यग्विषाकं पुद्गलवजम् ।

जीवस्य सत्क्रियोद्भूतं सर्वं पुण्यमिति स्मृतम् ॥ ४५ ॥

१२ यदेतद्विपरीतं तत्सर्वं पापमिति स्मृतम् ।

एतद्वयमपि द्वेषं नाऽतिश्वस्यं न वादरम् ॥ ४६ ॥

१३ सु शोभना वर्णादयो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-लक्षणा गुणा यस्य तत्त्व-
योक्तं, उथा सप्त्यकृ समीचीनो विषाकोऽनुभावो यस्य तत्, उथा सत्यं
शोभना याः किंया दानादिकास्याभिरुद्भूतं प्रादुर्भूतं एवंविभं जीवस्य
जीवप्रदेशेषु क्षीरनीरन्यायेन स्थितं सर्वं पुद्गलवजं पुद्गलस्मृहः पुण्य-
१४ मिति स्मृतं कथितम् ॥ ४५ ॥ यत् पुनरेतत्सात्पुण्याद्विपरीतं विष-
रीतलक्षणं अशुभवर्णाद्विगुणमशुभं विषाकं जीवपाताघसत्क्रियोद्भूतं तत्
१५ सर्वं जीवस्यं पुद्गलवजं पापमिति स्मृतं, एतत्पुण्यपापस्यं द्वयमुभय-
१६ मपि वस्तु सूक्ष्मेण कर्मवर्गेणाद्वयेण निष्प्रकारत्रेऽपि न परमाणगादि

वदतिसूक्ष्मं, न पुनर्मेवादिभावेन परिणतस्कन्धवद्वादरं स्थूलं
ज्ञेयम् ॥ ४६ ॥

प्राक् तु त्रिलोक्यत्वरूपेण कार्य-कारणता दर्शिता, इदानीं ३
त्रिलोक्यरूपेण तामाह—

साम्यं वास्तववौधे तु कार्य-कारणयोरपि ।

तथा च सत्यं कार्यानुरूपं कारणमुच्यते ॥ ४७ ॥ ४

वास्तववौधे तात्त्विकज्ञाने तु कार्य-कारणयोः साम्यं साहश्यम-
प्यस्ति । तथा च सति यस्त्वार्यानुरूपं कार्यसदृशं कारणमुच्यते
तत्सत्यमिति ॥ ४७ ॥

कथमित्याह—

जीवस्यापि परीणामः सुख-दुःखाभिवानकः ।

तथोगात्मेन कार्यानुरूपं कारणमुच्यते ॥ ४८ ॥

सुख-दुःखाभिवानकः सुख दुःखनामको जीवस्यापि परीणामो
विद्यते । न केवलं कर्मण एवेति अपिशब्दार्थः, तेन कारणेन तयो-
र्जीवसुखाद्यो योगः सम्बन्धस्तसात्कार्यानुरूपं कारणमुच्यते । अयं १५
भावः—सुखादीनां कर्मेव केवलं कारणं न मवति, किं तु जीवोऽपि
तेषां समवायिकारणं मवति, कर्म तु असमवायिकारणमस्ति, ततश्च
सुखादेरमूर्च्छते तत्समवायिकारणस्य जीवस्याऽप्यमूर्च्छत्वमस्त्वेवेति १०
युक्तमेवोक्तं कार्यानुरूपं कारणमिति ॥ ४८ ॥

अथोपसंहारमाह—

ततः पुण्यं च पापं च सिद्धं पूर्वोक्तयुक्तिभिः ।

पुद्गलस्कन्धमेवैकं विद्धि चित्रितपत्रवत् ॥ ४९ ॥

ततस्तसात्कारणात् पूर्वोक्तयुक्तिभिः सिद्धं निष्पत्तं पुण्यं च पापं २३

च चित्रितपत्रवत् शुभाऽशुभविविधचित्रयुक्तं पञ्चमिव एकमेव पुद्ग-
लस्कन्धं विद्धि जानीहि । भिन्नकार्यदर्शनेन तत्कारणमूलयोः पुण्यपा-
३ पयोः भिन्नत्वावैवक्षया तु पुण्य-पापे भिन्ने अपि सातामित्यप्युपलक्ष-
णाद्वौध्यम् ॥ ४९ ॥

नन्वत्र पैश्चसु विकल्पेषु अन्तिमपक्षत्रयस्य तु निर्णयोऽकारि,
६ परमादपक्षद्वयस्य का गतिरित्याशैव्याह—

पुण्यपापद्वये सिद्धे पक्षौ केवलयोस्तयोः ।

अयुक्तावेव मन्त्रव्यौ सुयुक्तेरक्षमत्वतः ॥ ५० ॥

९ उक्तयुक्त्या पुण्यपापद्वये सिद्धे सति केवलयोस्तयोः पुण्यपापयोः
पक्षौ अयुक्तौ एव मन्त्रव्यौ ज्ञातव्यौ । कुत इत्याह—सुयुक्तेः
शोभनयुक्तेः अक्षमत्वतोऽसमर्थत्वात् सुयुक्तिं सोऽनुमशक्त्वादित्यर्थः ।

१२ तथा हि—केवलपुण्यपक्षे पुण्याऽपकर्षमात्रेण यद् दुःखबहुलत्वसुक्तं
तदयुक्तं, यतस्तदुःखबहुलत्वं पुण्यापकर्पजनितं न भवति, किं तु
स्वानुरूपकर्मप्रकर्पजनितं वेदनाप्रकर्पनुभवरूपत्वात्, यथा सौर्यप्रक-
१५ र्पानुभूतिः स्वानुरूपकर्मप्रकर्पमवा इति दृष्टान्तः, एवमत्रोपपत्त्यन्त-
रमपि विशेषावशयकदृच्छेयम् । तथा केवलपापपक्षेऽपि पापाऽप-
कर्षमात्रजनितं सुखं न भवति—पापस्यात्पीयसोऽपि दुःखजनकत्वात् ।

१८ नदृष्टीयानपि हि विषलवः स्वास्थ्यहेतुर्भवति, तस्मात्पुण्यजनित-
भेदात्प्रयमपि सुखमित्यादि स्वबुद्ध्याऽभ्युद्य वाच्यमिति ॥ ५० ॥

तदेवं छिन्नसंशयोऽसौ किं कृतवानित्याह—

इत्यादियुक्तिप्रतिष्ठन्यशुद्धवर्चित्तोऽचलत्रात्युधः प्रयुद्धः ।

२१ समन्वितश्चात्रश्चत्रयेण दीक्षां लली वीरजिनेन्द्रशिष्टाम् ॥ ५१ ॥

१ पू० २५१ क्षे० ३५-२६-२७ । २ अत्र 'द्युदवितः' इति चर्ची-

शुद्धितपादः दीक्षाइटा न एमातः ।

इत्यादियुक्तीनां प्रतिवन्धः सत्यतया सीकारस्तेन युद्धनिर्मलीमवच्चितं यम्य स तथोक्तोऽथवा इत्यादियुक्तिभिर्यः प्रतिवन्धः स्वशङ्कानि रोधस्तेनेत्यादि प्राग्वत् । अत एव प्रबुद्धः प्रबोधं प्राप्तोऽचलभ्रातृ-३ बुद्धोऽचलभ्राता नाम पण्डितश्छत्राणां शैंतंत्रयेण समन्वितो युक्तः सन् वीरजिनेन्द्रेण श्रीवर्द्धमानस्वामिना शिष्टां शिक्षारूपेणोक्तां दीक्षां ललौ गृह्णाति स । इदमुपजातिच्छन्दः, तत्त्वक्षणं तु प्रागुक्त-६ मेवेति ॥ ५१ ॥

इति अकम्पिताचलभ्रातृदीक्षाग्रहणवर्णनो
नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

९

इति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाख्यायां गौतमीयमहाकाव्याख्यायां
दशमः सर्गः ॥ १० ॥

१२

एकादशः सर्गः ।

श्रीवीरपादाम्बुजचञ्चरीकान्निशम्य सूरीनपरान् प्रबुद्धान् ।
मेतार्यनामाऽपि सुधीः सुधीभिः समं समेयाय जिनोपकण्ठे ॥ १ ॥ १५
विशुद्धविश्वानकरं प्रसार्य मेतार्यमुख्यौ भवसिन्धुमध्यात् ।
समुद्धृतौ येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै त्रिशलात्मजाय ॥ १ ॥

प्रबुद्धान् प्रबोधं प्राप्तान् अत एव श्रीवीरस्य भगवतः पादाम्बु-१६ जयोश्वरणकमलयोश्चरीका भ्रमरा इव श्रीवीरपादाम्बुजचञ्चरीका-स्तान् तथामूलान् अपरानन्यान् गौतमादीन् सूरीन् पण्डितान्निशम्य श्रुत्वा मेतार्यनामाऽपि सुधीर्विद्वान् सुधीभिः सुवुद्धिभिः स्वशिष्यैः समं सह जिनस्य श्रीवीरस्य उपकण्ठे समीपे समेयाय समाजग्राम । २१

समाहृपूर्वादिणः कर्चरि लिह । अस्मिन् सर्गे : उपजातिच्छन्दः,
तत्त्वश्शणं तु प्रागुक्तमेव ॥ १ ॥

आभाष्य तं वीरजिनेश्वरोऽपि जगाद् वत्सेह जहाहि मोहम् ।
चिरन्तनं किं परलोकवस्तु स्याद्वा न वेति स्वमनःप्रसक्तम् ॥ २ ॥

वीरजिनेश्वरोऽपि तं मेतार्य आभाष्य हे मेतार्य । एहीत्यादिवाचा
६ सम्भाष्य जगाद् उवाच । किं जगादेत्याह—हे वत्स । परलोको
भवान्तरगमनलक्षणः स एव वस्तु-पदार्थः, किमिति-वितर्के, स्याद्वा
विद्यते वा न वा, न विद्यते वा ? इत्येवंरूपं स्वमनसि निजचिते
४ प्रसक्तं सम्बद्धं चिरंभवं चिरन्तनं वहुकालोद्भवं मोहं मिथ्याज्ञानं
इहाऽस्मिन् प्रस्तावे जहाहि परित्यज । अयं भावः—हे मेतार्य !
त्वमेवं मन्यसे—किं परलोकोऽस्ति नास्ति वेति, अयं च संशयस्तुव
१२ विरुद्धवेदपदश्रवणनिवन्धनो वर्चते, तानि च ‘विज्ञानघन एवेतेभ्यो
भूतेभ्य’ इत्यादीनि प्रथमगणधरवादोक्तानि द्रष्टव्यानि, तेषां चार्थं
त्वं न जानासीत्यादि तथैव । अतोऽनुचितोऽयं संशयो न कर्तव्य
१५ इति ॥ २ ॥

अथ यया युक्त्या मेतार्यः परलोकनास्तित्वं मन्यते तां भगवान्
व्यक्तीकुर्वन्नाह—

१८ यचेतना भौतिकदेहधर्मस्तदत्यये जन्म कुरुतेऽन्यलोके ।
यद्वाऽरणेवंडिरिवेयमसादुत्पद्यते नार्ये ततोऽन्यलोकः ॥ ३ ॥

यच्छब्दोपादानात् तच्छब्दस्याऽनुकस्याऽप्यत्र ग्रहणम्, तत्त्वैवम-
न्वयः—यदस्मात्कारणात् चेतना चेतन्यं भौतिकस्य भूतैः पृथिव्यादिभि-
२१ रूपमनस्य देहस्य शरीरस्य धर्मो विद्यते इति शेषः, तत्स्यस्य देहस्या-

इत्येविनाशो सति तद्वर्मस्य चैतन्यस्यापि विनाशादन्यलोके परभवे
जन्म उत्पत्तिः कुतो भवेत् ?, न कुतोऽपीत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—
चैतन्यं तावद्भूतेभ्यो नार्थान्तरं तद्वर्मत्वात्, यथा गुडधातक्या(दि)-३
मंद्याङ्गेभ्यो भद्रधर्मः, ततश्च यो यदनर्थान्तरभूतो धर्मः स तद्विनाशो
नृश्यत्येव, यथा पटादिधर्मः शुक्लत्वादिः, अतो भूतैरेव सह प्रागेव
मष्टस्य चैतन्यस्य कुतो भवान्तररगमनम् ? इति । अथ भूतेभ्योऽर्थान्तरं ६
मन्यते तथापि न परलोक इत्याह—यद्वेत्यादि । यद्वाऽथवाऽरणे-
ररणिकाष्ठाद्विरिव इयं चेतनाऽसाम्भूतमसुदायादुत्पयते, ततोऽपि
हेतोर्न अन्यलोकोऽस्ति । अत्राऽयं भावः—भूतेभ्योऽर्थान्तरत्वेऽपि ९
अनित्यं चैतन्यं उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अरणिकाष्ठोत्पन्नतद्विसर्वद्विरिति ।
यंचानित्यं तत्किंयन्तरमपि कालं स्थित्वाऽभिवदन्नापि चंसते इति न
तस्य भवान्तरयापित्वम्, अत इत्यमपि न परलोकसिद्धिरिति ॥३॥ १२

अथवा प्रतिपिण्डं भिजानि भूतधर्मरूपाणि बहूनि चैतन्यानि
नेष्यन्ते, किंत्वेक एव समस्तचैतन्याश्रयः सर्वक्रियमुवनगतो निःसङ्ग-
तोऽक्रियश्चात्माऽभ्युपगम्यते । यत उक्तं—‘एक एव हि भूतात्मा १५
भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥’
ननु तथापि न परलोकसिद्धिरिति दर्शयन्नाह—

पानीयचन्द्रप्रतिविम्बवद्वा

१८

तनौ तनौ ब्रह्म पृथक्प्रभासः ।

तथापि देहापगमेऽन्यलोकं

प्रयाति कथेति विकल्पसे किम् ? ॥ ४ ॥

वाऽथवा पानीयेषु यच्चन्द्रप्रतिविम्बं रद्वत् तनौ ‘तनौ देहे देहे २२

१ ‘पृथक्प्रकाशः’ इति काशीमुद्रितपाठः ।

ब्रह्मण उक्तस्तरुपस्य एकस्यैवात्मनः पृथक् भिन्नः प्रभासः प्रकाशः, वर्चते
इति शेषः । यदेवमभ्युपगम्यते तथापि देहसाऽपगमे विनाशे सति
३ अन्यलोकं परभवं कः प्रवाति न कोऽपीत्यर्थः । तस्यात्मनः सर्वेषु
गोमहिप्यादिपिष्ठेषु सर्वगतत्वेन निःक्रियत्वेन चाकाशवत् संसर-
णामावादिति मावः । चः समुच्चये, हे मेतार्थ । त्वं किसिति प्रश्ने
४ इत्येवं विकल्पसे विचितयसि ? ॥ ४ ॥

पुनर्भगवानाह—

शृणोपि शास्त्रेषु शरीरभाजां देहच्युतौ चापि भवान्तरास्तिम् ।
९ विरुद्धवादेन मुहुर्तवैवं दोलाचलं चित्तमभूद्घैव ॥ ५ ॥

च पुनर्देहस्य च्युतिर्नाशस्तस्यां सत्यां शरीरभाजां जीवानां भवा-
न्तरास्ति अन्यभवप्राप्तिमपि शास्त्रेषु त्वं शृणोपि । एतेन परलोक-
१२ सिद्धिरप्याऽवेदिता । हे मेतार्थ । एवमसुना प्रकारेण विरुद्धवादेन
शास्त्रेषु परस्परविरुद्धकथनेन मुहुर्वारंवारं तव चित्तं वृथैव दोलावत्
चलं चपलं अमृत् ॥ ५ ॥

१५ : इति दर्शितः पूर्वपक्षः; अथाऽत्र प्रतिविधीयते—

अत्रास्ति चेदुच्चरपक्षकाङ्गा

त्वं पृच्छ तद्वौतमवासुभूतिम् ।

१० भूतातिरिक्तः प्रकटोऽयमात्मा

त्वयाऽन्युद्धोऽत्र क्योपपत्या ? ॥ ६ ॥

अत्रास्तिन्सन्दिग्धेऽर्थे चेदादि तवोचरपक्षस्य काङ्गा वान्धाऽस्ति,
तर्चहिं त्वं गौतमो गौतमगौत्रीयो यो वायुभूतिस्तं पृच्छ । कथ-
२२ मित्याह—हे वायुमृते । अत्रास्तिन् शरीरे भूतेभ्योऽतिरिक्तो भिन्नः

प्रकटः अयमात्मा जीवस्त्वया क्या उपपत्त्या युक्त्याऽवबुद्धो ज्ञातः,
इत्थं प्रश्नं कुर्वित्यर्थः ॥ ६ ॥

तमेव दध्याः प्रतिवादितायां
पूर्वे विकल्पे स समाधिकारी ।
तथाऽत्मसिद्धै पुनरिन्द्रभूतिं
पृच्छ त्वमेवाज्ज सृतं वहृत्या ॥ ७ ॥

हे भेतार्थ, पूर्वे पूर्वसिन् विकल्पे किं यच्छरीरं स एव जीव
एवंस्त्वपे वितके प्रतिवादितायां प्रतिवादित्वे तं वायुमृतिमेव दध्यास्त्वं
घारयेः, यतस्त्र त्र स वायुमृतिरेव समाधिं समाधानं करोति तच्छीलः ९
समाधिकारी, अस्तीति शेषः, तथा तद्वत् आत्मसिद्धै आत्मनः
सिद्ध्यर्थं पुनस्त्वमेवेन्द्रभूतिं प्रथमगौतमं पृच्छ । अत्र प्रस्तावेऽसाकं
वहृत्या वहृकथनेन सृतं पर्याप्तं आत्मनः सद्गावे भौतिकदेहाति- १२
रिक्तत्वे च सिद्धे सिद्धे एव परलोक इति मावः ॥ ७ ॥

अन्यच—

प्रतीहि देवानपि नारकान्वा तयाऽन्यलोकाधिगमाय धीमन् ॥ १५
तं मौर्यपुत्रं तमकम्पितं या समाधये पर्यनुयुक्तं भद्र ॥ ८ ॥

तथा तद्वत् हे धीमन् हे भद्र । अन्यलोकस्य परलोकस्य अधि-
गमो ज्ञानं तस्मै देवान् या पुनर्नारकानपि प्रतीहि जानीहि, देवा १६
नारका अपि न सन्तीति प्रतिपद्यस्त्वयर्थः, समाधये देवनारकान्ति-
त्वसमाधानार्थं तं प्रागुकं मौर्यपुत्रं या पुनस्तं अकम्पितं पर्यनुयुक्तं
पृच्छ, ताभ्यां तदक्षित्वस्य प्रागेव निर्णीतत्वादिति मावः । पर्यनु-
पूर्वात् 'मुजिइ योगे' अस्त्राद्रीपादिकाल्कर्त्तरि लोह । इह यद्यपि मग- १७

वता तु नैवमुक्तं, किं तु साक्षात्समुखेनैव तत्संशयापनोदः कृतोऽस्ति,
तथापि कविना अन्यविस्तरभयादेवमुक्तमिति वोध्यम् ॥ ८ ॥

३ अथ यदुक्तं प्राक् ‘एकः सर्वंगतो निष्क्रियश्चात्मे’त्यादि तदा-
श्रित्याह—

यन्मन्यसे ब्रह्मकृतः प्रकाशस्तनौ तनावस्ति मृपेति वाणी ।

४ यद्युक्तश्चण्डेभेदिति तदेव भिन्नं विशेषतश्चापि यथा घटादि ॥ ९ ॥

हे मेतार्थ ! तनौ तनौ देहे देहे ब्रह्मणा एकेनात्मना कृतः प्रकाशो-
ऽस्तीति यत्वं मन्यसे जानासि तन्मननकारणभूता वाणी मृपा मिद्या
१ वर्तते । आत्मनामानन्त्यादिति भावः । कथमित्याह—यद्वस्तुलक्षणै-
भेदो विशेषोऽस्त्वयेति भेदि भेदयुक्तमित्यर्थः, तद्विज्ञभेव भवेत् ।

५ चापीति समुच्चये, यथा विशेषतो लक्षणविशेषात् घटादि घटपटादि
१२ वस्तु भिन्नमेवास्ति तथेत्यर्थः । अयं भावः—न चास्ताभिरेक आत्मा

इप्यते किं तु लक्षणभेदादनन्तः यत उपयोगलक्षणो जीवः । स
चोपयोगो राग-द्वेष-कपाय-विषयाध्यवसायादिभिर्भिद्यमान उपाधिभे-

१५ दादानन्त्यं प्रतिपद्यते इत्यनन्ता जीवा लक्षणभेदाद् घटादिवदिति ।

१६ तथा न सर्वंगत आत्मा किं तु शरीरमात्रज्यापकस्त्रैव तदुणोपलब्धेः,
स्पर्शनवदिति । एवं न निष्क्रिय आत्मा भोवतृत्वादेहवदित्याद्युप-
१८ लक्षणाद् ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

अन्यत्व—

सुखित्वदुःखित्वमुखा विभेदाः

२१ सर्वंत्र सन्तीह पृथक् पृथग् यत् ।

वदात्मभेदात्परलोकयानं

२५ संभाव्यते किं न सदुक्तयुक्त्या ? ॥ १० ॥

‘मुखमुणये प्रारम्भे श्रेष्ठे निःसरणासयोः’ इति हैम(अनेकार्थ)-
वचनान्मुखशब्दोऽत्र प्रारम्भार्थः, सुखित्व-दुःखित्वे मुखे प्रारम्भे येपां
ते तथोक्ताः, सुखित्व-दुःखित्वप्रभृतय इत्यर्थः; विमेदा विशिष्टमेदा ३
इहासिन् लोके सर्वेन्न सर्वेषु जीवेषु यत् पृथक् पृथक् सन्ति भिन्ना
भिन्ना विद्यन्ते तत् आत्ममेदात् आत्मनां भिन्नत्वात् । आत्मैक्ये तु
तदसम्भवादिति भावः । ततश्च सती शोभना या उक्तयुक्तिस्त्रया पर-५
लोकयानं परस्वगमनं किं न संभाव्यते ? संभाव्यत एवेत्यर्थः । आत्मैक्ये
तु तद्वर्धनं, तज्जिरासेन तत्सिद्धिः स्फुटैवेति तात्पर्यम् । यद्वा सदिति
पृथक् पदं, परलोकयानपदस्य विशेषणं विद्यमानमित्येतदर्थः ॥ १० ॥ ९

उक्तमेवार्थं स्पष्टयति—

ब्रह्मैक्यवादे परकर्मभोगः परस्य युज्येत न चैतदिष्टम् ।
मुखस्य दुःखस्य च सङ्करत्वे विलुप्यते तद्यवहारभावः ॥११॥ १२

ब्रह्मण आत्मन ऐक्यं एकत्वं तस्य यो वादः कथनं तस्मिन् सति
परस्य यज्ञदत्तायपेक्षयाऽन्यस्य देवदत्तादेः अपरो यज्ञदत्तादिस्तस्य
यानि कर्माणि तत्कृतशुभाऽशुभकर्माणीत्यर्थः । तेषां भोगो भुक्तिर्युज्येत १५
ब्रह्मैक्ये देवदत्तादेर्यज्ञदत्तादिकृतकर्मानुभवो युज्येतेत्यर्थः । न चैतत्
इष्टं वाच्छितं असम्भवादेवेति भावः । तथा ब्रह्मैक्ये मुखस्य च पुन-
र्दुःखस्य सङ्करत्वे मिश्रितत्वे सति तयोः मुख-दुःखयोर्यो व्यवहार- १६
सास्य भावः सत्ता विलुप्यते विच्छिन्नते, ‘अयं मुखी, अयं दुःखी’-
त्यादिव्यवहारस्य सैर्वत्र व्यवच्छिन्नते इत्यर्थः ॥ ११ ॥

ततः किं स्तिरमित्याह—

तेनायमात्मा प्रतिदेहभिन्नः

स्वकर्मभिर्भूरिभवाजुसारी ।

२१

२२

स्थाने स जातिसरणेन कथित्

पश्येतु पूर्वाणि भवान्तराणि ॥ १२ ॥

३ तेन कारणेन अयं आत्मा प्रतिदेहं प्रतिशरीरं भिन्नो वर्ततेऽत
एव स्वकर्मभिर्मूरिमवान् बहुजन्मानि अनुसरति अनुगच्छतीति
तच्छीलः परमव्याप्तित्यर्थः । स्थाने युक्त एव । कथितु मुनः स आत्मा
४ जातिसरणेन प्राग्जन्मसरणरूपमतिज्ञानविशेषेण पूर्वाणि स्वयं
प्राकृतानि भवान्तराणि अन्यजन्मानि पश्येत् विलोकयेत् । ततः
सिद्धः परलोक इति भावः । स्थाने इत्यब्ययं युक्तेऽर्थे ‘स्थाने तु
९ कारणे युक्ते’ इत्यब्ययकाण्डे हैमोक्तेः ॥ १२ ॥

तदेवं छिन्नसंशयोऽसौ किं कृतवानित्याह—

तदेन्द्रभूत्यादिभिरप्यभीष्टैः प्रसाधितोत्साहभरः समाधौ ।

१२ मेतार्यविश्रोऽपि वभूव भव्यो महावती छात्रशतव्रयेण ॥ १३ ॥

तदा तस्मिन्वसरेऽभीष्टैः प्राक्तनातिपरिचयाद्वलभैरिन्द्रभूत्यादि-
भिरपि समाधौ सन्दिग्धार्थसमाधाने प्रसाधितः प्रकर्षेण निष्पादित-
३५ उत्साहस्य भरोऽतिशयो यस्य स तथोक्तः एवंविधो मेतार्यविश्रोऽपि
छात्राणां शिष्याणां यद् शतैर्बयं तेन सह भव्यो योग्यो महावती
पञ्चमहावतधरः साधुर्वभूव अमृत ॥ १३ ॥

१० → इति मेतार्यस्तमिदीक्षामहणम् ॥ १० ॥ ←

अथ प्रगासस्य तदाह—

वरः प्रभासाद्वयपाठकोऽपि श्रुत्वाऽपरान् शान्तिसुखं प्रयातान् ।

श्रीमअग्नायसदस्तदागं समाययौ तृष्णगिवाऽमृतस्य ॥ १४ ॥

११ ततो मेतार्यदीक्षामहणानन्तरं प्रमास इत्याद्यः स चासौ पाठ-

कथेति कर्मधार्यः । सोऽपि अपरान् अन्यान् इन्द्रभूत्याक्षीन् दर्शाऽपि
द्विजवरान् शान्तिसुखं प्रशमसुखं प्रयातान् प्राप्तान् श्रुत्वाऽमृतस्य
पानीयस्य तृष्णकृ पिपासुरिव श्रीमतो जगन्नाथस्य वीरप्रभोः सदः ३
समा एव तडागः सरोवरस्तं समाययौ समाजगाम । ‘यः कीलाल-
ममृतम्’ इत्यमरः । ‘पिपासुस्तृष्णितस्तृष्णकृ’ इति हैमः ॥ १४ ॥

देवाधिदेवोऽप्यवदत्प्रभास ! प्रकम्पयेच्चामिति वेदवाणी । ६
यद्यन्वयमाजीवनमेव यज्ञ स्वर्गासये तत्र च मोक्षहेतोः ॥ १५ ॥

यागो हि सावद्यविधिस्त्रूपो

मोक्षः कुतोऽसादिति मुक्तिलोपः । ९

गुहा हि लोकस्य सुन्दुरिंगाहे-

ति वेदवाक्येन च मोक्षसिद्धिः ॥ १६ ॥

द्वाभ्यां सम्बन्धः । १७

देवाधिदेवः श्रीजीरप्रभुरपि अवदत् उवाच तमिति शेषः ।
किमित्याद—हे प्रभास ! वेदवाणी ‘जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं’-
मित्यादिवेदोक्तवाकृ इतीत्यं त्वां प्रकम्पयेत् त्वयेतसि अममुत्यादये- १५
दित्यर्थः । कथमित्याह—तु इति विशेषे, जीवनं जीवितव्यं आऽभि-
व्याप्येति आजीवनं एव यावज्जीवमेवेत्यर्थः । यद्यन्वं अमिद्वौत्रं
कर्तृत्वं, यद्वै उक्तमिति वाक्यशेषः, तत्सर्वासये सर्वापासये न च १६
मोक्षहेतोः, न पुण्युक्तिनिमित्यर्थः ॥ १५ ॥ किं कारणमित्यत्
आद—याग इत्यादि । हि यतः कारणात् यागो यज्ञः प्राणिवध-
ऐतुलात् सावद्यः सपापो विपरिनुष्टानं तत्त्वं यस्त स तथोक्तो
र्पण्टे, ततोऽस्मायागात् कुतो मोक्षः !, न कुतोऽपीत्यर्थः । इत्येवमुक्त- २२

१ ‘दोषो हि’ इति यदीमुक्तिपाठाद्यन्यः ।

- सरूपवेदवाक्येन मुक्तिलोपो मोक्षाभावो, ज्ञायते इति शेषः । तथा
 हीति निश्चितं, 'मुक्तिरूपा गुहा लोकस्य सुतरां दुर्बिंगाहा दुःप्रवेशा
 ३ प्रवर्चते' इति वेदवाक्येन च मोक्षसिद्धिर्ज्ञायते, अत्र किं सत्यमिति
 संशयः, इदं काव्यद्वयस्य भावार्थस्त्वयम्—हे प्रभास ! त्वमेवं मन्यसे
 निर्वाणमस्ति न वेति । अयं च संशयस्तत्र विरुद्धवेदपदश्रवणनिव-
 ४ इन्धनः । तानि चामूनि वेदपदानि 'जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं'
 तथा 'सैषा गुहा दुरवगाहा' तथा 'द्वे ब्रह्मणी परमपरं च तत्र परं सत्यं
 ज्ञानमनन्तरं ब्रह्मे'ति । एतेषां चायमर्थः तत्र चेतसि वर्तते यदेतदग्नि-
 ९ होत्रं तज्जरामर्यमेव यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति । अग्निहोत्रक्रिया च भूत-
 वधहेतुत्वाच्छबलरूपा, सा च सर्वफलैव स्यान्नाऽपवर्गफला, यावज्जी-
 वमिति चोक्ते कालान्तरं नास्ति । यत्रापवर्गहेतुमूलक्रियान्तरारम्भः
 १२ स्यात् । तस्मात्साधनाभावान्मोक्षाभावस्तत्शेत्यादिकानि केवलमोक्षाभाव-
 प्रतिपादकानि । शेषाणि तु तदलित्वसूचकानि । तथा हि—गुहाऽत्र
 मुक्तिरूपा, सा च संसाराभिनन्दिनां दुरवगाहा दुःप्रवेशा, तथा परं
 १५ ब्रह्म सत्यं मोक्षः, अनन्तरं तु ब्रह्मज्ञानमिति, ततो मोक्षस्यास्तित्वं
 नास्तित्वं च वेदप्रतिपादितमवगम्य तत्र संशयस्तत्रैषां वेदपदानामर्थं
 त्वं न जानासि यतस्तेषामयमर्थो वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ १६ ॥
 १८ अथ मोक्षाभावपतिपादने प्रभासाध्यवसितां युक्तिमपि दृष्टिर्थं
 भगवान् प्रकटयन्नाह—
 दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
 २१ नेत्रावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

१ योगतमतप्रदृशितमोक्षाभावप्रतिपादनपरां युक्ति प्रकटयति भगवान्,
 तत्र राष्ट्रनार्थम् इत्यर्थः । २ अत्र 'दीपो यथा' इति धर्मसुदितपाठधिन्यः ।

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चि-

त्तेहस्यात्केवलभेति शान्तिम् ॥ १७ ॥

जीवस्या निर्वृतिपम्बुपेतो

नैवावर्णं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्

क्षेत्रशक्यात् केवलभेति शान्तिम् ॥ १८ ॥

यथा दीपः प्रदीपो निर्जृतिं निर्वाणं विघ्यातिमित्यर्थः अभ्युपेतः
प्राप्तः सन् नैव अवर्णं पृथ्वीं गच्छति, न अन्तरिक्षमाकाशं
गच्छति, न काञ्चिद्विशं पूर्वादिकां गच्छति, न काञ्चिद्विदिश-९
मास्त्रेत्यादिकां गच्छति, किं तु क्षेत्रशक्यात् तैलनाशात्केवलं शान्तिं
नाशं एति प्राप्नोति ॥ १७ ॥ इत्यं हृषान्तमुपदर्श दार्ढन्तिक-
माह—जीव इत्यादि । तथा तेन प्रकारेण जीव आत्मा निर्जृतिं १२
मुक्तिमभ्युपेतः सन् नैवावर्णं गच्छति, न अन्तरिक्षं गच्छति, न
काञ्चिद्विशं न काञ्चिद्विदिशं गच्छति, किंतु क्षेत्रशक्यात् रागद्वेषादि-
जन्यसंसारिकदुःखनाशात्केवलं शान्तिं नाशं एति, दीपलेवास्य जीवस्य १५
नाश एव निर्वाणमिति भावः ॥ १८ ॥

यत्सौगतानामिति युक्तितोऽपि चर्तेऽत ते चेतसि मुक्तिलोपः ।

कर्मधुपानिर्वर्तनारकादिपर्यायनाशे तु न चातिरिक्तम् ॥ १९ ॥ १६

हे प्रभास ! इतीत्यं पूर्वोक्तप्रकारेण सौगतानां वौद्विशेषाणां
मुक्तितोऽपि ते तव चेतसि मुक्तिलोपो मोक्षमावो यदसाद्वर्चेत, ततोऽपि
संशयल्पवेति वाक्यशोपः । पुनः प्रकारान्तरेणापि मोक्षमावसाधने २१

^१ अन्तरिक्षम् इति कान्तीमुक्तिर्पादविन्द्यः ।

प्रभासमिप्रेतां युक्तिमाह—कर्मेत्यादि । कर्मणां क्षयात् निर्जन-नार-
कादिपर्यायाणां देव-नारक-तिर्यग्ग्रभावानां नाशो भवति, तत्राशे तु
अतिरिक्तं देव-नारकादिपर्यायेभ्यो मिलमन्यत् जीववस्तु न चास्तीति
शेषः । चः समुच्चये । अयमर्थः—‘देव-नारकादित्वगेव संसार
उच्यते, तद्विज्ञान्यः कोऽपि जीवो नास्ति, कदाचिदप्यनुपलग्भात् ।
देवनारकादिपर्यायरूपसंसारनाशे तु जीवस्य सखरूपनाशात्तर्वथा
नाश एव भवति, तत्रः कस्याऽसौ मोक्ष’ इति त्वं मन्यसे ?
इति ॥ १९ ॥

९ एवं विकल्पैर्वहु संशयान-
स्तिष्ठेरिहादत्स्य मदुक्तयुक्तीः ।
याभिर्मनस्ते स्थिरतामुपेयात्
१२ सत्याग्रतो वा कियती मृपोक्तिः ? ॥ २० ॥

हे प्रभास ! एवमसुनोक्तमकारेण विकल्पैर्विर्तर्कर्त्तव्यहु प्रधुरं यथा
स्याचया संशयानः सन्देहं कुर्वाणस्त्वं तिष्ठेत्वतिष्ठसे, परं इहालिन्
१५ सन्दिग्धेऽर्थे मदुक्तयुक्तीः आदत्स्य गृहण, याभिर्युक्तिभित्ते तत्र
मनः स्थिरतां उपेयात् प्राप्नुयात् । याऽयश्च सत्यस्य सद्गृहार्थ-
वचनस्य अग्रतः पुरतो मृपोक्तिर्मिथ्यावचनं कियती ? किंप्रमाणाः ?
१८ स्यासतीति शेषः, कियत्कालं स्यासतीत्यर्थः । एतावता गदुच्यमान-
सत्ययुक्तीनां पुरस्त्वद्विकस्त्रिता मिथ्यायुक्तो न स्यासतीति
मावः ॥ २० ॥

अथादौ जरामर्यगित्यादि यद्वेदयाक्षं गोक्षगावप्रतिपादकतया
१९ प्रभासेनाध्यवसिर्तं तत्पतिविषयातुमाद—

ग्रन्थिमार्गश्रविमूढलोकान्
यष्टव्यमाजीवनभेतदुक्तम् ।
निवृत्तिमार्गश्रविणां तु मुक्ति-
निपेद्यते कापि न वेदवाक्यैः ॥ २१ ॥

ग्रन्थिमार्गोऽविवेकिजनप्रवर्त्तनमार्गस्तदाश्रयिणो ये मूढलोका अनात्मतत्त्वज्ञजनाः, तानाश्रित्येति शेषः, ‘आजीवनं यष्टव्यम्’ १ इत्येतद्वेदे उक्तमस्ति, परं निवृत्तिमार्गो मुक्तिमार्गस्तदाश्रयिणस्तत्त्वज्ञानिन् इत्यर्थः, तेषां तु कापि प्रदेशो वेदवाक्यैर्मुक्तिर्न निपेद्यते । अर्थं भावः—‘जरामर्य वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं’ मिति वेदवाक्यात् २ मोक्षहेतुक्रियारम्भकालामावत् यत्त्वं मोक्षाभावं शङ्खसे तदयुक्तं, तदर्थपरिज्ञानात्, तस्य अवभर्थो—यदेतदमिहोत्रं तद्यावज्जीवं सर्वमपि कालं कर्त्तव्यम् । वाशब्दान् सुमुकुमिमोक्षहेतुमूलमप्यनुष्ठानं ३ विधेयमिति । ततश्च मूर्खं तत्त्वज्ञभेदेन नार्गद्वयाधिकारिणो भिन्नत्वात् कथित्विद्विरोधः ॥ २१ ॥

अथ प्रमासाध्यवसितामाद्यां सुक्तिमतिकम्यारूपवक्तव्यत्वाचाव- ४
हितीययुक्ति निराकर्तुमाह—

यथादि मुद्राऽङ्गद-कङ्कणादिपर्यायनाशेऽपि न हेमनाशः ।
तथैव मर्त्यामरनारकादिपर्यायनाशेऽपि न जीवनाशः ॥ २२ ॥ ५

श्रीति निधित्तं मुद्रा च स्वर्णमर्या प्रसिद्धा अङ्गदं च चाहुभूपणं कङ्कणं च करमूपणं तानि आदयो येषां ते मुद्राकङ्गदकङ्कणादयः पर्व-विधा ये पर्याया विविधाकारभृदस्तुविदेशेषां नाशेऽपि यथा हेषाः ६ सुवर्णस्य नौशो न भवति तथैव तैवैव पक्षरेण मर्त्याश्च भनुप्या अमराश्च देवा नारकाश्च नरकगतिनामकमोदयवर्तिनो जीवास्ते ७

आदयो येषां ते मत्त्याऽमरनारकादय एवंविधा ये पर्यायास्तेषां नाशे-
ऽपि जीवस्यात्मनो नाशो न भवति । अयं भावः—नरतिर्यगादिस्त्वेण
इयो भावः स जीवस्य पर्याय एव, न च पर्यायमात्रनाशे पर्यायिणो
जीवद्रव्यस्यापि सर्वेषां नाशो मतः, कथंचित्तु भवत्यपि, न हि मुद्रा-
दिपर्यायमात्रनाशे हेत्वः सर्वेषां नाशो दृष्टः, ततो नर-नारकादिसंसार-
पर्यायनिवृत्तौ मुक्तिपर्यायान्तरोत्पत्तिः जीवस्य स्यादथा मुद्रापर्याय-
निवृत्तौ कर्णपूरपर्यायान्तरोत्पत्तिः सुवर्णस्य, इति न किञ्चिद्विरुद्धते,
अत्र पुनर्विद्वेषोपार्थिना विशेषावश्यकवृच्छिर्विलोक्य ॥ २२ ॥

९ अथ प्रदीपदृष्टान्तभावितां प्रथमयुक्तिं निराकर्तुमाह—
दृष्टान्तभूतेऽपि तव प्रदीपे न सर्वैवाभिहितो विनाशः ।

यतः प्रदीपाहृयवस्तुनाशेऽप्यनश्वरत्वं स्फुटमस्त्यग्नाम् ॥ २३ ॥

१२ हे प्रभास ! तवापि त्वन्मतेऽपीत्यर्थः, दृष्टान्तभूते प्रदीपेऽभिहित
उक्तो यो विनाशः स सर्वैव सर्वैरेव प्रकारैर्न विद्यते, कथञ्चिदेवा-
स्तीति भावः । कथमेतदेवमित्याह—यतो यस्मात् प्रदीपाहृयस्य
१५ प्रदीपनामकस्य वस्तुनः पदार्थस्य नाशे सत्यपि अण्णां तत्परमाणु-
पुद्गलानां स्फुटं प्रकटं अनश्वरत्वमविनाशित्यमस्ति । प्रदीपानलस्त्रह-
विनाशेऽपि तत्पुद्गलानां रूपान्तरतया परिणमनान्न सर्वेषां विनाश
१८ दृष्टिं भावः ॥ २३ ॥

यदि सर्वेषां प्रदीपवद्दीर्नं नाशस्त्वाहि विद्यातानन्तरं किमित्यसौ
साक्षात् दृश्यते ? अत्रोत्तरमाह—

१९ आद्रेन्यनोपाधिवद्यो यथाऽप्तिः
कृष्णं परीणाममियत्ति धूमे ।

सेहद्युपाद्युवणवस्त्वैव

विश्रीर्य फाष्प्येन तमो मिलन्ति ॥ २४ ॥

उप समीपे आघीयते स्थाप्यते यः स उपाधिः, आदै अशुष्कं
यदिन्वनं समित् स एवोपाधिस्तस्य वशोऽधीनोऽमिर्यथा धूमे धूमरूपे
संविकारे कृष्णं इयामं परीणामं परिणमनं हयर्ति शास्त्रोति । स्तमा-३
वात्सयं रक्तवर्णोऽपि पश्चादुपाधिवशात् कृष्णवर्णो भवतीत्यर्थः ।
तथैव तद्वदेव वहयणवः प्रदीपाभिपरमाणवः खेहक्षयाचैलनिर्णयात्
विद्वीर्थं स्वण्डशो मूल्या कृष्णस्य भावः कार्यं तेन तत्क्षणोत्पत्त-६
कृष्णत्वपरिणामेन तमोऽन्धकारं प्रति मिळन्ति । अध्याहारलभ्यप्रते-
योगे तम इति द्वितीया । अयं भावः—विद्याते प्रदीपेऽनन्तरसेव
तामसपुद्गलरूपो विकारः समुपलभ्यते एव, चि(७)रं चासौ पुरस्ताद्य-९
चौपलभ्यते तत् यद्यस्तद्यमतरपरिणामभावात्, यथाऽङ्गनस्य पवनेना-
पहियमाणस्य यत् कृष्णरज उद्युयते तदपि परिणामसौदन्यान्नो-
पलभ्यते, न पुनरसत्त्वादिति ॥ २४ ॥

१२

चित्ररूपय बुद्धलभरिणाम इति दर्शयन्नाह—

तथाहि निर्वाणदशेन्यनाणून्

गृह्णाति तद्वन्यगुणेन नासा ।

१३

द्रव्यत्वतस्तेन समस्तभावा

विनाशिनो नैव कदापि वाच्याः ॥ २५ ॥

तथाहि । तदेव पुद्धलपरिणामवैचित्र्यं दर्शयति—दशा वर्तिरेव १०
इन्यनं यस्य स दशोन्यनः प्रदीप इत्यर्थः । निर्वाणो विद्यातो यो
दशोन्यनस्तस्य अणवः परमाणुपुद्धलासान् नासा नासिका गृह्णाति । केने-
त्याह—तद्वन्यगुणेन तेषां विद्यातप्रदीपाणूनां यो गन्धगुणस्तेन, ११

१ अप्याहरेण दम्पस 'प्रति' इत्युपगमेस दोगेनाऽप्त 'तमस्' इति चन्द्रस्
द्वितीया इत्यर्थः । २ असौ विकारः ।

तत्कालमेव ताद्वग्न्धगुणपरिणतेरिति मावः । तेन कारणेन द्रव्यत्वतो
द्रव्यत्वमङ्गीकृत्य समस्तमावाः सर्वेषदर्थाः कदापि कस्मिन्नपि काले
३ विनाशिनो विनश्वरा नैव चाच्याः कथनीयाः । सर्वेषां मावानां पर्या-
यरूपतयाऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यरूपतया नित्यत्वमेवेत्यर्थः । इदमत्र
तात्पर्यम्—वायुः स्पर्शनेन्द्रियस्यैव ग्राह्यः, रसो रसनस्यैव, गन्धो ग्राण-
६ स्यैव, रूपं चक्षुषं एव, शब्दस्तु श्रोत्रस्यैव ग्राह्यः, तदेवं यथा वाय-
व्यादयः पुद्गला एकैकस्य प्रतिनियतस्यैवेन्द्रियस्य ग्राह्या भूत्वा
पश्चात्परिणामान्तरं किमप्यापक्ना इन्द्रियान्तरग्राह्या अपि भवन्तीति
९ स्वयमेवावगम्यते । तथा प्रस्तुता अपि प्रदीपगता आमेयाः पुद्गलशक्तु-
आख्या भूत्वा पश्चाद्विद्यते तस्मिन् प्रदीपे त एव तामसीभूताः सन्तो
प्राणेन्द्रियग्राह्यतामुपयान्ति । ततश्च यथा अनन्तरोक्तस्वरूपपरिणामो-
१२ न्तरं प्राप्तः प्रदीपो निर्वाण इत्युच्यते तथा जीवोऽपि कर्मविरहितः
केवलाऽमूर्चजीवस्वरूपलामलक्षणमवाधं परिणामान्तरं प्राप्तो निर्वाण
उच्यते, तस्माद्वाहःसादिक्षयरूपा विद्यमानस्य जीवस्य काचिद्विद्विशि-
१५ ष्टाऽवस्था निर्वाणमिति स्थितम् ॥ २५ ॥

अथ निर्वाणस्यैव स्वरूपं स्पष्टयक्ताह—

सौऽनादिवन्धच्युतिरेव मुकिर्यश्रोद्धुसेद्रव्यतयैव जीवः ।

१८ चञ्चाचिदानन्दमयः परात्मा दृष्टपृथग्भूतसुवर्णतुल्यः ॥ २६ ॥

अनादिः प्रवाहरूपेण आदिरहितो यो वन्धो जीवस्य कर्मणा
सम्पन्नस्य च्युतिद्वास एव सा मुकिरुच्यते द्रष्टि शेषः । सा
केत्स्याह—यत्र यसां मुक्ती सत्यां जीवशेतनो द्रव्यतया द्रव्यत्वेनैव
२२ स्वयमरूपेषीयेत्यर्थः, उद्धसेत् उद्धसितो भवेत्, तदानीं पुद्गलजन्मोऽस्मा-

* अत शानादिवन्धच्युतिः इति शास्त्रमुद्दितपाठः ।

सामायादिति भावः । तदार्नीं कीदृशोऽसौ जीव इत्याह—चञ्चादि-
त्यादि । चिद्य ज्ञानं आनन्दश्च निरुपाधिकप्रमोदश्चिदानन्दौ, चञ्चन्तौ
स्फुरन्तौ यौ चिदानन्दौ तौ स्वरूपं यस्य स चञ्चचिदानन्दमयः ३
“चञ्च गतौ” मौवादिकोऽसात् शत्, अत एव परः प्रकृष्टश्चासौ
आत्मा च परात्मा, तथा दृपदः पापाणात् पृथग्मूर्तं यत्सुवर्णं काञ्चनं
रघुल्यः कर्मोपाध्यपगमादिति भावः ॥ २६ ॥ ४

ननु जीव-कर्मणोः योऽनादिः सम्बन्धस्त्वस्य कथं च्युतिरित्या-
शङ्कायामाह—

अनादिसंयोगवतोर्यथेष्टः ५

पापाणधात्वोरनलेन मेदः ।

तथाऽऽत्म-कर्मव्यतिभेदसिद्धिं

ज्ञान-क्रियाभ्यामवगच्छ विद्वन् ! ॥ २७ ॥ ६

अनादिध्यासौ संयोगधात्वाऽनादिसंयोगः तद्वतोः पापाणधात्वोर्दृष्ट-
त्सर्णायोर्भेदो भिन्नत्वं यथाऽनलेन विद्वना कारणमूलेन इष्टोऽभिम-
तस्तथा तेन प्रकारेण हे विद्वन् ! हे प्राज्ञ ! आत्म-कर्मणोर्व्यतिभेदस्य ७५
परस्परभिन्नत्वस्य सिद्धिं निष्पर्वति ज्ञान-क्रियाभ्यां करणगृताभ्यां अव-
गच्छ जानीहि ॥ २७ ॥

मोशस्य सद्गवादिकं स्पष्टयति— ८

मोशस्तु सञ्चुदपदत्वयुक्त्या स्वपुण्यवर्द्धये कदाऽप्यसन् सुः ।

मुक्तस्य भूयोऽथ न कर्मबन्धो मोशस्थितिस्तेन हि साधनन्वा २८

शुद्धं केवलं यत्पदं मोश इत्यादिलक्षणं तस्य आवश्यकं तच्छृङ्ख्या ११
मोशो मुक्तिस्तु सन् विषमान एवाचि, परं शपुण्यं आकाशपुण्यं, २२

तद्वत् स मोक्षोऽसन् अविद्यमानः कदापि कस्मिन्नपि काले नैवास्ति ।
 स्तुपृष्ठस्य शुद्धपदत्वाभावादसत्त्वं, नैव मोक्षस्येति मावः । अथ कर्म-
 ३ क्षयानन्तरं मुक्तस्य मोक्षं प्राप्तस्याऽल्मनो मूर्यः पुनरपि कर्मवन्धो न
 भवति, तद्वेतो रागादेः समूलकापंकपितत्वात्, तेन कारणेन हीति
 निश्चितं मोक्षे मुक्तावस्थायां स्थितिरात्मनोऽवस्थानं साधनन्ता वर्तते,
 ६ यस्या आदिरस्ति अन्तश्च नास्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

ननु यदि मोक्षस्थितिः साधनन्ता तर्हि मोक्षस्थानादित्वं न भवि-
 प्यतीत्याशङ्कायामाह—

९ उत्पद्यमानोऽपि यथेह कालः प्रवाहरूपेण भवेदनादिः ।
 तथैव मोक्षः समकर्मधावादुत्पद्यमानोऽपि भवेदनादिः ॥ २९ ॥

इहाऽस्मिन् लोके कालः समयादिरहोरात्रादिलक्षणो वा उत्पद्यमा-
 १२ नोऽपि यथा प्रवाहरूपेण अनादिः आदिरहितो भवेत्, तथैव मोक्षः
 समेपां सर्वेषां कर्मणां यो धातो विनाशस्तलात् उत्पद्यमानोऽपि
 अनादिर्भवेत् ॥ २९ ॥

१५ अथ मोक्षस्यैव वर्णनमाह—

तुच्छेन्द्रियज्ञानमपि सदेहाद्विन्नस्य यस्यात्ति गुणप्रकाशः ।
 समस्तबोधावारणक्षयेण स तत्र तस्य प्रतिभात्यनन्तः ॥ ३० ॥

१० तुच्छं सम्पूर्णज्ञानापेक्षयाऽत्यं यदिन्द्रियज्ञानं चक्षुरादीन्द्रियजन्य-
 ज्ञानं तदपि, आत्माम् सम्पूर्णज्ञानमित्यपेरर्थः, यस्यात्मनः सदेहा-
 द्विन्नस्य स्तोऽस्ति विद्यते तस्याऽल्मनः समस्तबोधावारणक्षयेन
 ११ सकटज्ञानानां द्यादकर्मविनाशेन तत्र मुक्तौ स गुणानां ज्ञानादीनां

१ 'स्तोऽस्ति' एव बोधम् ।

प्रकाश उद्घोतो अनन्तः प्रतिभाति भासते । मुक्तौ देहाद्विन्द्रियैवा-
अवस्थानादनन्तज्ञानसद्गत्वाच्येति भावः ॥ ३० ॥

अन्यच,—

त्रिभागहीनस्यरीरमाने क्षेत्रे स्थितिर्यस्य स विश्वमौलौ ।
विश्वेश्वरश्चिन्मयमूर्च्छिरेव सृष्टो निरावाघमनन्तमुक्तः ॥ ३१ ॥

विश्वस्य सर्वलोकस्य मौलिर्मुकुटमिव विश्वमौलिस्तसिन् लोका-६
अवर्तिनीत्यर्थः । तथा तृतीयो भागस्त्रिभागस्त्रेन हीनं न्यूनं यत्त्व-
शरीरं तन्मानमुन्मानं यस्य तस्मिन् पर्यविधे क्षेत्रे सिद्धाद्वेत्रे इत्यर्थः,
यस्य देहाद्विन्द्रियाऽत्मनः स्थितिरवस्थानं विद्यते इति शेषः । स ९
आत्मा विश्वेश्वरस्त्वेत्यनाथः । कुतः ? चिद् ज्ञानमेव सरूपमस्या
इति चिन्मयी सा मूर्च्छिर्यस्य स तथोक्त एव, यत्क्षिन्मयमूर्च्छिमुत्र एव
विश्वेश्वर इति गावः । पुनः अनन्ता एव मुक्ताः सिद्धाद्वेत्तिरावायं १२
परस्परावापारहितं यथा स्वाचया सृष्टः, ‘यत्रैकः सिद्धः तत्रानन्ताः
सिद्धा’ इति वचनात् । निरावाघत्वं तु सिद्धानां सर्वपुद्गलसङ्गपरि-
त्यागेन अरुपिणि हस्तरूपे एवाज्यस्यानादवसेयम् ॥ ३१ ॥ १५

इह पुनर्भगवान् प्रभासस संशयं निराकर्तुं प्रादुम्कुवेन्नाद—
चेत्पुण्य-पापव्यवतस्तु मुक्तिस्तदा सुखं दुःखसुखे न तत्र ।
मुक्तत्वतो निस्मुख-दुःख एव व्योमेव सांम्येति मर्ति त्रिष्टुत्र ३२ ।

तुश्वन्द एवार्थे, ‘चेदादि पुण्यपापव्यवतस्तु पुन्यगापयोः क्षादेन
मुक्तिर्भवति तदा तत्र मुक्तौ सुखं दुःखं उन्ने द्वे जाति न त्रः, लग्नो-
व्योग इव आकाशवर्तं मुक्तो मुक्तस्ता निकान्तः सुक्त-दुःखाम्ब-
निति निष्ठुलदुःखः, मुत्त-दुःखविन्द्रिये एव प्रमोदीति ज्ञातः । अर्थ ३२

भावः—पुण्यात्सुखमुपजायते, पापाच दुःखमिति मवतामपि सम्भ-
तम् । ततश्च कारणभूतयोः पुण्य-पापयोः क्षये तत्कार्यहृषयोः सुख-
३ दुःखयोरपि क्षयात्रिःसुखदुःख एव मुक्तात्मा प्राप्नोति, तत्कारण-
भावात् आकाशवत्', इति हे सौम्य ! हे प्रभास ! त्वं इत्युक्तप्रकारां
मर्ति बुद्धिं विमुच्च परित्यज एतद्वुद्धिं मा कृथा इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

४ अथात्रोचरमाह—

यदस्ति देहेन्द्रियजं सुखं त-
दुःखानुपज्ञाननु दुःखमेव ।

९ निरीहतात्मसौख्यं च यदात्मसौख्यं
निरीहसाधोरिव तत्र तत्स्यात् ॥ ३३ ॥

ननु इत्यामघ्रणे, हे प्रभास ! देहेन्द्रियजं औदारिकादिशरीर-स्पर्श-
१२ नादीन्द्रियजन्यं यत् सुखमस्ति तत् दुःखानुपज्ञात् दुःखस्यानुसम्ब-
न्धात् दुःखमेव ज्ञेयमिति शेषः, यच्च निरीहता निःस्पृहता आस्या

नाम यस्य तनिरीहतात्मसौख्यं आत्मसौख्यं आत्मनः स्वाभाविकं सुखं तत् ।

१५ निरीहसाधोरिविःस्पृहसुनेरिव तत्र मुक्तौ स्यात् । अयमर्थः—पुण्य-
कर्मफलं देहेन्द्रियजं सुखमस्ति तथा लोकव्यवहारात्सुखतया रूढमपि

वस्तुतो मरणादिदुःखानुपज्ञित्वात्सर्वं दुःखमेव, दुःखं तु पापफलत्वा-

१८ जिर्विवादं दुःखमेव । एवं च सति सर्वं दुःखमेवास्ति संसारे न सुखं,
तथा दुःखं सिद्धस्य सर्वथा क्षीणमतस्तद्विरदात्सिद्धस्य स्वाभाविकं
निरूपममनन्तं युक्तिसिद्धमन्यदेव सुखमस्तीति न कृधिदोषः ॥ ३४ ॥

२१ अथ सिद्धसुखमेव यर्णयति—

अनिष्टसंयोग-प्रयाऽभिलाप-रोगाद्यामावेन च यत्प्रसिद्धम् ।

२४ यत्सर्वं विचेश्वरतोपलब्धं तद्दध्यं सौख्यमनन्तमत्र ॥ ३५ ॥

बनिष्टसंयोगश्च अनभिलपित्रस्तुतं चर्गः मये च भीतिः लभि-
लापश्च इच्छा रोगश्च मानवं ते आदयो चेषां जन्मज्वरान्तरणादीनां
तेऽनिष्टसंयोगमयाभिलपित्रोगादयत्येषां योऽनावदोन यत्तौह्यं प्रसिद्धं ३
वर्तते, च पुर्णर्यत् सौह्यं सर्वविदिः सर्वेन्नत्स भावः सर्वविग्रहं सर्व-
ज्ञत्वं तथा युक्ता ईधरता ऐधर्यन्, यद्वा सर्वविचित्रा एव ईधरता
तथा उपलब्धं प्राप्तमन्ति तत् अज्ञयमविनवरननन्तमनन्तपर्यायोपेतं ४
सौह्यं अत्र मुक्तौ विघते इति शेषः ॥ ३४ ॥

तस्यानन्तत्वमेव स्पष्टयति—

समत्तसौह्यं तु जगत्रयस्यं

वदेकराशीक्रियते कथंचित् ।

तथापि नानन्तत्वमेऽपि भागे

तन्मुक्तसौह्यस्य तुलां विदध्यात् ॥ ३५ ॥

तु इति विशेषे, जगत्रयस्यं बैलोक्ये विद्यमानं समस्तसौह्यं
सकलमुक्तमुरनसुखं यदि कथंचित् केनापि प्रकारेण एकराशीक्रियते
एकपुज्जीक्रियते, तथापि तद्राशीकृतं बैलोक्यसुखं मुक्तसौह्यस्य सिद्ध- ५
सुखस्य अनन्तत्वमेभागेऽपि तुलां सादृश्यं न विदध्यात् न कुर्यात्,
तदपेक्षयाऽत्यस्पत्वात्तदनन्ततमभागतुल्यमपि न स्यादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

तदेवं भगवता छिनसंशयः प्रभासः किं कृतवानित्याह— ६

जगद्गुरोर्बन्त्रसरोजगर्भा-

द्विनिर्गतानीति वचोऽधराणि ।

निशम्य सम्यक् परिपीय तत्त्वं

शिवोत्सुकोऽभूत्मतिमान् प्रभासः ॥ ३६ ॥

१ अत्र 'तद्वा सुखमुखस्य तुलां इति काशीसुक्रितपाठम्ढन्दोऽतुरोप्यात्मामूर्दिकः ।

इति इत्यं जगदुरोः श्रीवीरप्रभोः वक्त्रसरोजगर्भान्मुखकमलम-
ध्याद्विनिर्गतानि वचोऽक्षराणि वचसः सम्बन्धीनि वर्णानि निशम्य
३ शुत्वा तत्वं तद्रूपरमार्थं सम्यक् परिपीय पीत्वाऽवधारेत्यर्थः, मति-
मान् तुद्विमान् प्रभासः शिवे मुक्तौ यद्वा मुक्तिकारणे भगवद्वदिते
मार्गे उत्सुकोऽमूदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

६ ततः समं शिष्यशतत्रयेण प्रब्रज्य सावद्यविधेविरक्तः ।

पूर्वशुद्धपिंसमाजराजौ दर्भासनं मेध्यमलञ्चकार ॥ ३७ ॥

७ ततस्तदनन्तरं शिष्याणां शतत्रयेणैः समं सह प्रब्रज्य भगवत्पार्थे
८ प्रब्रज्यां गृहीत्वा सावद्यविधेः सपापव्यापारतः विरक्तो विरतः प्रभासः
९ पूर्वं प्रवृद्धाः प्रवोधं प्राप्ता ये क्रयथो गौतमाचा मुनयस्तेषां समाजः
१० परिपत् तद्रूपा या राजिः पक्षिः तस्यां मेध्यं पवित्रं दर्भासनं कुशमय-
११ मासनं अलञ्चकार शोभमानं कृतवान्, तत्रोपविष्टवानित्यर्थः । तदानीं
१२ दर्भासनं भवतु वा मा भवतु, परं साधूनां प्रायस्तत्संभवाच्छ्रद्धणमित्य-
१३ वसेयम्, समाजेति । “समाजः परिपत् सद” इति हैमः ।
१४ ‘पवित्रं पापनं पूर्वं पुण्यं मेध्य’मिति च ॥ ३७ ॥

अथ समग्रन्थोक्तार्थोपसंदारमाह—

इत्यं मनःसंशयमार्जनेन श्रीवीरदत्तत्रिपदीसुवीजात् ।

१५ शृष्ट्याङ्गपूर्वाणि गणाधिनाथा एकादशापि प्रथिता चभूतुः ३८

इत्यमुक्तप्रकारेण मनस्तु गौतमादीनां हृदयेषु ये संशया सन्देश-
स्त्रेषां मार्जनेन शोषनेन श्रीवीरेण दधा या श्रयाणा पदानां समादार-
१६ स्त्रिपदी ‘उपनेद या विगमेइ या भुवेद ये’स्येतत्सरूपा पदत्रयी सा
१७ एव मुशोभनं बीजं, तत्त्वात् आत्मानि च आचारादीनि अङ्गपूर्वाणि गानि

कृस्वा । कृस्वेति । कृपूषातोः पूर्वकाले क्त्वा उदितात्मके नेह । अङ्गेत्यादि । ‘अजाधदन्तम्’ (२।३।३३) इति द्वन्द्वेऽङ्गशब्दस्य पूर्वनिपातः ॥ ३८ ॥

६

ततस्ते गणमृतः किं कृतवन्त इत्याह—

विहृत्य भूमौ प्रतिवोध्य सद्वं चतुर्विंश्च वीरजिनाङ्गयैते ।
संप्रेपयामासुरिमं भवाव्येनिक्षार्य मुक्तिं त्रिदशालयं वा ॥ ३९ ॥

एते गणधरा वीरजिनस्य आङ्गया आदेशेन भूमौ पृथिव्यां विहृत्य विहारं कृत्वा चतुर्विंश्च चतुःप्रकारं सद्वं साध्वादिसमूहं प्रतिवोध्य इमं सद्वं भवाव्येः संसारसमुद्रानिक्षार्य, सन्मार्गप्रवर्तनादि-६ नेति शेषः । मुक्तिं मोक्षं वाऽथवा त्रिदशानां देवानामालयो गृहं त्रिदशालयः सर्गलं संप्रेपयामासुः नियोजयामासुः, प्रापयामासुरिति यावत् । तत्प्रतिवोधिताः केचिन्मुक्तिं केचिच्च सर्गं जग्मुरिति भावः । १२ संप्रपूर्वात् ‘इय गतौ’ इत्यसाद्वेतुमण्णन्तालिङ् । आमि गुणे च कृते ‘एडि पररूपम्’ (६।१।९४) इति पररूपम् । इममिति । ‘गतिवुद्धि-’ (१।४।५२) इत्यादिनाऽणिकर्तुर्णीं कर्मत्वम् ॥ ३९ ॥ १५

अथ भगवतः कृत्योपसंहारमाह—

इत्यं तीर्थपतिः समेत्य विदिताऽपापानगर्वन्तिके

रम्ये श्रीमहसेननामनि वने सन्दर्श्य विश्वेशताम् । १०

मिथ्यात्तं परिमार्ज्य याज्ञिकन्तुणां छित्त्वा च तत्संशयान्

स्त्रीयं मुक्तिपथप्रचारत्वुरं प्रावीवृतच्छासनम् ॥ ४० ॥

तीर्थपतिः श्रीवीरजिनेन्द्रः इत्यमुक्तप्रकारेण विदिताया लोके प्रसिद्धाया अपापानगर्या अन्तिके समीपे रम्ये मनोहरे श्रीः पुष्पादि-२२

लक्ष्मीस्तद्युक्ते महसेननामनि वने समेत्य आगत्य विश्वेशतां त्रैलोक्ये-
श्वरत्वं सन्दर्श्य सम्यग् दर्शयित्वा याज्ञिकनृणां यज्ञकर्तृमनुष्याणां
३ गौतमादीनां मिथ्यात्वं परिमार्ज्य संशोध्य, च पुनस्तेपां संशयास्तसं-
शयास्तान् छित्वा निराकृत्य मुक्तिपथे मोक्षमार्गे यः प्रचारो जनानां
सञ्चारणं तत्र चतुरं निपुणं स्वस्य इदं स्त्रीयं शासनं आदेशं प्रावीकृतत्
६ प्रवर्तयति सा । प्रपूर्वात् 'वृत्तु वर्तने' असाद्वेतुमण्यन्तालुडि चइ ।
उक्तंत् (७।४।७) इति गुणापवादपाक्षिकक्रिदादेशः । शासनमिति ।
‘आज्ञायिएर्निराहनिभ्यो देशो नियोगशासने’ इति हैमः ॥ ४० ॥

९ अथ कविरेतत्काव्यस्याऽविच्छेदप्रवृत्त्यर्थमाशीर्वदात्मकमन्तिम-
मद्वलमाह—

भव्याम्भोरुहयोधने दिनकरस्तिशत्समा भूतले

१२ मोहाज्ञानतमोभरं विघटयन् यो धर्मराज्यं व्यधात् ।
यश्चाद्याय निनाय जन्तुनिकरं सर्गापवर्गालयं
स श्रीवीरजिनेश्वरो भवतु नः सद्यस्य च श्रेयसे ॥ ४१ ॥

१५ भव्या एव अम्भोरुहाणि कमलानि तेषां बोधने प्रबोधोत्पादने
दिनकरः सूर्य इव यः स तथोक्तः, ‘हलदन्तात्०’ (३।६।९)
इति सप्तम्या अलुकृ पृथक्पदं वा, एवंविधो यः प्रमुर्भूतले पृथिव्यां
१८ मोहध्य मूर्च्छीज्ञानं च कुबोधो मोहाज्ञाने तद्रूपं यत्मोऽन्यकारं
तस्य भरमतिशयं विघटयन् दूरीकुर्वन् त्रिशत्समाख्यशद्वर्षणि यावद्
धर्मराज्यं धर्मसम्बन्धिसाप्राज्यं व्यधात् करोति सा, च पुनर्यः
२१ प्रमुरदाय शीमं जन्तुनिकरं भव्यजीवसमूहं सर्गापवर्गालयं त्रिदिव-
मोक्षस्यानं निनाय प्रापयति सा । स श्रीवीरजिनेश्वरो नोऽसाकं च
२४ पुनः सद्यस्य गाध्वादिसमूहस्य चतुर्विधस्य श्रेयसे कस्याणाय भवतु

सम्पदताम् । समा इति । ‘वर्ष हायनोऽन्दं समाः शरत्’ इति हैमः । ‘कालाघ्नोः’ (२।३।५) इति द्वितीया । अहायेति निपातोऽयं ‘मह्मह्य च सत्वर’मिति हैमकोशोकेः । निर्नायेति । द्विकर्म-३ काण्णीज् भूधातोः कर्तरि लिह । श्रेयसे इति । ‘कृषि संपदमाने च’ (१०) इति चतुर्थी, इहान्तिमं काव्यद्वयं शार्दूलविक्रीडित-छन्दोऽलङ्कृतं, तल्लक्षणं तु प्रागुक्तमेवेति ॥ ११ ॥ ६

अथ कविः काव्यवर्णननामाख्यानपूर्वकं सर्गसमाप्तिं कथयति—
इति वाचनाचार्यश्रीदयासिंहगणिशिष्यकविरूपचन्द्रविरचिते
गौतमीये महाकाव्ये मेतार्यप्रभासदीक्षाग्रहणवर्णनो ९
नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इति स्पष्टम् ।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं अन्यः ॥

१२

इति वाचनाचार्यश्रीमद्भूतघर्णगणिविनेयवाचनाचार्य-क्षमाकल्याणगणि-
निर्गितायां गौतमीयप्रकाशाख्यायां गौतमीयमह्महाकाव्य-
व्याख्यायां एकादशः सर्गः, तत्समाप्तौ च समाप्तेऽयं
न्याख्या ॥ ११ ॥

अथ ग्रन्थकृत्कृता प्रशस्तिः ।

—६४—

अथ संवत्सरादौ यस्मिन् पुरे यद्वाज्ये चेदं काव्यं याद्वशेन च
३ सता कविना निर्भिंतं तत्सर्वं स्थामेव ग्रन्थकृदाह—

संवच्छैल-वियद्वजोमुप(१८०७)मिते मासे सहस्राऽऽदिमे
पक्षे दक्षसुंताधिनाथदिवसे शुद्धे दृतीयातिथौ ।

६ श्रीमधोधपुरे कर्मधजरवौ श्रीरामसिंहे नृपे
श्रीमच्छ्रीजिनलाभसूरिगणभृद्राज्ये पुनर्द्वार्भिके ॥ १ ॥

विद्याचारवरे गणे खरतरे श्रीक्षेमकीर्त्यऽन्वये

९ सज्जाता भुवि शुन्नान्तिहर्षगणयः श्रीवाचकारुयाभृतः ।
तच्छिष्या निनहर्षनाममुनयो वैरङ्गिकायेसरा-

स्तच्छिष्याः सुखवर्द्धना अपि दयासिंहास्तर्दीयास्तथा॥२॥

१२ तच्छिष्योऽभयसिंहनामनृपतेर्लब्धप्रतिष्ठो महा-
गम्मीराऽर्हतश्चात्मवच्चरसिकोऽहं रूपचन्द्राहयः ।

प्रख्याताऽपरनामरामविजयो गच्छे स दत्ताख्यया

१५ काव्येऽकार्यमिमं कवित्वकलया श्रीगौतमीये अभम्॥३॥

दोषाः शब्दसमुद्धवाः कविपयालङ्कारदोषाः पुनः

१८ पदेष्वेषु मम प्रमादवशतश्चेत् सम्भवेषुः क्वचित् ।

१ माणर्हीर्वमायस्येत्यर्थः । २ उद्वशायरे इत्यर्थः । ३ शब्देऽ इति ।
४ 'शान्तरहर्षगणः' इति वार्तामुद्दिते पाठः शोऽसंगतो हेयः । ५ 'वैरीदो
मिरणादं' इति देमधेयः ।

गीतार्थस्तु तथापि युक्तिकविताकार्ये अर्थं प्रेक्ष्य मे
 ‘साधो ! साधु कृतं त्वये’ ति ददतामुत्साहमेवेप्सितम् ॥ ४
 एतत्प्रचतुष्टयमपि स्पष्टार्थमिति न व्याख्यातम् ।
 ॥ इति ग्रन्थकृत्यता प्रशस्तिः ॥

॥ अर्थं दीकाकृत्यंशस्तिः ॥

वाहुज्ञानवसुक्षमा (१८५२) प्रमितिजे वर्षे नमस्युज्ज्वलै- ६

कादश्यां विलसत्तियौ कुमुदिनीनाथान्वितायामिह ।

श्रीमल्लसलमेहनान्नि नगरे श्रीमूलराजेश्वरे

राज्यं कुर्वति यादवान्वयरवौ सर्वायामार्गाश्रिते ॥ १ ॥ ७

श्रीदेवार्थपदाढ्बसेवनपदुश्रीमल्लुघर्मान्वये

पूज्यश्रीजिनचन्द्रसूरिमुनिये गच्छेश्वरां विग्रहति ।

श्रीमत्पाठकरूपचन्द्रवचसामर्थप्रकाशो क्षमा । १२

रम्याऽसौ परिपूर्णतामभजतु व्यास्या सदास्यानमृत् ॥ २ ॥

प्रारब्धा निधिनेत्रसिद्धिवसुधा (१८२७) संख्ये मुसंवत्सरे

याऽऽसीसद्गुणभाजि राजनगरे श्रीगुर्जरत्रावनौ । १३

पूज्यश्रीजिनलाभसूरिमुगुरौ सैद्धान्तिकानुष्ठरे

सद्गुणा समयोचितेन विधिना गच्छावनं कुर्वति ॥ ३ ॥

त्रिमिविशेषकम् । १४

१ भाद्रपदमासे । २ चन्द्रेण युक्तायाम् । ३ मूलहृदचसाम् अर्थं प्रकाशने
 समर्था-क्षमा अत एव रम्या इत्यर्थः ।

श्रीमन्तो जिनभक्तिसूरिगुरवशान्द्रे कुले जज्ञिरे

तच्छिष्या जिनलाभसूरिमुनिपाः श्रीप्रीतिरः सागराः ।

३ तच्छिष्या गुणराजिराजितमहाप्रज्ञाः सुसंविमकाः

श्रीमन्तोऽमृतधर्मवाचकवरा जाता धराविश्वलाः ॥ ४ ॥

तच्छिष्यो वरधर्मवासितमतिः प्राज्ञः क्षमापूर्वकः

५ कल्याणः कृतवानिमां कृतिजनस्यान्तप्रमोदासुये ।

बुद्धेर्मन्दतया प्रमादवदातो वा किंचिदुक्तं मया-

६ अत्राशुद्धं परिशोधयन्तु सुधियो मिथ्याऽस्तु ऐ दुष्कृतम् ॥५॥

॥ इति श्रीगौतमीयप्रधायः सद्गुरुः पव्यमानविर नन्ददात् ॥ श्रीः ॥

७४०६

इति श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे भन्धाङ्गः १०

गीतमीयकाव्यस्थौकानामकारादिक्रमेण सूची ।

पृ० छो० पं०

अ .

अद्वृता निरुगो	१५१	३२	११
अशागी परतछता-	१६७	६०	१३
अप्रिमूतिरपि वाक्य-	१८३	८	१०
अगृहीताऽपि सःवन्धं	१६३	५३	१५
अचेलता विश्रदपि	७८	३	१
अत आरेष्ठे तत्रा-	२४३	५	६
अत उपरितमाऽम-	५२	२३	६
भवथेष परीतोयो-	२४७	१६	१७
अतो घनं महतये	६९	२१	१५
अलन्त्याऽनुपलब्धे-	२५७	३७	६
अत्युपमापुष्टक्लोप-	२३९	४३	१७
अत्राति चेदुत्तरपश-	२६६	६	१६
अय पवनकुमार-	३९	१	२
अयुंशालुकानदी-	६३	१	२
अप विशाय मगवा-	१३३	१	११
अप मुत्तेन्द्रभूजा-	२४२	१	१
अपाऽरपेमन्यसु-	१४	११	५
अपोदिमायादग्नो-	४७	१	२
अचो हस्तीमुखबल	९६	३३	१०
अदृष्टवेऽपि छि	१६७	५९	१
अपीतपूर्वा यउ चर्ये-	८३	१३	५
अपोगडानि कष्ट-	७३	३३	११
अनन्दरट्ट मावं ई	२४७	१५	११

पृ० छो० पं०

अनादिकमांगि तदा-	२३०	३३	१२
अनादिस्मित्यात्	२३०	३२	१
अनादितो गृनिमित्यं	२२६	३१	७
अनादिसंयोगवदो-	३७९	३७	९
अनिष्टसंयोग-भया-	२८२	३४	२२
अनुमानात् स्वार्थं	१७४	७३	१०
अनुमानादूहाणेव-	१६२	५२	२०
अनेकवर्त्तनिःस्वनानु-	५२	२१	४१
अन्ययाऽनुपरत्येक-	२४८	१७	२
अपस्तुरमहस्य चिदु-	६०	३८	२
अपेक्ष्य मावं परम-	२१६	१२	१८
अमायत जगद्योयो-	२४२	२	१०
अमण्डयं तागडं	७४	३६	२०
अमूर्जत्वे द्वचतुलं	२५५	३३	१७
अर्थः छि वा मदे-	१७६	७७	१८
अस्पिनि व्योमनि	२३१	३५	८
अवपस्तुरमुञ्ज	५६	३३	१७
अविरलवलयाहृदी-	५१	२१	१
अविद्वदोऽपि मोहते	१४१	१६	१६
अद्यादीर वषन्तं वा	१५१	३१	१
अधोम्य यन्मद्व-	१०५	१५	७
अपद्वदेशो न विष-	७३	६	११
अस्तित्वमपि गीवस्य	१६१	१०	१
अस्ति स प्रद्व एव	२०६	४६	४

श्रीमन्तो जिनभेक्षिसूरिगुरवशान्द्रे कुले जिरे

तच्छिष्या जिनलाभसूरिमिनिपाः श्रीप्रीतितः सागराः ।

३ तच्छिष्या गुणराजिराजितमहाप्रश्नाः सुसंविमकाः

श्रीमन्तोऽसृतधर्मवाचकवरा जाता धराविश्वताः ॥ ४ ॥

तच्छिष्यो वरधर्मवासितमतिः प्राज्ञः क्षमापूर्वकः

५ कृत्याणः कृतवानिमां कृतिजनस्तान्तप्रमोदासये ।

बुद्धेमन्दर्तया प्रमादवशतो वा किंचिदुर्क मया-

६ इताशुद्धं परिशोधयन्तु सुधियो मिथ्याऽस्तु मे दुष्कृतम् ॥५॥

॥ इति श्रीकाङ्कतां प्रशास्तिः ॥

—०२००—

॥ इति श्रीगौतमीयप्रकाशः सद्मिः पठ्यमानविरं नन्दतात् ॥ धीः ॥

७४०६

इति श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ९०

गीतमीयकाव्यस्थक्षोकानामकारादिक्रमेण धूची ।

पृ० श्ल० ५०

अ

अकर्ता निर्गुणो	१५१	३३	१६
भक्षणा परतश्चत्ता-	१६७	६०	१३
अस्तिभूतिरपि वाक्य-	१८३	८	१०
अगृहीताऽपि समयन्धं	१६३	५३	१५
अचेलता विश्रदपि	७८	३	९
अत आरेकसे तत्त्वा-	२४३	५	६
अत उपरिताऽम-	५२	२२	६
अथधेष्ठ परीतोषो-	२४७	१६	१७
अतो पन्नं महत्यये	६९	२९	१५
अलन्त्ताऽनुपलक्ष्ये-	२५७	३७	६
अत्युपमापद्वक्लोप-	२३९	४६	१७
अन्नास्ति चेदुत्तरपक्ष-	२६६	६	१६
अथ पवनकुमार-	३९	१	२
अथज्ञालकानवी-	६२	१	२
अप विश्वाम भगवां-	१३३	१	११
अप शुरवेन्द्रभूषा-	२४२	१	१
अथाऽरणेमन्यसमु-	९४	३१	५
अयोदियायादणरो-	७७	१	२
अयो हवित्रीमुपस्थ	९५	३३	१०
अहटत्वेऽपि कि	१६७	५९	३
अवीतपूर्वा यह एव-	८३	१३	५
अधोगतानि कष्ट-	७३	३२	११
अनन्यहृष्टं भावं ते	२४७	१६	११

पृ० श्ल० ५०

अनादिकर्माणि तदा-	२३०	३३	१२
अनादिमिष्याल-	२३०	३३	१
अनादितो गृन्मिलितं	२२९	३१	७
अनादिसंयोगवतो-	२७६	२७	९
अनिष्टसंयोग-भया-	२८२	३४	२२
अगुमानात् स्वसाधं	१७४	७२	१७
अनुमानादृहाणीव-	१६२	५२	२०
अनेकरूपनिःस्वनातु-	७२	२९	५१
अन्ययाऽनुपपत्त्येक-	२४८	१७	२
अपरम्परमहस्य चेतु-	६०	३८	२
अपेक्ष्य भावं परम-	२१५	१२	१८
अमापत जग्नायो-	२४२	३	३०
अमण्डयं ताण्डवं	७४	३६	२०
अमूर्तत्वे ह्यकर्तुत्वं	२५५	३३	१७
अर्थः कि या भवे-	१७६	७७	१८
अरूपिणि व्योमनि	२३१	३५	८
अवसरमुपभूज्य	५६	३२	१५
अविरलवलयाङ्की-	५१	२९	१
अविश्वदोऽपि मोहाते	१४१	१६	१६
अशरीर वसन्तं या	१५१	३१	१
अधोम्य यन्मध्य-	१०५	१५	७
असद्गतेजो न विद-	७६	६	११
असित्वमपि जीवस्य	१५१	३०	१
अस्ति स प्रकट एव	२०६	४६	४

पूर्ण श्लो० पं०

असु मे गमनमग्रतः १२४ १९ १२
 असु वा चेतना लिङ्गं १४४ २० ९
 अस्य विश्वपतिदर्श- १३२ ३८ १०
 अहंप्रलय एकोऽपि १५७ ४३ २
 अहमद्विक्याऽय ४९ १९ १७

आ

आखुहाव विभुरव्य- १९७ ३३ ११
 आभाष्य तं वीर- २६४ २ ३
 आदेन्धनोपाधिवशो २७६ २४ २१
 आः । एप मायी ११२ ३१ ७
 आकस्मिको व्योमनि ३८ १ १२
 आणिशबदगूर्जत्वे २५४ ३१ २१
 आगच्छ मो पण्डित । २२४ २७ १२
 आच्छादितो यद्यपि २५ २६ ९
 आतप्रभिव दण्ड- १३१ ३६ ६
 आत्मनो मोक्षकार्याय २५० २३ १६
 आत्मसाद्वयमाविश्रव् ११२ ३३ ९
 आदिमज्ञियताकारा १६४ ५५ ९
 आयातु यात्वेष ११४ ३६ १३
 आरभ्य सर्गांस ८९ २३ ४
 आषद्भुरय तो स ११९ ५ ६
 आदुलोकदपचापलं १२७ २६ ९

इ

इर्यं उद्योतिशोमयशं ९७ ३८ ११
 इर्यं तत्पलकुमुम- ३७ ४१ १६
 इर्यं तथाऽस्त्रास्थ्य- १०१ ७ ११
 इर्यं तीर्यपतिः २८५ ४० १७
 इर्यं नायाऽगमन- ६० ३९ १३
 इर्यं मनःसंशयमा- ३८४ ३८ १७

पूर्ण श्लो० पं०

इर्यं महोत्सवमयीव ७६ ४१ ७
 इर्यं यहृष्टे जनस्य १३२ ३९ २०
 इर्यं वदत्खेव तदा १०५ १६ १५
 इर्यं संशयघातकानि १७१ ८१ २०
 इर्यमात्मद्विदि संशय- १९६ २९ २२
 इर्यमात्मानुमिल्यापि १७१ ६६ १०

इति पवनकुमारदेव- ४२ ६ ८
 इति प्रथूय किन्नरा ६५ ३ ७
 इति शुब्ले व तदा १०९ २५ १५
 इति शुला युक्ती- २४१ ५१ ५
 इति सद्व्ययन्तं तं १५५ ४० १२
 इति सरभसमुद्यन्मा- ११६ ४१ १६
 इति हृदि कुविकला- २०६ ४७ १५
 इत्यात्मा देशतस्तेऽपि १६२ ५१ ५
 इत्यादियुक्तिप्रतिवन्ध- २६२ ५१ २१
 इत्यादियुक्तिभिः २५० २२ ८
 इत्युक्तवाक्येन गुरोः १०४ १४ २०
 इत्येवं विमृश्यत्यस्मिन् १४० १३ १
 इन्द्रजालकुमुकं लूपा- १३९ १० ६
 इन्द्रजालरचना विद- १२४ १८ ३
 इन्द्रभूतिमय सोदर- १८१ १ ३
 इन्द्रभूतीति मे नाम १३६ ७ १६
 इन्द्रभूते । लमा- १३४ ३ १
 इन्द्रियापि पराण्येवा २४६ १२ ११
 इर्मा ग्रामाद्यमुह- ७६ ५ १
 इह उनरपि गुण- ५६ ३१ ३

ई

ईश्वरः स्तुतो वस्तु १६६ ५७ १

पृ० श्ल० पं०
इश्वरो निर्गुणो यो वां १६५ ५६

उ

उणादिकोऽस्त्रम्भो २४५ ९ ५
उत्तराट्युत्तमोगाय २४८ १८ १०
उत्पत्तिमत्त्वाद्युतेभ्यो १७१ ६८ २१
उत्पत्तिमानोऽपि ययेह २८० २९ ९
उत्पादः संशयस्यापि १५८ ४६ १०
उद्धीवसुत्रेष्ठितचित्त- ९९ ३ १४
उपपत्तिर्विनाऽऽस्त्रमानं १५३ ३४ १
उपयोगो हि लिङ्गं १७५ ७५ १६
उपासृतान्त इतो ११० २६ ३
उपाददानो हविर्दृ- ९६ ३६ २०
उपांशु स्थितमेत- १५५ ३९ ४
उपेक्ष्य भज्ज्ञानाद्यान् २५४ २९ ६

ऋ

ऋतुस्तदान्यानपि ४ ३ २२

ए

एतदद्वृतमुदीक्ष्य १२८ ३० २१
एतदेव महेनकं यन् ११० ३ १२
एतेषु च व्योमचरेषु ११२ ३२ ११
एवं प्रमाणाविषयो १५३ ३५ ८
एवं पितृस्थेष्टुमेश- २७४ ३० ९
एवं संन्ययस्त्राग- १७० ६५ ४
एवमेव शुरा-दुःह- २०४ ४४ १६
एवं वेदपशानी यत् १७६ ७६ १६
एहि शरिवर। पाव- १८३ ७ ३

पृ० श्ल० पं०

क

कर्मसाधनमदोऽप्य- १८५ १२ ९
कर्मसिद्धिस्त्रिभूतेः २५७ ३८ १३
कर्म उत्त्वात् १५३ २४ १
किवा सर्वांसिसाक्षि- १३८ १० १३
कियाविदोऽस्त्रसद्ग- १० २५ १२
कीर्त्तिलाभफलमस्त्यय १९० २० ७
कुश्रापि धान्दहमजा- २७ २९ १६
कुरुत कुरुत रे रजो- ३९ २ २०
कुशासनस्याः कुश- १३ २६ ४
कुशनोद्दृमवलिङ्गं कि १४३ १९ २१
केरप्यमात्यांस्त्रिभिर्ह १०७ २१ २०
कोऽस्त्रसु पुरुषे- १८३ ५ १०
क्षणनद्वरतासुदि- १७४ ७१ १

ग

गगनसृतजलच्छदा- ४६ ११ ३
गजेन्द्रगल्या च तत्- ७७ २ २०
गन्धदरसुप्रभयोप- १३६ २१ १८
गञ्जत्वयं तावदुदात् ११४ ३७ २१
गीयेत येदे च शारी- २२१ २१ १०
गुणी प्रलय एव ११० ४७ १
गृहाग सीम्योत्तर- २२८ १० ६
गृहीतद्वयो उदलन- ३९ ३५ ९
गोपुरं च रथिर १२३ १७ ११
गौतमेष्टभिपानं मे १२६ ९ १४

घ

घनच्छद्यास्त्रोटनतो २६ ३८ ११

पृ० श्लो० पं०

च

चरत्सुपु च कुण्ठु ४८ १७ १२
 चतुर्दिशाखु चामरवली ६६ २० ७
 चन्द्रातपे भूर्च्छतचन्द्र- २८ ३० १४
 चित्रमेतदपर विलो- ११८ ४ २१
 चेत्पुण्य-पापकथयतसु २८१ ३३ १७
 चेत्तमावमवलम्ब्य २०५ ४५ १०
 चेदाग्रहः धारण- २२२ २३ ९
 चेद्विशिष्टपवनाऽनल- २०१ ४० २०

छ

छात्रैः समं पश्यशतैः २२० ११ १
 छायाभरेणोच्छ्रुतभृ- ३७ ४० १

ज

जानुदमङ्गुष्ठमोचय- १३४ २० ११
 जगहुरोर्वक्त्रसरोज- २८३ ३६ १३
 जगाद चैवं जगदी- १०७ ११ १
 जगाद जगतो नाथः २५१ २४ १
 जयाय धर्मचक्रिणः ६५ ११ ११
 जिनेन हेमपद्मयोः ७३ ३३ ११
 जीवस्यापि परीणमः २६१ ४८ ११
 जीवस्या निर्दृति- २७३ १८ ३
 ज्योतिष्कचक्रं विच- २३६ ४४ १२
 ज्ञाता एवः सं च परं २३१ १६ १८

त

तद्वद्वीरनिःस्त्रो ६२ २ १२
 तद्विष्ट्योऽमयायिह- २८८ ३ १२

पृ० श्लो० पं०

तद्विनामुद्वजामधि- १८६ १६ २०
 ततः पुण्यं च पापं २६१ ४९ २१
 ततः प्रभासाह्यपाठ- २७० १४ २०
 ततः संज्ञाऽपि न १७२ ६६ १
 ततः सदौवारिकदेव- १३ ३० १६
 ततः समं शिष्यशत- २८४ ३७ ६
 ततः सुघर्माऽपि २२४ २६ २
 ततः सुराणामिह १०४ १३ १
 ततोऽनुकूलमाहरेति ६६ १२ ११
 तत्र मूलमनुकूल्य १३१ ३७ १०
 तत्र वप्रवलये सम- १२५ २१ ६
 तत्त्वे जडलाद्विरी- २३७ ४५ ३
 तथाऽऽदिमध्या- २१८ १६ ३
 तथा शुतेषु विश्रुतान् ७५ ३७ ५
 तथा सामान्यतो १४६ ३४ ५
 तथा शुरा अन्तरका २२८ ४७ ११
 तथा हि निर्वाणदशे- २७७ २५ १४
 तथा हि वीणाकणनं १०८ २३ १६
 तथा ह्यकुम्भव्यतिरिं २१० ४ ३
 तथैव वामपार्श्वतः ७१ २७ २०
 तददु तत्त्वान्यायमान- ४३ १ ११
 तदा निनेदुर्दिवि तूर्ये- ८० ८ ११
 तदारवानुभानजावधि- ६१ ५ १३
 तदा रसातलाधिगा ६३ ४ ११
 तदुपरि कपिशीर्य- ५१ १३ १५
 तदुपरि विलसत् चिता- ४६ १८ ३
 तदुद्वहन्त ऐश्वर्यसनं ५५ १६ १७
 तदेन्द्रभूत्यादिगि- २७० १६ ११

पृ० श्ल० पं०

तद्वनेमेषुरिमाऽति- १२६ २३ ३
तनोः सहातस्यलात् १६८ ६२ १६
तमेव दध्या: प्रतिवा- २६७ ७ ३
तव प्रलयश्चिन्नाने २४७ १४ ४
तयाऽति इदिः ७२ २८ ६
तावदात्मनि सन्देह- १४२ १७ १०
तावदिदिलागममस्य ३ २ २३
दुच्छेन्द्रियशानयपि २८० ३० १६
तुरीयगतिरुच्येत २४३ ४ ४
तेनायमारमा प्रति- २६९ १२ २३
त्रिदिवसुरविकुर्वणात् ५२ २४ २१
त्रिमागहीनसशरीर- २८१ ३१ ४
त्रिलोकनायमन्दरै ७८ ३५ ११
तदप्रलयोऽपि तथा २४४ ७ ४
तमापृष्ठस्व वा मा १४१ १५ ४
तमूहसे नैरथिका २१४ ४१ २१
तरितमय पित्तावभू- ४५ १२ १५

द

दधिद्व दिषुपैः ५४ ३७ १०
दर्शनीयमिद नाति १२१ १२ २२
दस्यन्वयीत्ये शब्द ३४ ३७ १८
दिक्षयतुष्टकनिगमा- ११० १४ १३
दिव्युच्छलहुनुभिः- ३४ २५ १२
दिवः प्रशादमारद- ११ २२ २२
दीपो यथा निर्वृति- २७३ १० ३०
दीर्घालमपि दिलिः १११ ६ १५
द्वौरिगिराता या नवमा- १५ १४ १५

पृ० श्ल० पं०

दद्येत गन्धर्वपुरं १०१ ६ १
दद्यमेव रमणीपरि- १८५ १३ १९
दद्यहेतुकलने व्यभि- १८७ १८ १५
दद्यन्तभूतेऽपि तव २७६ ३३ १०
दद्यन्ते भूततां वीश्य १६६ ५८ ९
देवाधिदेवोऽन्यवद- २७१ १५ ६
दोयाः शब्दसमुद्र- २८८ ४ १६
द्वितरमप विकिया- ४० ३ १०
द्वारोपचारत्येतदपि २४६ १३ १७
द्विजाधयोऽप्राऽवधरे ८१ ६ ५

ध

धूमास्थ्योरपि सम्ब- १४५ २१ ३
धजोऽन्तरिक्षगोऽच- ६६ १३ १३
धस्ते तु धर्मे जगतो ११३ ३४ १८
ध्यानेजपेवा वहुभिः १०३ १२ २१

न

नगातुप ३० ३२ १
नटननिपुणसालभिः ४८ १६ १
नभासत्तं पुष्टस्त्वम्य- ११ ३ ४
नमो नमोऽसु ते प्रभो ६४ ७ १५
न लैटिकाऽलैटिक- ८६ १८ ३
नाव्ये यपेद्ये भरतो २३३ २५ १
नामवेत्ता च लोकाना० १३६ ५ ४
नारकेद्यप्रमेयाः स्तुर्ये २४६ २० १
नितिष्णनीना० परिरम्म-१२ १३ २०
निलाङ्नतरिक्षप्रसि- १०० ५ १२
निमत्रिता० यत्त चम्भ- १८ १७ ३
निर्जिल तं यावदु- ११६ ४० १२
निर्दीर्घं ही भाद्रम- १११ २८ १
निर्यमावदमरीति १०२ ६ १७

गौतमीयकाव्यस्य

६।

पृ० श्ल० पं०

निरन्तरधेतसुगोचया- १८ १८ २३
निरीक्ष्य तानाशुगति- १०६ १७ ३
निशम्य युक्तीरिति वीत२३३ ३८ ३
निशम्य युक्तीरिति वीर२१९ १७ १
नीलभ्रङ्गम्ब्याचित्- २२ २३ २१
नैकान्तदुःखमोक्षार- २४८ १९ १९
न्यघीयतास्यैव वराह- ७९ ७ १७
नमोऽस्त्वनन्तशक्ये ६४ ८ १७

४

पदार्थाक्षिकोत्पत्तौ २५६ २५ १३
पपाठ वेदान् यदधील ८६ १९ १६
प्रकटं वीक्ष्य ज्योति- २४३ ३ ३
प्रगदितमितिभूमिका ५४ २८ १९
परस्परविरोधिन्या- १४८ २६ १
पश्यन्तु भो भो प्रम- १२ ११ १
पानीयचन्द्रप्रतिविम्ब- २६५ ४ १८
पिता सु प्रथ पिता २३० ३४ १९
पुष्पपापद्वये सिद्धे २६२ ५० ७
पुष्पमेवाऽति दुःखं २५१ २५ १४
पुनरपि पुरोऽपि ५७ ३४ १४
पुरःसरोऽसी पदवा- ८४ १५ ७
पुरंस्थिता अपि दुमाः ७९ २५ ५
पुष्पधिया किञ्चुकपाद- १७ १६ १
पुरा निषीय लोचनैः ६४ ६ ५
पुष्पेः फलेवा पुणपत्स- ३५ ३८ १३
पुत्रल-पीत्रल-पितृल- २१७ १४ ६
पूर्णाद्वये येदाश्च- १३३ २ २१

पृ० श्ल० पं०

पृथक्षुधमन्येष्वरापला- ८२ १२ १६
प्रणीय जानुसंमिताँ ७१ ३८ ११
प्रतिप्रभुं सुराज्ञनाऽय- ७३ ३१ ३
प्रतिदिशमुपनीयते स ४७ १५ ९
प्रतीत मधि सावेश्यं १७९ ८० ३
प्रतीहि देवानपि २६७ ८ १५
प्रलक्षं मन्यसे यत्वं २४४ ८ १२
प्रलक्षं मानसमालं १६९ ४६ ३
प्रलक्षतः पश्य मनो- २३५ ४३ २१
प्रस्त्रिक्षीकृतमैथर्यं १३८ ९ ३
प्रस्त्रदेण प्रमाणेन १४२ १५ १०
प्रथमवरणतो घनुः- ५३ २५ १
प्रकुडसम्धान्रसमैविं- १०२ १० ५
प्रभो ! चिरं जीव १०९ २४ ६
प्रमाणहष्टान्तवितर्क- ८८ २१ ५
प्रलम्बजम्बूसहकार- २३ २४ १६
प्रलम्बमानमोक्षिका- ६८ १७ ५
प्रशाध्य सूत्रैर्धुवतो ९२ २८ १६
प्रस्थितोऽय वरशुर्व- ११७ १ १४
प्रहृतिमार्गभयिमूढ- २७५ ३१ १
प्रशस्तव्याख्ये दिन लद्म- ११ २७ ११
प्रकुम्भलेषु प्रसवेषु १३ ३४ १
प्राग् ये स्थिताः श्रीवेयु- ६ ५ ११

५

वद्वो हि जीवो विव- १२५ १८ २०
षद्विष्वतत्त्वेतनप्रदेहीः ५० २० १०
बोधिद्वचनिविमोहितं १२८ २८ ३

पृ० श्ल० पं०
प्रद्वा न विष्णुर्ज १११ ३० २१
प्रज्ञैकवादे परकम- २६९ ११ ११

म

भव्याम्भोद्द्वोधने २८६ ४१ ११
भानुभानुभिष्ठपेषित- १२३ १६ ६
भावे भावेपैव स्याज २४३ २१ १५
भो मौर्यपुत्राऽमर- २३४ ४० २
भौतिकेन्द्रियविभावि- २०२ ४१ ९
आतरं भम भहान्त- १८१ ३ २०
अगदूषदीयन्नजल- २० ३० ११

म

मणिमयतपनीयवप्र- ५६ ३१ ३
मणिमयवरणाऽप्रमाल- ५३ २६ २०
मधुकरफललीठगथ- ४६ १४ ११
मधुरमतिर्ता जगर्ज ४३ ८ ११
मनिदे क्षयन पव- २०३ ४३ ११
मन्मनोमलविशोपन- १५७ २३ ८
महस्यमुत्र केचन : ७५ ३९ १७
मा प्रहीद्विजवरेति ११० २१ १८
मायया क्षिति-जल- २०० ३८ १६
मायोपमतं यदवादि २४० ५० ९
मुघेपु लेक्षु छुतो ११३ ३३ ८
उहुः मुरोद्वयक्त्व्य- ९७ ३७ १०
मूर्त्त्वाद्व जडलाद्व १५८ ४६ २०
मृदग्न-वीणा-पणवा- १०२ ११ ३
मृदपि घनजलभियि- ४४ १० १२
मोक्षसु सञ्चुदपद- २७३ ३८ ११

पृ० श्ल० पं०

य
यं बृहस्पतिर्पि १८१ ३ १३
यः क्षिददर्यः स च २१० ५ १२
यच्च धित्सति पयः २०३ ४३ १७
यज्ञिनित्तं रूपमया- २१३ ८ १८
यज्ञेतना भौतिकदेह- २६४ ३ १८
यज्ञपाटकमतीत्य सुर्य १८२ ४ ४
यदं यरणेनाऽनुगुणं २२१ २२ १८
यत्तवाऽप्रकटमति १८४ ११ १४
यच्चिर्गुणो नैव २३२ ३७ ७
यस्तुशयच्छिवयदे- २१९ १८ १३
यत्सुराहसमवाय- १९७ ३४ २१
यत्सीगतानामिति २७३ १६ १७
यथाऽऽरमपरिणाम- २५८ ४९ २०
यथा रसो व्यापिष्ट- ३१ ३३ ३
यथा स्थानान्तरप्राप्ति १४६ २३ ३
यथाहि मुदाऽङ्गद- २७१ २२ १७
यदासि देहेन्द्रियजं २८२ ३३ ७
यदहं संशयच्छेदी १४० १४ ११
यदि नाशुशमेव १६१ ५० १७
यद्वच्याऽऽक्षिपतिषेः ८७ २० ८
यद्यदाहमगुणघमेवि-
. मेदे थाद्व- १९४ २६ ११
यद्यदाहमगुणघमेवि-
. मेदे भिन्न- १९५ २७ १

गौतमीयकाव्यस्य

८

	पूर्व श्लो० पं०		पूर्व श्लो० पं०
यन्मन्यस्ते ब्रह्महुतः	२६८ ९ ५	वादाय नैव प्रभ-	११६ ३९ १
यामो हि सावद्य-	२७१ १६ ८	वायुभूतिरय तल्लु-	११६ ३० ९
या च काचन सचेत-	१८८ १८ २०	वायु-ब्रह्मिकले मृत-	२०१ ३९ १०
या च शक्तिरसती	१९९ ३६ ५	विष्णुप्रियमपि	२५९ ४२ ७
यावद्विकल्पः सन्देहो	१५४ ३८ १७	विचित्ररक्षमण्डितं ततो	६७ १४ ४
ये मुन्दरीणां मुख-	१० १० २१	विज्ञम्भमाणमालती-	६८ १८ ७
ये विवेकविकला	१२५ १२ १५	विज्ञानुमिच्छन्ति	१०७ २० २१
यो गमीरजलवाह-	१२२ १४ १३	विज्ञानधन चत्पद्य	१४८ २८ १८
योग्यतापरिणतं खल	१९५ २८ ८	विज्ञानधन एवेति	१४८ २७ १६
र			
रक्षपीड्यमय मध्य-	१३० ३५ २२	विज्ञानमय एवं हि	१५५ ४२ २२
रक्षवप्रमणीय-	१३० ३२ १	विज्ञानमुपयोगोऽत्र	१७१ ६७ १५
रतिर्गतावेव सहा-	२३८ ४६ १	विद्याचारवरे गणे	२८८ २ ८
रम्योऽयमुत्सेदित-	१०१ ८ २१	विद्यावतानेप न दृ-	११४ ३५ ४
रविग्रभानुवारिणा	७१ २६ १३	विनाइपि धार्ल यदहो	३३ ३५ ३
रवीन्दुतारामद-	८५ १७ १४	विद्वाजमानाऽप्रघटेव	३६ ३९ ८
रथं निरीयाञ्जनमधरीणा	४ ३ १२	विमलजलमृताः मुखा-	५७ ३५ १८
रणाख्लोकेरितहटिपात	७ ६ ११	विहाय वसुनोऽस्तिसं	११९ ६३ ७
राजती वरणमिति-	१२१ ११ १४	विद्वल भूमी प्रति-	२८५ ११ ५
राघ्यर्द्धमाणादिरघार्द-	१६ १६ १७	श्याऽपवाऽनेन विम-	१०८ २३ ९
र			
स्वेच्छातिपिमवाप्य	१२० ९ ९	वेति यः परमनो-	१०३ ९ १७
य			
वप्रगोपुरपुरस्थतीर्णं	१२० ८ ७	वेदान्तिमतमाधिल्य	१७५ ४४ ५
वप्रप्रयान्तर्मीमि-	११० ३७ १६	वेदवे मुहमयाप्य-	११३ २५ २०
वर्णभूषामनिमन्या-	१११ १२ ११	वेदर्थमास्थाय तदेन्द्र-	१०६ १८ १३
वस्त्राथयो न मुष्टे हि	१७७ ४८ १	व्यष्टमिपानेऽप	२०७ १ १५
वशोऽल्पप्रददद्यत्तमेः	९ ८ १	व्यष्टोतरं तप्त यूद्धाण	११३ ७ २
		विशयुत्तरमानदाः	२५८ ३९ १
		श	
		शास्त्रं पदमपि शार्य	११७ ८ १०

पृ० श्लो० प०

शक्तिरन्वयवर्ण गदि- २०० ३७ ४
शतयुगधनुण्यता ४६ १३ ६
शब्दे गुणे तु प्रत्यक्षे १६० ४८ १३
शम्भुरोडपि घृण- १२६ २४ १०
शम्भुकोणविनिविष्ट- १२६ ३१ ५
शारिशानाथकरोत्क- ८१ १० १६
शरीर एव चेदेषः १५७ ४४ ४
शश्वत् सुरूपे किल १४ १३ १८
शान्दिकैरक्षिशच्छेन २४५ १० १४
शून्यतामेव मन्वानाः १५० २९ ३
शून्यतैव परं तत्त्वं १७४ ७३ ११
इयामलच्छविविभा- ११८ २ ५
इयेन-गृह्ण-शकुनि- १२८ २९ १२
श्रीराविरासीदिव दिव्य- २ १ ४
श्रीवीरपादाम्बुज- २६३ १ १४
शुरेषु यत् स्थितमा- ८३ १४ २०
श्रुत्वेति भगवद्वाचो १५३ ३६ २०
श्रुत्वेति वाचं चरण- १११ २९ ११
शृणोषि शाष्ट्रेषु शरी- २६६ ५ ८
श्रीलालिना विदिष्टदे- ११५ ३८ ११

स

संवच्छैलवियद्वजो- २८८ १ ४
संस्तुतोडपि चिर १२५ ४ ६७
सकलमपि निमेयमात्र- ५६ ३७ ११
सत्कायाकरणमत्ति १११ २३ ६
सदर्प्यमहन्ति सदाह- २६ २७ ३
सदक्षता कारण- २२० २० ११

पृ० श्लो० प०

गौदैक एवोदयमेति १०० ४ १
सदस्तुनि स्यादथ २१५ ११ ४
स धर्मेशास्त्राध्ययनं ८८ २२ १६
शन्ति वदपि २४३ ६ २१
सन्दंशवदुपादानम- १६७ ६१ २२
सन्दिरघं यज्ञ तत्त्व- १६९ ६४ १७
सन्दिरघोडप्योऽप्र- १५४ ३७ ८
सपदि तदतुगाः प्रभू- ४१ ५ १८
सपादपीठमम्बरे सुरो- ६४ १५ ६
स प्रविश्य वरतोर- १३० ३३ ६
स प्रविश्य विशिष्टां १२२ १३ ५
सम्बन्धमासाद कम- २१७ १४ ६
सम्भवः सुखदुःखानां २५६ ३६ २१
समस्तसौरुद्यं तु जग- २८३ ३५ ९
समाजगाम स्वपरि- २०८ २ ३
समानभावा यशसा च ५१ ३६ १
समालिलिहुर्गुरुभारनश्च २१ २२ २२
समुदितवरणत्रयं तदा- ५५ २९ ७
सर्व विवक्षयाऽसर्व- १७७ ७९ ३
सर्वज्ञताप्रतीतिर्वा न १३९ ११ ५
सर्वैवित्समधिगम्य १८४ १० १
स पा भूर्गोऽस्त्वमूर्तो २५४ ३० १२
सहस्रसह्यकेररेविनि- ६५ १० १७
सा क्रिया फलतु १११ २२ ५
सातकमोदयादशु २५८ ४० १४
साधनेविह समेषु १८७ १५ ५
साऽन्नादिवन्द्यच्युति- २७८ २६ १५

पृ० श्ल० पं०	पृ० श्ल० पं०
सामान्यतोऽपरथापि १४६ २२ १	मुक्तिरथसान्दाणि हरि- ८ ७ ५
साम्यवास्तवबोधे तु २६१ ४७ ५	मुखादुरूपैर्वदरूलन्त्यो ३३ ३६ २१
सारगेयशृपदंशकं १२६ २५ २२	गृहमततो वसुनि २१२ ६ १
सार्वश्वभाकर्ण जिने- २३३ ३९ १४	सजुप्रसूताविव मोद- १० ९ ३
सिहृष्टिमुपधाय १२७ २७ १८	सेषन्तिकार्ना भमुपान- १६ १५ १४
सिततनुजलमृद्गुर्वणा- ४२ ७ २२	सोऽथ मोक्षमिव १२० ७ १
सितातपत्रप्रितयाधरे ७८ ४ ११	सात् सादिवन्धे सति २२६ २९ १०
सिता अपि हुमा ७० २४ १६	सादागमोऽप्यहर्षार्थ- १४७ २५ १२
स्थूलं च सूक्ष्मं लघु २३१ ४८ ७	सुर्यज्ञकर्माणि सुरा- २३५ ४२ ७
सुहृत्पुम्पवार्दलाशम ७० २३ ७	लग्नेन्द्रजाले अपि २१४ १० ६
शुखदुःखे खस्त्वेष्टे १५५ ४९ ३०	खप्रोपमं वै जगदिन्द २०८ ३ १५
सुखस्य द्वैतवो मूर्त्ताः २५९ ४३ ११	खमावशन्दयाच्यो- २५६ ३४ ७
सुखितदुःखितमुखा २६८ १० २०	स्त्रभावो वलुपमेष्व- २५१ ३२ ९
सुगन्धिनीरसस्तुता ७२ ३० १७	स्त्रियनोदिताः परेऽपरे ७५ ४० ११
सुजातजात्यक्तिरः १०३ ९ १	सर्वाकामुक्तजनस्तु १९७ ३४ २१
सुरजस्त्रीतकपिल- ८५ १६ १	स्त्राज्यदेशानिव राजवर्या५ ४ १४
सुरदण्डमण्डतं विद्वा- ६० ११ १	८
सुरपतिपनुयो तु गील ५५ २० १०	हसने रोइनैग्नेमैनैमैनो १६३ ५५ १७
सुलक्षणं सर्वमपि ८३ ११ ५	हिरम्परेता वद्विषेऽनिष्टे- १४ १३ २१
सुवर्णरदवश्वो जिनालये ५४ ३४ ७	हसत्त-रीपंत-समत- २१६ १३ २१
सुवर्णादिगुणं सम्य- २६० ४५ १०	

समाप्तेयं गौतमीयकाव्यस्य अठोकसूची ।

इति थेर्षा देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे प्रस्तु २१ १०